॥ श्रीः ॥
काशी आयुर्वेद ग्रन्थमाला
91

योग और आयुर्वेद

आचार्य राजकुमार जैन

चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक
दिल्ली -110 007 (भारत)

KAS
91
योग और आयुर्वेद
आचार्य राजकुमार जैन

आयुर्वेद में जहाँ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्वों का समावेश प्रचुर रूप से किया गया है। वहां योग शास्त्र एवं योग दर्शन के बीज भी प्रचुरता से मिलते हैं। योग के सम्बन्ध में आयुर्वेद के आचार्यों का चिन्तन योग दर्शन एवं योगशास्त्र में प्रतिपादित विषय वस्तु से भिन्न तो नहीं है, किन्तु मौलिक चिन्तन एवं विषय प्रतिपादन में किंचित् भिन्नता अवश्य है। यह बात इसी से स्पष्ट है कि योग शास्त्र एवं योग दर्शन की भांति आयुर्वेद में अष्टांग योग का कथन तद्वत् रूप से नहीं किया गया है।

फिर भी योग और आयुर्वेद दोनों परस्पर सम्बन्धित शास्त्र हैं। क्योंकि स्वास्थ सम्बन्धी अनेक विषयों के सम्बन्ध में दोनों शास्त्रों प्रतिपादित सिद्धान्तों में इतनी साम्यता है कि अनेक बार दोनों शास्त्रों में अभिन्नता की प्रतीति होने लगती है। मौलिक रूप से दोनों ही शास्त्र शरीरिक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि और रोगनाश का दिशा निर्देश करते हैं। रोग निवारण हेतु उपाय, उपचार एवं चिकित्सा मनुष्य को निरोग एवं स्वस्थ रखने की ऐसी प्रक्रिया है जिससे शारीरिक क्षमताओं की परिपूर्णता में वृद्धि होती है।

आयुर्वेद का प्रतिपादन करने वाले अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं। योग विद्या एवं योग दर्शन का विवेचन करने वाले भी अनेक ग्रंथ मौजूद हैं। किन्तु दोनों का समन्वयात्मक विवेचन करने वाला कोई ग्रंथ नहीं होने से लोगों को इस विषय का अध्ययन करने में कठिनाई हो रही थी। इसी दृष्टिकोण को अन्तःकरण में रखकर इस पुस्तक को लिखने का प्रयास किया गया है। इन दोनों विषयों के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप जो नवनीत उद्घाटित हुआ है वह इस पुस्तक में निबद्ध किया गया है।

इस विषय पर कोई अधिकारिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं होने के कारण योग और आयुर्वेद जैसे विषयों के समन्वय मूलक ग्रंथ की आवश्यकता अपरिहार्य प्रतीत हुई। अतः यह ग्रंथ इस विषय में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है।

॥ श्रीः ॥

काशी आयुर्वेद ग्रन्थमाला

९१

योग और आयुर्वेद

लेखक

आचार्य राजकुमार जैन

एम.ए. (हिन्दी-संस्कृत), एच.पी.ए.

दर्शनायुर्वेदाचार्य, साहित्यायुर्वेद शास्त्री

प्राक्कथन

पद्मभूषण वैद्यरत्न पं. शिव शर्मा

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्य-विद्या, आयुर्वेद एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक

दिल्ली - 110 007 (भारत)

समर्पण

जिनके हृदय में अमित स्नेह, आसीम वात्सल्य और
अपरिमित करुणा का स्रोत प्रस्फुटित है, जिनके
आंचल की शीतल छाया में मैं अलौकिक
सुख और शांति का अनुभव करता
हूं, जिनके आशीर्वाद और
सतत प्रेरणा से

मैं अपने
कृतित्व को साकार रूप देने
में समर्थ हुआ हूं, ममता की उस
साकार मूर्ति मातृ के चरण युगल में इस
सुरभित कुसम को समर्पित करते हुए मैं परम
सौभाग्य, सन्तोष एव सुख का अनुभव कर रहा हूं।

समीक्षा

भारतीय संस्कृति में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके सिद्धान्त इतने व्यापक और व्यवहारिक हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग को उन्होंने व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इसी का सम्भवतः यह परिणाम है कि आयुर्वेद भी उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि योग और आयुर्वेद के कतिपय सिद्धान्तों में इतनी समानता है कि कई बार दोनों के एकत्व का भ्रम उत्पन्न हो जाता है। दूसरी ओर योग भी कतिपय आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका है। योग शास्त्र में अनेक स्थलों पर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण देखने को मिलते हैं। मैं लेखक के इस कथन से सर्वथा सहमत हूं कि योग का स्वास्थ्य से निकटतम सम्बन्ध है तथा स्वास्थ्य आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, इस दृष्टि से योग और आयुर्वेद परस्पर सम्बन्धित शास्त्र हैं। ये दोनों शास्त्र हमारी सांस्कृतिक धरोहर और राष्ट्रीय विरासत हैं।

यह एक सर्व मान्य एवं निर्विवाद तथ्य है कि विगत काल में जहाँ आयुर्वेद अन्यान्य ग्रंथों का प्रणयन मौलिक रूप से हुआ है वहाँ योग के भी अनेक ग्रंथ प्रकाश में आए हैं। दोनों ही क्षेत्रों में विकास एवं अनुसंधान की विचारधारा को भी पर्याप्त बल मिला है। तथापि आयुर्वेदीय दृष्टि से योग का अध्ययन एवं योग शास्त्र की दृष्टि से आयुर्वेद का अध्ययन सर्वथा उपेक्षणीय रहा है। यह वस्तुतः एक चिन्तनीय स्थिति है। इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय और इस दिशा में प्राप्त नवीनतम उपलब्धियों को जन समान्य के हितार्थ प्रकाशित किया जाय। वर्तमान में दोनों शास्त्रों की अनुपूरकता, समन्वय, उपयोगिता एवं दृष्टि-कोण साम्यता निःसन्देह नितान्त आवश्यक है, जिसके लिए पर्याप्त श्रम किया जाना अपेक्षित है।

इस दिशा में आचार्य राजकुमार जैन के अभिनव प्रयास के रूप में उनकी नवीनतम कृति "योग और आयुर्वेद" प्रकाश में आई है। इस उपयोगी कृति के लिए उनका प्रयास निःसन्देह श्लाघनीय है। ग्रंथ का आद्योपान्त अवलोकन करने के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि आचार्य जैन के इस ग्रंथ से आयुर्वेदीय एवं योग सम्बन्धी साहित्य भण्डार के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होगी। दोनों विषयों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले अनुसन्धित्सु छात्रों, विद्वानों तथा अन्य सामान्य-जन के लिए निश्चय ही यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा— ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आशा है इस ग्रंथ के द्वारा अन्य विद्वानों को भी इस दिशा में कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होगी।

—कविराज आशुतोष मजूमदार

FOREWORD

Yoga and Ayurveda are allied subjects. Both deal with Here and Hereafter with relation to human body, mind and soul. A superficial observer will see in Ayurveda merely an emphasis on body culture and in Yoga an emphasis on Mind and soul-culture. But a closer and more earnest scrutiny will reveal the identical nature of the final goals of the two systems.

Fundamentally, both the Ayurvedic and the Yogic approaches are prophylactic and promotive in nature. The cure of the disease is merely a device to restore a person to the state of normal health which is the basic ground for a take-off towards higher states begining with supreme physical efficiency and ending in supreme spiritual bliss.

By including birth and death in the list of diseases and by prescribing annihilation of entire Karma as the means to end the cycle of birth and death, Ayurveda identifies itself completely with the doctrine of Yoga, even as the latter identifies itself with ayurveda by setting very high standards of psycho-somatic efficieny and providing ways and means for attaining them.

An Ayurvedic scholar, therefore, is the best qualified, outside the domain of professional Yogis, to write effectively and gainfully on a theme, in which Ayurveda and Yoga overlap each other, coalesce and become one.

Acharya Raj Kumar Jain is well qualified (and also well placed) to make a good job of dealing with the two ancient Indian sister sciences. His effort has resulted in a commendable treatise which will make an interesting and profitable reading for those interested in these systems.

SHIV SHARMA

प्राक्कथन

(पं० शिवशर्मा द्वारा अंग्रेजी में लिखित प्राक्कथन का हिन्दी रूपान्तर)

योग और आयुर्वेद परस्पर सम्बन्धित शास्त्र हैं। मानव शरीर, मन और आत्मा की स्थिति और क्रियाकलापों की विवेचना दोनों शास्त्रों का विषय है। मोटे तौर पर यह माना जाता है कि आयुर्वेद में शारीरिक अध्ययन और योग में मन एवं आत्मा का विश्लेषण विशेष रूप से किया गया है, परन्तु दोनों शास्त्रों के गंभीर अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि इनके अन्तिम लक्ष्य समान हैं।

मौलिक रूप से दोनों ही शारीरिक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि और रोगनाश का दिशा निर्देश करते हैं। रोग निवारण और चिकित्सा के उपाय मानव को निरन्तर अच्छे स्वास्थ्य में रखने की प्रक्रिया है जिससे शारीरिक क्षमताओं से परिपूर्ण रहकर वह निरन्तर आध्यात्मिक परिपूर्णता के लक्ष्यों तक पहुंचने में अग्रसर होता रहे।

जन्म और मृत्यु ये दोनों ही आयुर्वेद में वर्णित रोग सूची में सम्मिलित हैं और जन्म-मरण के रोगों से मुक्ति का उपाय सम्पूर्ण कर्मों का विनाश बताकर आयुर्वेद ने योग से पूर्ण एकत्व स्थापित किया है। इसी प्रकार योग भी उत्तम मनो शारीरिक स्वास्थ्य की आवश्यकता और इसे प्राप्त करने के उपायों का वर्णन कर आयुर्वेद के साथ अपना सादृश्य स्थापित करता है।

आयुर्वेद और योग का परस्पर सादृश्य, प्रभाव और अन्ततः एकत्व जैसे विषय पर प्रभावशाली और प्रमाणिक रूप से लिखने के लिए निश्चय ही किसी व्यावसायिक योगी की अपेक्षा कोई आयुर्वेद का विद्वान् अधिक योग्य और सफल हो सकता है।

आयुर्वेद और योग जैसे प्राचीन भारतीय विज्ञानों जो परस्पर बहनें है, पर प्रामाणिक रूप से लिखने के लिए आचार्य राजकुमार जैन एक सक्षम व्यक्ति हैं। पुस्तकाकार में उपलब्ध उनका यह प्रयास इन पद्धतियों में अभिरुचि रखने वालों के लिए माननीय और लाभदायक सिद्ध होगा।

आत्म-कथ्य

भारतीय संस्कृति की गरिमा, व्यापकता, विशालता और महत्ता सुविदित है। दार्शनिक चिन्तन पद्धति और आध्यात्मिक प्रवृत्ति-ये दो अजस्र धाराएं अनादि काल से भारतीय संस्कृति को आप्यायित और संवर्धित करती आ रही हैं। इन दोनों समानान्तर धाराओं के कारण भारतीय जनजीवन में जो धार्मिक चेतना प्रस्फुटित हुई और उसके द्वारा जिन संस्कारों का अविर्भाव जन मानस में हुआ उससे भारतीय संस्कृति काल-कालान्तर तक अक्षुण्ण बन गई है। उसका स्वरूप इतना व्यापक हो गया है कि अपने प्रभाव से उसने अन्य संस्कृतियों को भी पराभूत कर दिया है। उसका मूल इतनी गहराई तक पहुंचा हुआ है कि अनेक वैदेशिक आघातों के बावजूद उसके अपने मूल स्वरूप में कोई विकृति नहीं आई, अपितु वैदेशिक संस्कृतियों को आत्मसात कर उसने अपनी विशालता और उदारता का परिचय दिया है।

योगदर्शन अथवा योगशास्त्र भारतीय संस्कृति के सुदृढ़ आधार स्तम्भों में से ही एक है। योग के द्वारा जहां भारतीय संस्कृति के दार्शनिक पक्ष की पुष्टि हुई है और उसकी चिन्तन धारा में परिपक्वता आई है वहीं उसके द्वारा लोगों में आध्यात्मिक प्रवृत्ति का भी पर्याप्त विकास हुआ है। योगदर्शन ने लोगों को वस्तुतः इसलिए प्रभावित किया कि उसने उन्हें निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति की प्रेरणा दी। निवृत्ति को साध्य या लक्ष्य मानकर प्रवृत्ति की प्रेरणा या निर्देश देना योगशास्त्र की मौलिक वशेषता है। यही कारण है कि योगाचार्यों या योग के आदि प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के केवल सैद्धान्तिक पक्ष का ही विवेचन नहीं किया, अपितु उसके व्यवहारिक पक्ष को अधिक महत्व दिया। यही कारण है कि मनुष्य को योग में सफलता या सिद्धि केवल तब ही मिल सकती है जब वह योग के सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप देकर उन्हें जीवन में उतार कर आत्मसात करे। इसके लिए किसी को गृह त्याग करना आवश्यक नहीं है। अतः योगशास्त्र के अनुसार एक गृहस्थ भी योगी बन सकता है और निवृत्ति की ओर अग्रसर हो सकता है।

आयुर्वेद मात्र चिकित्सा शास्त्र न होकर एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। वह पूर्णतः भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता से अनुप्राणित है। समकालीलन होने के कारण जहां अन्य दर्शनों ने आयुर्वेद को प्रभावित किया है वहां योगदर्शन का भी पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पड़ा है, जिसकी पुष्टि चरक संहिता में प्राप्त अनेक उद्धरणों से होती है। महर्षि चरक ने जिस सूक्ष्मता से योग और उससे सम्बन्धित विषयों का सारगर्भित विवेचन किया है उससे योग के द्वारा आयुर्वेद का

प्रभावित होना सहज ही ज्ञात होता है। इसका समुचित विवेचन पाठकगण इसी ग्रंथ में सम्बन्धित प्रकरण में देखेंगे। योग और स्वास्थ्य का निकट एवं अपरिहार्य सम्बन्ध होने के कारण तथा स्वास्थ्य आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य होने के कारण योग और आयुर्वेद का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इसका भी इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

यद्यावधि योग शास्त्र के विद्वानों एवं योगाचार्यों ने योग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर जहाँ गम्भीर अध्ययन, चिन्तन और मनन किया है तथा उसके परिणाम स्वरूप अन्यान्य ग्रंथों का प्रणयन किया है वहां ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने योग और आयुर्वेद के पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी उपयोगिता पर गम्भीरता पूर्वक पर्याप्त विचार नहीं किया है। कदाचित् प्रसंगवश इस विषय पर विचार किया भी गया हो, किन्तु अभी तक तद्विषयक कोई प्रामाणिक ग्रंथ मेरी दृष्टि में नहीं आया है। यही स्थिति आयुर्वेद के विद्वानों की भी है। आयुर्वेद के विद्वानों द्वारा योग और आयुर्वेद विषय पर लिखे गए एक दो अति संक्षिप्त लेख यदा कदा पिछले दिनों आयुर्वेद की पत्रिकाओं में देखने को अवश्य मिले, किन्तु विषय की गम्भीरता एवं विशदता को देखते हुए उन्हें पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

पिछले कुछ समय से विद्वानों, चिन्तकों, विचारकों, वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों का ध्यान योग की ओर आकृष्ट हुआ है। शासनतंत्र भी इस ओर सक्रिय हुआ प्रतीत होता है। अतः शिक्षा में योग को पर्याप्त स्थान दिये जाने हेतु लगातार प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि आधुनिक घुटन भरे, तनाव पूर्ण, कुण्ठा युक्त वातावरण में जहाँ मनुष्य शांति की तीव्र अभिलाषा के साथ जीवन की सार्थकता हेतु प्रयत्न शील है वहाँ उसे केवल योग के द्वारा ही कुछ राहत का अनुभव हुआ है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य को जितनी तीव्रता से भौतिकवाद और विलासिता की ओर अग्रसर किया है उससे सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य को अनेक विषमताओं, समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है जिसके कारण भीषण रूप से वह मानसिक अशान्ति का शिकार बना हुआ है। इसके अतिरिक्त कृत्रिमता और आडम्बर पूर्ण जीवन यापन के कारण आज विश्व में अनेक प्राणघातक रोगों का प्रादुर्भाव हो गया है जिसका मानसिक अशांति से निकटतम सम्बन्ध है। इसके निराकरण और पुनः मानसिक शान्ति स्थापन के लिए योग को अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण पाया गया है। इसलिए वैज्ञानिक और चिकित्सक गण योग की ओर अधिक आकृष्ट हुए हैं, ताकि अन्यान्य मानसिक व्याधियों, हृदय रोग जैसे प्राणघातक भीषण रोगों तथा अन्य विकारों के उपचार के लिए योग एवं यौगिक क्रियाओं का वैज्ञानिक रीति से प्रयोग कर समुचित लाभ उठाया जा सके।

यह एक आश्चर्य जनक तथ्य है कि केवल आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने ही योग्य सम्बन्धी क्रियाओं को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उपनिषद, महाभारत-जिसमें भगवद्गीता भी शामिल है—जैनधर्म एवं बौद्ध धर्म सभी ने न्यूनाधिक रूप से योग सम्बन्धी सिद्धान्तों-क्रियाओं को स्वीकार किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि तपस्या एव गहन चिन्तन विषयक जो विचार उस समय अस्पष्ट और अनिश्चित रूप में विद्यमान थे उन सब का निचोड़ पतञ्जलि के योग में पाया जाता है। योग शास्त्र में आत्म-नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया गया है। योग हमें शरीर को वश में करने के लिए कहता है, मारने के लिए नहीं। इन्द्रिय भोग से दूर रहना और शरीर को कष्ट देना—ये दोनों सर्वथा भिन्न बातें है, दोनों एक समान नहीं हैं। किन्तु कहीं कहीं इन्हें परस्पर मिला दिया गया है। योग शास्त्र ने मुख्यतः इन्द्रिय भोग से दूर रहने का निर्देश दिया है। योग का कहना है कि शरीर की पूर्णता सौन्दर्य, शोभा, शारीरिक बल और दुर्भेद्य कठोरता में है। जहाँ योग एक ओर सांख्य सम्मत भेदज्ञान द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को अंगीकार कर लेता है वहाँ इसका मुख्य बल मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधनों अर्थात् मानसिक वृत्तियों-व्यापारों के दमन पर अधिक है। वस्तुतः मानसिक क्रियाओं के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान नहीं मान लेना चाहिये। योग स्वयं एक प्रक्रिया है जो एकाग्रता की द्योतक है। अतः योग अथवा एकाग्रता के द्वारा हम मन के विविध संकल्प-विकल्प रूप कृत्रिम स्तरों को हटाते हुए आत्मा के निर्मल स्वरूप तक पहुंच जाते हैं जिसमें योग की चरम परिणति सन्निहित रहती है।

वर्तमान में आधुनिक एवं कृत्रिमतापूर्ण भौतिकवादी जीवन के कारण जिस तीव्रता पूर्वक योग की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है उसे दृष्टिगत रखते हुए योगी और आयुर्वेद' जैसे गम्भीर विषय पर पर्याप्त चिन्तन अपरिहार्य हो गया है। मैं कोई बहुत बड़ा योगी अथवा योग शास्त्र का ज्ञाता नहीं हूं, आयुर्वेद का अल्पज्ञ अवश्य हूं। तथापि इस विषय का थोड़ा बहुत अध्ययन करने के उपरान्त मैं जो कुछ समझ पाया हूं उसे अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार इस लघु पुस्तक में निबद्ध करने का प्रयास किया है जो विद्वज्जनों के समक्ष एक प्रकार की धृष्टता ही है। अतः इस धृष्टता के लिए मैं विद्वज्जनों से क्षमा प्रार्थी हूं। आशा है अल्पज्ञ होने के नाते मुझे क्षमा करेंगे।

इस ग्रंथ में मेरा अपना कुछ नहीं है। योग शास्त्र के विद्वानों, आचार्यों और मनीषियों तथा आयुर्वेद के महर्षियों एवं आचार्यों के विचारों को ही मूलतः इस ग्रंथ में निबद्ध करने और दोनों दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने का क्षुद्र प्रयास मैंने किया है।

मेरा यह तुच्छ प्रयास पूर्णतः सफल एवं सार्थक होगा—यह दावा मैं नहीं कर सकता। किन्तु इतना अवश्य है कि इन दोनों विषयों से अनभिज्ञ जिज्ञासु लोगों को यह ग्रंथ किसी न किसी अंश में अवश्य लाभान्वित करेगा-यह विश्वास है।

विज्ञ पाठक एवं सुधीजनों से इस ग्रंथ में रह गई त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने हेतु विशेष अनुरोध है, ताकि यथासमय उनका परिमार्जन किया जा सके ।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना में मैंने जिन विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली है उनका मैं हृदय से आभारी हूं । इसके अतिरिक्त मेरे शुभ चिन्तकों द्वारा मेरी इस पुस्तक की रचना के लिए जो आशीर्वाद प्राप्त हुआ है उसी का परिणाम है कि यह पुस्तक आज पाठकों के कर कमलों में पहुंच सकी है । इस कार्य में मेरे सहयोगियों के द्वारा जो हार्दिक सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं सदैव उनका हृदय से आभारी रहूंगा । मैं अपने अनन्य मित्र बन्धुवर पं० रत्नेन्द्र कुमार जी जैन शास्त्री का विशेष आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तक के मुद्रण एवं प्रूफ रीडिंग में मुझे अपना अनवरत सहयोग दिया है ।

अन्त में उन सभी सज्जनों का आभार मानता हूं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया है ।

महावीर जयन्ती
चैत्र कृष्णा त्रयोदशी, सं० २०३४

विनयावनत,
राजकुमार जैन

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

प्रस्तुत पुस्तक का द्वितीय संकरण आपके हाथ में है । कतिपय अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण एक दीर्घ अन्तराल तक इस पुस्तक का प्रकाशन नहीं हो पाया, जिसका हार्दिक खेद है । इस बीच इस पुस्तक की मांग को देखते हुए इसकी लोकप्रियता एवं आवश्यकता का अनुमान सहज हो जाता है । प्रसन्नता है कि प्रस्तुत द्वितीय संस्करण आपके हाथ में पहुंच रहा है ।

सहयोगी विज्ञजनों एवं पाठकों ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव इस सम्बन्ध में प्रेषित किए थे । तदनुसार इसमें संशोधन एव परिवर्धन किया गया है । आशा है पाठक गण एवं विज्ञजन संतुष्ट होंगे ।

इस पुस्तक को व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने हेतु श्री धन्वन्तरि शासकीय आयुर्वेद महा विद्यालय, उज्जैन में स्वस्थवृत्त विषय के व्याख्याता डा० राकेश प्रकाश निगम ने प्रस्तुत संस्करण के लिए योगासनों का चित्रांकन करने तथा मैटर को सुनियोजित एवं व्यवस्थित करने में अपना विशेष सहयोग दिया है उसके लिए वे मेरे साधुवाद के पात्र हैं ।

पाठकों के लिए यदि यह किञ्चिन्मात्र भी उपयोगी प्रतीत हुआ तो मैं अपना यह प्रयास सफल समझूंगा ।

—:०:—

विषयानुक्रम

योग और आयुर्वेद

मंगलाचरण

दीर्घायुष्यं विधत्ते सुखमपि परमं यो जनानामजस्रं
रोगाणां जालपाशं सपदि मननतः साग्रहं यश्छिनत्ति ।
ध्वस्ताधिव्याधिवर्गं विहतमलचयं सर्ववंद्यं नमस्त—
मात्रेयं वाऽग्निवेशं चरकमुनिवरं देवधन्वन्तरिं वा ॥

—जो मनुष्य के दीर्घायुष्य को करता है, जो लोगों को सतत रूप से परम सुख प्रदान करता है, एक बार मनन करने मात्र से जो रोगों के जाल रूपी पाश को आग्रह पूर्वक काट देता है, जिसने समस्त आधि-व्याधि वर्ग को नष्ट कर दिया है, दोष समूह को नष्ट करने वाले, समस्त प्राणियों द्वारा वन्दनीय महर्षि आत्रेय अथवा महर्षि अग्निवेश, महर्षि चरक या भगवान धन्वन्तरि को नमस्कार है।

× × ×

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

चित्त की मलिनता योगशास्त्र के द्वारा, वाणी (पद-वाक्य) की मलिनता (अशुद्धि) व्याकरण शास्त्र के द्वारा और शरीर की मलिनता वैद्यक शास्त्र के द्वारा जो दूर करता है उस मुनिश्रेष्ठ पतञ्जलि को मैं अञ्जलिबद्ध रूप से प्रणाम करता हूं।

× × ×

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ ।
पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि 'योग' इत्युदितो यया ॥

महर्षि पतञ्जलि की योगदर्शन रूपा ऐसी अपूर्व वाणी की जय हो, जिसके द्वारा पुरुष और प्रकृति के वियोग को भी 'योग' कहा गया है।

× × ×

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तर—
स्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः ।
विभाव्यमानाः सततं मनांसि,
याः सतां सदानन्दमयानि कुर्वते ।।

जो अन्तः करण के अज्ञानरूप अन्धकार का निवारण करने के लिए चन्द्रमा की किरणों के समान प्रकाशित हो रही है तथा निरन्तर अनुशीलन करने पर जो सज्जन पुरुषों के मन को सदा आनन्दमय करती रहती है, शेषावतार महर्षि पतञ्जलि की उन वाणी की सदा जय हो ।

× × ×

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ! ।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ।।
—श्रीमद् भगवद्गीता

जो अधिक भोजन करता है उसको योग-सिद्धि नहीं होती है, जो निराहार रहता है उसको भी योग सिद्धि नहीं होती है । अधिक सोने वाले को योग-सिद्धि नहीं होती है और अधिक जागने वाले को भी योग-सिद्धि नहीं होती है । युक्त आहार-विहार वाले, कर्मों में युक्त चेष्टा वाले, युक्त सोने और जगने वाले का योग दुःखों का नाश करने वाला होता है ।

× × ×

विषय-प्रवेश

भारत में प्राचीनकाल से ही योग और आयुर्वेद दोनों पृथक्-पृथक् धारा के रूप में प्रवाहित होते चले आ रहे हैं। दोनों ही शास्त्रों ने भारतीय जन-जीवन एवं संस्कृति को पर्याप्त रूप से प्रभावित तो किया ही है उसे आप्यायित और संवर्धित भी किया है। योगशास्त्र ने जहाँ भारतीय जन जीवन को आध्यात्मिक प्रक्रिया की ओर उन्मुख कर भारतीय संस्कृति को एक नवीन चिन्तन धारा प्रदान की वहाँ आयुर्वेद ने भारतीय जनजीवन की स्वास्थ्य और आरोग्य सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण तथा रोगाभिभूत शरीर की चिकित्सा में अपने सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनों पक्षों के द्वारा पर्याप्त योगदान किया है। आयुर्वेद की अध्यात्म परक विचार धारा और जीवन के प्रति कल्याणकारी उद्देश्यों से भारतीय संस्कृति के संपोषण में भी पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है। तत्कालीन समाज के द्वारा भी योग और आयुर्वेद इन दोनों को जीवन के लिए आवश्यक एवं उपयोगी मान कर उन्हें पर्याप्त महत्व दिया गया। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि योग और आयुर्वेद दोनों का क्रियात्मक पक्ष अधिक उपयोगी एवं सशक्त होने के कारण शीघ्रतापूर्वक उन्हें भारतीय जन-जीवन में आत्मसात् कर लिया गया। लोगों को उन्हें अपने जीवन से अलग करना या दूर रखना उचित प्रतीत नहीं हुआ और वे अपने जीवन की आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक एवं सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने में इन दोनों शास्त्रों के व्यवहारिक पक्ष के अधिकाधिक प्रयोग अपने जीवन में करने लगे।

भारतीय जन जीवन में यौगिक पद्धति एवं आयुर्वेद पद्धति का प्रवेश कब हुआ ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवन धारा के साथ साथ ये दोनों धाराएँ भी अजस्र रूप से प्रवाहित होते हुए समानान्तर रूप से चली आ रही हैं। तथापि अनेक प्रख्यात विद्वानों, चिन्तकों, और विचारकों के उस महत्वपूर्ण मत की अपेक्षा नहीं की जा सकती जिसमें उन्होंने यौगिक पद्धति और भारतीय दार्शनिक विचारधारा की योग परम्परा के सिद्धान्तों का सम्बन्ध ऋग्वेद काल से जोड़ा है। यह तो निर्विवाद है कि भारतीय चिन्तनधारा, आध्यात्मिक

अनुभूति सम्बन्धी विचार और दार्शनिक अनुशीलन पद्धति के बीज पर्याप्त रूप से उपनिषदों में मिलते हैं। अतः भारतीय दर्शनों के सैद्धान्तिक विवेचनों का मूल स्रोत जहां उपनिषद् हैं वहां वे उपनिषद् यौगिक पद्धति के मूल उद्गम भी माने जाते हैं, क्योंकि उनमें पर्याप्त रूप से प्रारम्भिक योग के सिद्धान्तों के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का चारों ही वेदों से निकटतम सम्बन्ध रहा है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना गया है और ऋग्वेद में आयुर्वेद सम्बन्धी पर्याप्त उद्धरण देखे जा सकते हैं। आयुर्वेद के अन्यान्य ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि यह एक अनादि और शाश्वत जीवन-विज्ञान शास्त्र है तथा इसकी अभिव्यक्ति सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा जी द्वारा की गई थी। ब्रह्मा जी से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया और उन्होंने इसका उपदेश अश्विनी कुमारों को दिया। अश्विनी कुमारों से देवराज इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण कर महर्षि भरद्वाज, दिवोदास धन्वन्तरि, महर्षि कश्यप प्रभृति ऋषियों को दिया, जिससे भूमण्डल पर मानव जीवन के हितार्थ उसका प्रसार हुआ।

योग पद्धति अथवा योग सिद्धान्तों का विधिवत् प्रामाणिक शास्त्र निबद्ध ज्ञान हमें महर्षि पतञ्जलि के द्वारा प्राप्त होता है। इसके लिए पतञ्जलि कृत योग सूत्र अथवा योग दर्शन नामक ग्रन्थ निःसंदेह एक महत्वपूर्ण कृति है, जिससे यह एक सुनिबद्ध शास्त्र के रूप में अपनी पृथक् चिन्तनधारा के लिए मान्य हुआ। इसके वर्तमान चार अध्यायों में १९५ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, जिससे योगशास्त्र का मौलिक स्वरूप, स्वतन्त्र अस्तित्व और गहन अनुभूति परक चिन्तन पद्धति का सहज आभास मिलता है। कतिपय दार्शनिक विद्वानों का अभिमत है कि योगदर्शन की मूल विचार धारा महर्षि पतञ्जलि को हिरण्यगर्भ से प्राप्त हुई थी। योगदर्शन का मूलस्रोत चाहे जो हो रहा हो उसमें मानव जीवन के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने और जीवन को निकटता से देखने की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है वह इतनी यथार्थ और व्यवहारिक है कि पृथ्वी पर जीवन आरम्भ के साथ यौगिक पद्धति के आरम्भ का विचार सहज ही मस्तिष्क में आ जाता है।

प्राचीन काल में ऋषि-महर्षियों, चिन्तकों और विचारकों द्वारा मनुष्य के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय चिन्तन के अन्तर्गत सत्यान्वेषण बुद्धि के रूप में जो पद्धति अपनाई गई वह पूर्णतः आध्यात्मिक थी और उसके द्वारा सृष्टि के अनेक रहस्यों और गहन गुत्थियों को सुलझाने के साथ-साथ दुःख निवारण के अन्यान्य उपाय भी प्रतिपादित किए गए। गहनतम अनुभूतियों, सतत चिन्तन और सूक्ष्म दृष्टि विवेक के परिणाम स्वरूप जो नवनीत उद्भूत हुआ उसे अलग अलग रूप से क्रमबद्धता के अन्तर्गत निबद्ध किया गया। परिणामतः छह चिन्तनधाराओं का उद्भव हुआ और उसे षड्

दर्शन की संज्ञा दी गई। दर्शनों की इन छह विचारधाराओं में से यौगिक विचारधारा, योगदर्शन या यौगिक परम्परा भी एक है। भगवद्गीता में भी दर्शन की योग परम्परा को महान सत्यस्वरूप, यथार्थमय, मानव जीवन के अत्यन्त निकट और आत्मिक उपलब्धि के सुगम साधन के रूप में प्रतिपादित किया गया है।

योगदर्शन वस्तुत: आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक प्रक्रियाओं का एक ऐसा समन्वित रूप है जिसमें मानव मात्र की सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान निहित है। योगदर्शन के द्वारा मूल रूप से यह पाठ सिखाया जाता है कि मन के ऊपर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाय जिससे मनुष्य मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ हो सके। तब ही मनुष्य की आध्यात्मिक उपलब्धि का मार्ग प्रशस्त हो सकता है और वह अपना लक्ष्य साधन कर सकता है। मन के नियन्त्रण से अनेक मानसिक शारीरिक और बौद्धिक विकारों से मुक्ति मिलती है और उसका मानसिक व बौद्धिक विकास होता है। मानसिक रूप से स्वस्थ चित्त होना केवल मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक स्तर पर ही उपयोगी नहीं है, अपितु बौद्धिक विकास, सुषुप्त अन्यान्य आन्तरिक शक्तियों का विकास और उच्चस्तरीय मन: स्थितियों तक पहुंचने के लिए अनेक महत्वपूर्ण शारीरिक क्रियायों-प्रक्रियाओं के अभ्यास के द्वारा लक्ष्य प्राप्ति में बड़ी सहायता मिलती है, अतः यह एक उपयोगी और महत्वपूर्ण साधन है। योग-दर्शन का गम्भीर अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि योग पद्धति में मनोविज्ञान के अनेक पक्षों का समावेश है। वस्तुतः योग पद्धति के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक पक्ष के अध्ययन के अभाव में मनोविज्ञान की पूर्णता संदिग्ध है। क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान आध्यात्मिकता से उतना आपूरित नहीं है जितना योग दर्शन और योगपद्धति आपूरित है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि योगशास्त्र में भारतीय अध्यात्म विद्या, मानस शास्त्र या मनोविज्ञान, शरीरशास्त्र एवं दार्शनिक चिन्तन पद्धति का ऐसा अद्भुत समन्वय किया गया है कि जिससे मानव कल्याणकारी एक स्वतंत्र पद्धति का विकास हुआ है। इसमें केवल सिद्धान्तों का विवेचन या मात्र रहस्यात्मक विषयों का समावेश नहीं है, अपितु उसकी प्रायोगिक एवं व्यवहारिक पद्धति का इतना सरल और वैज्ञानिक प्रतिपादन है कि विषय की दुरूहता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। अतः यह वास्तव में एक मानव कल्याणकारी शास्त्र है। इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में भी भारतीय अध्यात्म विद्या, मानसशास्त्र, शरीर शास्त्र एवं दार्शनिक चिन्तन पद्धति का समावेश इस ढंग से किया गया है कि जीवन के शाश्वत मूल्यों की सुरक्षापूर्वक मानव के इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के प्रति तनिक भी उदासीनता का भाव लक्षित नहीं होता है। आयु ही जीवन है, आयु का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अतः आयुर्वेद

एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है । आयुर्वेद और योगशास्त्र में यदि अन्तर है तो केवल इतना ही कि आयुर्वेद में शारीरिक और मानसिक आरोग्यपरक पद्धति, रोग निवारण के लिए औषध प्रयोग और उसके सैद्धान्तिक विवेचन को विशेष रूप से महत्व दिया गया है, यही कारण है कि आयुर्वेद को जीवन विज्ञान शास्त्र, आरोग्यशास्त्र या चिकित्साशास्त्र भी कहा जाता है। जबकि इसका चरम लक्ष्य भी योगशास्त्र की भाँति मानव की इस संसार से सर्वांशतः मुक्ति है। आयुर्वेद में आध्यात्मिक विषयों का विवेचन प्रसंगवश अल्प ही है, जबकि आरोग्य प्रतिपादक सिद्धान्तों, चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों और औषध प्रयोग सम्बन्धी विवेचन का बाहुल्य है। किन्तु योगशास्त्र में ऐसा नहीं है। इसके विपरीत योगशास्त्र में अन्तःकरण की शुद्धि, मन का नियन्त्रण और मानसिक शक्ति के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। इस प्रक्रिया में शारीरिक आरोग्यलाभ और अनेक रोगों का उपशमन स्वतः ही हो जाता है। इसके लिए कोई विशेष पद्धति इस शास्त्र में नहीं अपनाई गई है और न ही औषध प्रयोग एवं चिकित्सा के सिद्धान्तों के विवेचन को कोई महत्व दिया गया है। अतः दोनों की धारा सर्वथा भिन्न है। तथापि अनेक विषयों से साम्य होने के कारण दोनों का एक साथ अध्ययन यहां अभीष्ट प्रतीत होता है।

आयुर्वेद में जिस प्रकार औषध प्रयोग के पश्चात् अथवा आहार-विहार सेवन के पश्चात् यह देखा जाता है कि शरीर के किस संस्थान या किस आभ्यन्तरिक अवयव पर उस औषध या आहार विहार का क्या प्रभाव पड़ा ? तदनुसार फिर उसके द्वारा रोग निवारण सम्बन्धी प्रभाव का विचार किया जाता है। इसी प्रकार योग पद्धति के अनुसार जो भी क्रिया विशेष या यौगिक अभ्यास किया जाता है उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति के आभ्यन्तरिक संस्थानों या अवयवों पर अवश्य पड़ता है, जिससे उनकी क्रिया नियन्त्रित स्वाभाविक एवं नियमित होती है। ऐसी स्थिति में तदवयव या उस संस्थानगत विकृति का सहज ही निवारण हो जाता है। इस रूप में आयुर्वेद और योग में काफी निकटता एवं समानता है। यौगिक पद्धतियों में जिन क्रियाओं, अभ्यासों या आचरण का निर्देश किया गया है उनका आयुर्वेद से कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वे आयुर्वेद के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हैं, अतः उन्हें सर्वथा उपादेय माना गया है। ऐसा सभी प्रकार का आचरण या अभ्यास जो स्वास्थ्य के लिए अनुकूल और हितकारी होता है, आयुर्वेद विहित होने से आयुर्वेद की दृष्टि से ग्राह्य समझना चाहिए।

योग क्या है ?

भारतीय दर्शन-शास्त्र में षड् वैदिक दर्शनों के अन्तर्गत योग-दर्शन का परिगणन किया गया है। मनीषियों के कथनानुसार योग दर्शन व्यवहारिक रूप में सांख्यदर्शन का अनुपूरक शास्त्र है। अर्थात् जिस मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सांख्यदर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन किया है उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए योग दर्शन में उस सैद्धान्तिक तत्व विश्लेषण को व्यवहारिक रूप में विभिन्न साधनों के माध्यम से प्रयत्नपूर्वक आचरण करने का निर्देश किया गया है। अतः यह कथन निर्विवाद है कि योगदर्शन की तात्विक मान्यता सांख्यशास्त्र से बहुत मिलती जुलती है। सांख्य और योग के तात्विक विवेचन में यदि कोई भेद प्रतीत होता है तो वह केवल वर्णन शैली का ही भेद है, मौलिक मतभेद कहीं नहीं है। सांख्य दर्शन की वर्णन शैली सैद्धान्तिक विवेचन परक है जबकि योगशास्त्र का वर्णन क्रम अधिकांशतः व्यावहारिक प्रयोगात्मक पक्ष पर आधारित है।

योग का सामान्य अर्थ है—समस्त चित्तवृत्तियों (मनोव्यापार) का निरोध करना। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने योग शास्त्र में योग का लक्षण बतलाया है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"—योगसूत्र १/२

मनुष्य अपने सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार की सिद्धि के लिए चक्षु-श्रोत्र-घ्राण-रसना-त्वक् इन पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा हस्त-पाद-पायु-उपस्थ-वाक् इन पांच कर्मेन्द्रियों का उपयोग करता है। मनुष्य के व्यवहार या आचरण का साधन होने से इन इन्द्रियों को करण भी कहा जाता है। इनका सम्बन्ध शरीर के बाह्य क्रिया कलाप से है, अतः ये बाह्य करण कहलाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य अपने आभ्यन्तरिक व्यवहार या आचरण की सिद्धि के लिए मन बुद्धि, अहंकार इन तीन साधनों का उपयोग करता है। ये तीनों साधन अन्तःकरण कहलाते हैं। इन सभी साधनों (बाह्यकरण और अन्तःकरण) में मन प्रमुख है। वह मन सभी बाह्यकरणों का नियन्त्रक व प्रेरक है। अर्थात् दसों इन्द्रियों

की क्रियाएँ मन के अधीन होती हैं। मन स्वयं का भी निग्रह करता है और पर्याप्त रूप से बुद्धि एवं अहंकार को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार दोनों ही करणों में मन की विशेष स्थिति है। योगदर्शन में मन को 'चित' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है और उस मन के सम्पूर्ण व्यापार को चित्त वृत्ति कहा गया है। इन सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का मन की एकाग्रता पूर्वक ही निग्रह किया जा सकता है। अर्थात् जब मन की एकाग्रता होती है तब सभी (दसों) इन्द्रियों का सम्पूर्ण व्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यही 'चित्तवृत्ति निरोध' कहलाता है और इसी का नाम 'योग' है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब चित्त (मन) विविध विषयों में अपने प्रवृत्तिरूप कार्यों को न करते हुए शान्त, व्यवस्थित, निश्चल और एकाग्र स्थिति में होता है उस अवस्था का नाम अथवा ऐसा करने की प्रक्रिया का नाम 'योग' है।

जब मनुष्य की शारीरिक मानसिक, और आत्मिक स्थिति असंतुलित या अस्त व्यस्त हो जाती है तब वह स्वयं को अशान्त और दुःखी अनुभव करता हुआ चिन्ता युक्त हो जाता है। इसी प्रकार किसी पदार्थ या भाव विशेष का जब चित्त (मन) पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो उसकी स्थिति अव्यवस्थित हो जाती है और वह अशान्त हो जाता है। इस प्रकार मन का अशान्त होना दुःख या रोग का कारण बन जाता है। मन की अशान्ति को दूर करने के लिए जो प्रयत्न विशेष किया जाता है। उससे दुःख या रोग का अभाव होता है तथा मन शान्त और निर्द्वन्द्व हो जाता है। अतः दुःख या रोग के कारण भूत 'मन की अशान्ति' के निराकरण का नाम ही 'योग' है। जब मन की अशान्ति का निवारण होता है तो मन में समस्थिति, समताभाव, साम्यावस्था या व्यवस्थीकरण होता है, इसे ही योग कहा जाता है। गीता में भी यही भाव प्रतिपादित है—**"समत्वं योग उच्चते।"**

इस प्रकार सम्पूर्ण मानस व्यापार (चित्त की वृत्तियों) का निरोध करना योग है और जिसमें चित्त की वृत्तियों के निरोध का उपाय वर्णित है वह 'योग शास्त्र' है। चित्त की वृत्तियों के कारण ही संसार में कर्मबंधन होता है और कर्म बन्धन के कारण प्राणियों के शरीर में स्थित यह जीवात्मा संसार की विभिन्न (८४ लाख) योनियों में परिभ्रमित होता हुआ विविध क्लेशों को सहन करता है। संसार के विभिन्न दुःखों को भोगने वाला यह जीवात्मा तब तक उन दुःखों से मुक्ति नहीं पा सकता जब तक वह साधना मार्ग में प्रवृत्त होकर चित्त को एकाग्र कर चित्त की समस्त अन्तः बाह्य प्रवृत्तियों का निरोध कर उन्हें निजाधीन नहीं कर लेता। मानव चित्त की वृत्तियों के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये जीव के पाँच क्लेश होते हैं। इन पांचों क्लेशों के नाश का एक व्यवहारिक साधना मार्ग देने के लिए ही योग दर्शन प्रवृत्त हुआ है। चित्तवृत्तियों के निरोध से क्लेशों का नाश होकर जीवात्मा-परमात्मा का योग होता है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मानवीय प्रकृति (भौतिक तथा आत्मिक) के भिन्न तत्वों के नियंत्रण द्वारा पूर्णता प्राप्ति के लिए किया गया विधिपूर्वक प्रयत्न ही योग है। भौतिक शरीर, सक्रिय इच्छा शक्ति और समझने की शक्ति रखने वाले मन को नियन्त्रण के अन्दर लाना आवश्यक है। पतञ्जलि ने कुछ ऐसे अभ्यासों पर बल दिया है जिनसे शारीरिक विकृति की चिकित्सा हो सकती है और शरीर की मलिनता दूर की जा सकती है जब इन अभ्यासों से हमें अधिक शक्ति, दीर्घकालीन युवावस्था, शारीरिक स्वस्थता और दीर्घजीवन प्राप्त हो जाय, तो इनका प्रयोग आध्यात्मिक विकास के लिए करना उचित है जिससे मानव जीवन के चरम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष को प्राप्त किया जा सके। चित्त की शुद्धि, शान्ति तथा एकाग्रता के लिए अन्य विधियों को भी उपयोग में लाया जाता है। पतञ्जलि का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं, अपितु क्रियात्मक रूप में यह संकेत करना है कि संयमी जीवन के द्वारा किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है?

योग की सहायता से मनुष्य चैतन्य के उच्चतर स्तर तक पहुंच सकता है जिसका मार्ग मानसिक उपकरण में परिवर्तन के द्वारा प्रशस्त होता है और इस प्रकार वह उन सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है जिन्हें मानवीय अनुभव की साधारण सीमाएं समझा जाता है। योग-शास्त्र में हिन्दू विचार धारा के उन आधारभूत भावों जैसे भौतिक जगत की अपेक्षा आत्मिक जगत की श्रेष्ठता, मौन साधना और एकान्त सेवन, ध्यान, समाधि तथा बाह्य अवस्थाओं के प्रति उदासीनता आदि को स्पष्टरूप में लक्ष्य कर सकते हैं, जिनके कारण आधुनिक विचारकों को हिन्दू जाति की जीवन के प्रति परम्परागत प्रवृत्ति अद्‌भुत और सनकी प्रतीत होती है। किन्तु जो उससे परिचित हैं वे यह तथ्य निःसंकोच स्वीकार करते हैं कि उनकी वर्तमान मनोवृत्ति को, जो कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण बाह्य वस्तुओं के भार से अत्यधिक आक्रान्त है और जो नीरस कठोर परिश्रम, भौतिक लिप्सा, इन्द्रियजन्य उत्तेजना के कारण आत्मा के यथार्थ अनुभव से सर्वथा विरक्त है, सुधारने के लिए इस साधना की नितान्त आवश्यकता है।

इस प्रकार पतञ्जलि के योगदर्शन की धारणा है कि मनुष्य मानव जीवन की समस्त निधियों से सम्पन्न है जिनसे बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है और ये ऐसी निधियां हैं जिनकी कल्पना भी नहीं जा सकती। यह दर्शन मनुष्य को अपने गम्भीरतम क्रियाशील स्तरों तक पहुंचने की विधियां बतलाता है। योग साधन शरीर, मन और आत्मा के पवित्रीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इन्हें उस आनन्दमय स्वरूप के साक्षात्कार के लिए तैयार करना ही उसका कार्य है।

संसार के समस्त शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति का मूल कारण मन है। मनुष्य का

मन स्वभावत: चंचल होता है। मन की इस चंचलता के कारण ही बड़े-बड़े दृढ़ व्रतियों महातपस्वियों, योगियों और सन्यासियों को अपने व्रत, तप, साधना, योग आदि में भ्रष्ट होते हुए देखा गया है। जो मन को अपने वश में कर लेता है वही अपनी साधना में पूर्णता प्राप्त कर लक्ष्य-सिद्धि में सफल होता है। मन को निजाधीन या अपने वश में करने के लिए उसकी समस्त वृत्तियों या व्यापार का निरोध करना अत्यन्त आवश्यक है। अत्यधिक एकाग्रता और उसके निरन्तर अभ्यास के द्वारा समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध करके मन को वश में किया जा सकता है। यदि पूर्ण रूप से एकाग्रता पूर्वक मन को वश में कर लिया जाता है तो वह पूर्णतः स्थिरता को प्राप्त हो जाता है और उस समय ऐसें सत्य का साक्षात्कार होता है जो प्रमाणों के द्वारा प्राप्त किए गए सत्यानुभव से सर्वथा विपरीत होता है। अलौकिक सत्यानुभूति का लौकिक सत्यानुभव से विपरीत होना स्वाभाविक है। विभिन्न विशिष्ट साधनों एवं उपायों के द्वारा चित्तवृत्ति निरोधमूलक ऐसे अलौकिक सत्यानुभव (आत्मसाक्षात्कार) को ही महर्षि पतञ्जलि ने "योग" की संज्ञा से व्यवहृत किया है।

योग सामान्यत: दो प्रकार का होता—सम्प्रज्ञात योग और असंप्रज्ञात योग। इसमें प्रथम सम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का होता है— सविकल्प और निर्विकल्प। द्वितीय असम्प्रज्ञात योग एक ही प्रकार का होता है जिसे निर्बीज समाधि या धर्ममेध समाधि भी कहते हैं। यह निर्बीज समाधि ही योग का अंतिम लक्ष्य है, इसी से आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा या यों समझिये कि कैवल्य स्थिति होती है। कुछ लोग योग के सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दो भेद न करके सीधे तीन भेद मानते हैं। उनके अनुसार योग के तीन भेद होते हैं— सविकल्प योग, निर्विकल्प योग और निर्बीज योग। इस मतान्तर से योग के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

योगतत्व उपनिषद् में योग चार प्रकार का बतलाया गया है—मन्त्रयोग, लय-योग, हठयोग और राजयोग। महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग अन्तिम प्रकार का है, क्योंकि यह मन को निश्चल करने तथा समाधि अवस्था प्राप्त करने की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करता है। हठयोग में प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार हठयोग के द्वारा शारीरिक क्रियाओं पर आधिपत्य प्राप्त किया जा सकता है। शरीर को वश में करना पातञ्जल योग का एक भाग है। इस प्रकार वर्तमान में बहुचर्चित योग वस्तुत: हठयोग और राजयोग का एक मिश्रित स्वरुप है। योगदर्शन के नाम से दर्शनशास्त्र में प्रचलित योग भी हठयोग और राजयोग का मिश्रित स्वरूप है जिसमें शरीर और मन की समस्त क्रियाओं का निरोध कर जीवात्मा की मुक्ति ही मुख्यत: प्रतिपाद्य है।

मंत्रयोग विश्वास चिकित्सा पर आधारित है। प्राचीन भारत में अनेक स्थानों

पर मंत्र आदि के द्वारा समस्त कार्यों की सिद्धि हेतु चिरकाल तक उपाय किए जाते रहे हैं। इस प्रकार भारत में बहुत दिनों तक मन्त्रादि के प्रयोग का समय रहा है। वर्तमान में ईसाई विचारक जो इस विधि का प्रयोग करते हैं, ऐसा कहते हैं कि यह ईसाई मत और पादरियों के प्रभाव का परिणाम है, किन्तु इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि विश्वास-चिकित्सा किसी एक धर्म तक सीमित नहीं हैं। एम. क्युई हमें प्राचीन चिकित्सा का स्मरण कराता है। विश्वास के द्वारा चिकित्सा किया जाना प्रकृति की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं हैं जिस में साक्षात् ईश्वर का हाथ अथवा किसी गोण अतिप्राकृतिक तत्व का प्रवेश काम करता हो। मन्त्रों के द्वारा चिकित्सा केवल ऐसी अवस्थाओं में ही सम्भव है जहाँ रोग स्नायुजाल से सम्बन्ध रखता हो और मस्तिष्क इच्छा की असफलता के कारण, किसी एक बात के हठात् हृदय में बैठ जाने से अथवा मानसिक आघात के कारण विकृत हो गया हो।

ईश्वर में आस्था और विश्वास होने के कारण ही कतिपय आचार्यों ने योग को सेश्वर सांख्य की संज्ञा से व्यवहृत किया है। किन्तु ईश्वर की प्राप्ति योग का चरम लक्ष्य नहीं है। योग का चरम लक्ष्य तो अलौकिक स्वात्मानुभव है जो असम्प्रज्ञात समाधि का परिणाम है तथा जो अनिर्वचनीय अखण्डानन्द रूप है। योग प्राण में ईश्वर की धारणा असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुंचने का एक साधन मात्र है। योग का ईश्वर तो निर्विकार परमात्मा है, जगत् का सृष्टा या नियन्ता नहीं। इसी परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग होना 'योग' है। दूसरे शब्दों में प्रकृति पुरुष के वियोग जो सांसारिक वियोग भी कहलाता है को 'योग' कहा गया है। इस प्रकार योग का आधार सीधा अनुभव है और योग का सम्बन्ध अन्ततः 'आंतरिक संसार' से है, बाह्य संसार से नहीं। कुछ शारीरिक क्रियाएं अवश्य 'बाह्य संसार' की द्योतक हैं, किन्तु वे योग की प्रारम्भिक स्थिति तक ही सीमित हैं। अतः वे योग की मूल आधार नहीं हैं।

योगशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य कैवल्य (मोक्ष) प्राप्ति है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस शास्त्र में विभिन्न साधनों का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे मनुष्य अबिवेक (अज्ञान) से मुक्त होकर अपनी आत्मा को ज्ञानालोक से आलोकित कर सके। तब ही वह यथार्थ रूप में स्वात्मनुभव करता हुआ परमात्मा से साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह संयोग ही 'योग' कहलाता है। इसे 'समाधि' संज्ञा से भी व्यवहृत किया गया है जो जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था जनित होती है। यथा—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
संयोगो 'योग' इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥

—वशिष्ठ संहिता

इस प्रकार 'योग' शुद्ध समाधि अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने ही सबसे पहले योग शब्द को समाधि के अर्थ से प्रयुक्त किया है। व्यास ने भी "**योगः समाधिः**" इत्यादि वचनों से योग शब्द का अर्थ समाधि ही किया है। वाचस्पति का मत है कि योग शब्द "**युज् समधौ**" से निकला है "**युजिर् योगे**" से नहीं। यथा **युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु युजिर् योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थ**।—(तत्व वैशारदी)।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जा सकती है। जैसे—"**युज्यते एतद् इति योगः**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार कर्मकारक में योग शब्द का अर्थ मनस् की वह अवस्था है जब चित्त की समस्त वृत्तियों में एकाग्रता आ जाती है। इसी प्रकार "**युज्यते अनेन इति योगः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार करण कारक में योग शब्द का अर्थ वह साधन है जिससे समस्त चित्तवृत्तियों में एकाग्रता लाई जाती है। "**युज्यते तस्मिन् इति योगः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अधिकरण कारक में योग शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ चित्तवृत्तियों की एकाग्रता उत्पन्न की जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न कारक के अनुसार योग शब्द की व्युत्पत्ति भिन्नार्थ प्रतिपादक है।

योग अथवा समाधि से तात्पर्य उस रहस्यात्मक शक्ति से भी है जो योगाभ्यास कर्त्ता के जीवन में आमूल परिवर्तन ला सकती है। महाभारत में योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, किन्तु वे सब जिस धातु से निष्पन्न हुए हैं उसका अर्थ "जोड़ना' या "मिलाना" है। इस अर्थ में प्रयुक्त धातु 'युजिर् योगे' है। कठोपनिषद् में योग शब्द का प्रयोग "इन्द्रियों को वश में करना" के अर्थ में हुआ है। गीता में भी यद्यपि योग शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में हुआ है, तथापि उन सबका सम्बन्ध जोड़ना अर्थ से ही है। मनु ने योग शब्द का अर्थ "वश में करना" किया है जो सम्भवतः "युज् संयमने" धातु से सम्बन्धित है। पालि भाषा में भी योग शब्द का प्रयोग 'जोड़ना' 'वश में करना' या 'प्रयत्न करना' के अर्थ में किया गया है, जैसा कि "पुब्ब योगे" या "चित्तस्य निग्गान्हे योगो करणीयो" आदि कथन से स्पष्ट है।

'मेदनी कोश' के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में योग शब्द का प्रयोग या व्यवहार होता है—

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु।
वपुः स्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥

अर्थात् अपूर्व अर्थ सम्प्राप्ति, संगति, ध्यान, युक्ति, शरीर की स्थिरता और प्रयोग, विष्कम्भ, भेषज आदि अर्थों में योग शब्द का प्रयोग किया जाता है।

आयुर्वेद क्या है ?

आयुर्वेद एक अनादि एवं शाश्वत सम्पूर्ण जीवन विज्ञान शास्त्र है, जिसमें धर्म अर्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्विध पुरुषार्थ के मूल साधनभूत आरोग्य का प्रतिपादन किया गया है। आयुर्वेद में प्रतिपदित सिद्धान्त इतने सामान्य, व्यापक, जनजीवनोपयोगी एवं सर्वसाधारण के लिए हितकारी हैं कि सरलता पूर्वक उन्हें अमल में लाकर यथा शीघ्र आरोग्य लाभ किया जा सकता है। अत: शारीरिक, मानसिक, एवं बौद्धिक स्वास्थ्य की दृष्टि से आयुर्वेद की उपयोगिता सुविदित है। आयुर्वेद केवल चिकित्सा शास्त्र ही नहीं है, अपितु यह शरीर विज्ञान, मानव विज्ञान, मनो विज्ञान, दर्शनशास्त्र, आचार शास्त्र एवं धर्मशास्त्र का एक ऐसा अद्‌भुत समन्वित स्वरूप है जो सम्पूर्ण जीवन के अन्यान्य पक्षों को व्याप्त कर लेता है। अत: निःसन्देह यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। आयुर्वेद शास्त्र केवल भौतिक तत्वों तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु आध्यात्मिक तत्वों के विवेचन में भी अपनी मौलिक विशेषता रखता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय संस्कृति के आद्य स्रोत वेद तथा उपनिषद् के बीज ही आयुर्वेद में प्रसार को प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन होने के कारण दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र ने भी आयुर्वेद के अध्यात्म सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। शरीर के साथ साथ प्राण तत्व का विवेचन, आत्मा और मन के विषय में स्वतंत्र दृष्टिकोण मानसिक व बौद्धिक विकास क्रम का यथोचित वर्णन आयुर्वेद कीं वैज्ञानिकता एवं प्रामाणिकता के सबल प्रमाण हैं।

आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति

आयुर्वेद एक ऐसा शास्त्र है जिसमें जीवन के आध्यात्मिक, भौतिक, मानसिक और बौद्धिक पक्षों पर चिन्तन करते हुए शरीर और मन की बाधाओं के निराकरण का युक्ति संगत उपाय सुझाया गया है। यह शास्त्र जीवन के साथ तादात्म्य भाव

स्थापित कर उसकी प्राकृत और वैकारिक अवस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अतः यथार्थतः यह एक जीवन शास्त्र है। आयु ही जीवन है, आयु का वेद (ज्ञान) ही आयुर्वेद है, अतः यह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है। शास्त्रों में आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) निम्न प्रकार से मिलती है—

१—"आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः" अर्थात् यह शास्त्र आयु का वेदन याने बोध या ज्ञान कराता है, अतः यह आयुर्वेद कहलाता है। इसमें उत्तर पद 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न है। अर्थात् ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त 'विद्' धातु से वेद शब्द बना है। इसी प्रकार आचार्य डल्हण भी ज्ञानार्थक विद् धातु से आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार करते हैं—

२—"आयुर्विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति आयुर्वेदः।"

—आयु इससे जानी जाती है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहां विद्धातु ज्ञानार्थक है।

३—"आयुर्विद्यते विचार्यतेऽनेन वेत्यायुर्वेदः।"

—आयु का इसके द्वारा विचार (विवेचन) किया जाता है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ विचारणा अर्थ में विद् धातु का प्रयोग है।

४—आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः।"

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १/१५

—प्रतिपाद्य विषय के रूप में आयु इसमें विद्यमान है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ सत्ता के अर्थ में (विद् सत्तायां) विद् धातु का प्रयोग है। अथवा इससे पुरुष आयु को प्राप्त करता है, अतः इसे आयुर्वेद कहते हैं। यहाँ "विदृल् लाभे"—लाभार्थक विद् धातु है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयुक्त 'विद्' धातु से निष्पन्न आयुर्वेद शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रों में वर्णित है। व्याकरण शास्त्र में 'विद्' धातु भिन्न भिन्न गणों में भिन्न भिन्न अर्थों में प्रतिपादित है। तदनुसार यहाँ भी भिन्न भिन्न अर्थ में आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है। काश्यप संहिता में इस विषय में महत्वपूर्ण वक्तव्य प्राप्त होता है—

५—"भो, तत्रायुर्जीवितमुच्यते, विद् ज्ञाने धातुः विदृल् लाभे च, आयुरनेन ज्ञानेन विद्यते. ज्ञायते विन्दते लभ्यते नरिष्यतीत्यायुर्वेदः। (विमान स्थान)

—यहाँ आयु से जीवन अभिप्रेत है। विद् ज्ञानार्थक धातु में और विदृल् लाभार्थक (प्राप्ति) धातु में प्रयुक्त होने से आयु इस ज्ञान के द्वारा जानी जाती है या प्राप्त की जाती है, अतः यह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद की व्यापकता और उसको प्रकट करने की दृष्टि से विद् धातु के निम्न सभी अर्थ ग्रहण किए जाते हैं—

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।
विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन् लुक् श्नम् शब्विवं क्रमात् ॥

इसके अनुसार निम्न प्रकार से आयुर्वेद शब्द की निरुक्ति की जा सकती है—

६—यस्मिन् शास्त्रे आयुर्विद्यते येन वा आयुर्विन्दति स आयुर्वेदः।"

—जिस शास्त्र में आयु का विषय अर्थात् स्वरूप प्रतिपादित किया गया हो, जिस शास्त्र का अध्ययन करने से आयु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है अथवा जिस शास्त्र के विषय में विचार करने से हितकर आयु, अहितकर आयु, सुखकर आयु और दुःख कर आयु के विषय में जानकारी प्राप्त होती है अथवा जिस शास्त्र में बताए हुए नियमों का पालन करने से दीर्घायु प्राप्त की जा सकती है उसका नाम आयुर्वेद है।

७—"आयुर्वेदयति ज्ञापयति प्रकृतिज्ञानरसायनदूतारिष्टाद्युपदेशादित्यतोऽप्या-युर्वेदः।"

—स्वस्थ और अस्वस्थ मनुष्य की प्रकृति, रसायन, शुभ और अशुभ बताने वाले दूत और अरिष्ट लक्षण इत्यादि के उपदेशों से जो शास्त्र आयु का विषय अर्थात् यह मनुष्य स्वल्पायु है अथवा मध्यमायु है या दीर्घायु है—इन सब विषयों का ज्ञान करा देता है, यही आयुर्वेद है।

आयुर्वेद की परिभाषा

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १/४१

—जिस शास्त्र में हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु इन चार प्रकार की आयु के लिए हित (पथ्य)—अहित (अपथ्य), इस आयु का मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयु का स्वरूप प्रतिपादित हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा॥
विद्यते यत्र विद्वद्भिरायुर्वेदः स उच्यते॥
अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च।
तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः॥

—भाव प्रकाश

—आयु के लिए कौन सी वस्तु लाभदायक हैं या किस वस्तु के द्वारा आयु की हानि हो सकती है ? किस प्रकार की आयु हितकर होती है और कैसी आयु अहितकर होती है ? यह विषय जिस शास्त्र में वर्णित हो तथा रोग का निदान और उसके प्रतिकार के विषय में जिस शास्त्र में वर्णन किया गया हो विद्वानों के द्वारा वह आयुर्वेद कहलाता है। इस शास्त्र के द्वारा पुरुष चूंकि आयु को प्राप्त करता है तथा आयु के विषय में जान लेता है, इसलिए मुनिश्रेष्ठों के द्वारा यह आयुर्वेद कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र का यदि ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है तो मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त करने का उपाय ज्ञात हो जाता है। क्योंकि इस शास्त्र में बतलाए हुए आहार-विहार सम्बन्धी नियमों और अन्य सदाचारों का पालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए ऋषिगणों, आचार्यों और विद्वानों ने इस शास्त्र को आयुर्वेद के नाम से अभिहित किया है।

सुखादि आयु का लक्षण

आयुर्वेद की परिभाषा के अन्तर्गत सुखायु आदि चतुर्विध आयु का उल्लेख किया गया है। यहाँ उसका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

"तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्यामनभिद्रुतस्य, विशेषेण यौवनवतः, समर्थानुगतबलवीर्ययशः पौरुषपराक्रमस्य, ज्ञानविज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थबलसमुदाये वर्तमानस्य, परमर्द्धिरुचिरविविधोपभोगस्य, समृद्धसर्वारम्भस्य, यथेष्टविचारिणः सुखायुरुच्यते। असुखमतो विपर्ययेण ॥ —चरक संहिता सूत्रस्थान ३०/२४,

अर्थात् जो शारीरिक और मानसिक रोगों से पीड़ित न हो, विशेष रूप से यौवन वाला (युवा-तरुण) हो, प्रत्येक कार्य करने में सामर्थ्यवान् हो तथा यथोचित बल, वीर्य, यश, पौरुष, पराक्रम से सम्पन्न हो, ज्ञान, विज्ञान (शिल्प-तकनीकता) इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय) और इन्द्रिय बल (इन्द्रियों द्वारा ज्ञान सामर्थ्य) के समुदाय से युक्त हो, अत्यधिक सम्पत्तिशाली (ऐश्वर्यवान) हो और विविध प्रकार के उपभोग वाला हो, जिसके समस्त आरम्भ (कार्य-उद्योग-प्रयत्न) निश्चित रूप से सफल होते हों, जो अपनी इच्छानुसार सर्वत्र भ्रमणशील हो (सर्वत्र जिसका गमन अप्रतिहत हो) ऐसे पुरुष की आयु 'सुखायु' कहलाती है। उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत आयु को 'असुखायु' कहते हैं।

हित और अहित आयु

"हितैषिणः पुनर्भूतानां, परस्वादुपरतस्य, सत्यवादिनः शमपरस्य, (सामपरस्य इति पाठान्तरम्) परीक्ष्यकारिणोऽप्रमत्तस्य त्रिवर्गं परस्परेणानुपहतमुपसेवमानस्य,

पूजार्हसंपूजकस्य, ज्ञानविज्ञानोपशमशीलस्य वृद्धोपसेविनः, सुनियतरागरोषेर्ष्यामदमानवेगस्य, सततं विविधप्रदानपरस्य, तपोज्ञानप्रशमनित्यस्याध्यात्मविदस्तत्परस्य, लोकमिमुं चामुं चावेक्षमाणस्य, स्मृतिमतिमतो हितायुरुच्यते। अहितमतो विपर्ययेण।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२४

अर्थात् प्राणि मात्र का हित चाहने वाले, दूसरों के धनादि द्रव्यों के प्रति पराङ्मुख रहने वाले, सत्य बोलने वाले, शान्तिप्रेमी (पाठान्तर में साम-परायण) परीक्ष्यकारी-प्रत्येक कार्य को विचार पूर्वक करने वाले, प्रमादयुक्त या असावधान नहीं रहने वाले, धर्म-अर्थ-काम इन तीन वर्गों को इस प्रकार समय पर करने वाले कि जिसमें एक के द्वारा अन्य की बाधा न हो सके, पूजा करने योग्य मनुष्यों की पूजा करने वाले ज्ञानशील, विज्ञानशील और शान्त स्वभाव वाले, वृद्ध जनों की सेवा करने वाले, राग-रोष-ईर्ष्या-मद-मान के वेगों में अपने आप को सुसंयत रखने वाले, सदैव विविध प्रकार के दान देने में तत्पर, सदैव तपस्या, ज्ञान और शान्ति के कार्यों में लगे रहने वाले, अध्यात्मविद्या को जानने वाले और उसी के अनुसार आचरण करने वाले, इस लोक और परलोक को ध्यान में रखने वाले, स्मरण शक्ति और बुद्धि वाले मनुष्य की आयु 'हितायु' कहलाती है। इससे विपरीत आचरण वाले की अहित आयु होती है।

आयु का मान

"प्रमाणमायुषस्त्वर्थेन्द्रियमनोबुद्धिचेष्टादीनां विकृतिलक्षणैरुपलभ्यतेऽनिमित्तैः, अयमस्मात् क्षणान्मुहूर्त्ताद्दिवसात्त्रिपंचसप्तदशद्वादशाहात् पक्षान्मासात् षण्मासात् संवत्सराद्वा स्वभावमापत्स्यत इति। तत्र स्वभावः प्रवृत्तेरुपरमो मरणमनित्यता निरोध इत्येकोऽर्थः। इत्यायुषः प्रमाणम्। अतो विपरीतप्रमाणमरिष्टाधिकारे, देहप्रकृतिलक्षणमधिकृत्य चोपदिष्टमायुषः प्रमाणमायुर्वेदे।

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२५

—अर्थात् (इन्द्रियों के विषय), इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चेष्टा आदि में बिना कारण विकृत चिन्हों के उपस्थित होने पर जाना जाता है कि यह व्यक्ति इस क्षण, इस मुहुर्त में, इस दिन, तीन दिन, पाँच दिन, सात दिन, दस दिन, एक पक्ष, एक माह, छह माह, या एक वर्ष बाद स्वभाव को प्राप्त होगा अर्थात् मर जाएगा। स्वभाव, प्रवृत्ति का उपरम (नाश), मरण, अनित्यता और निरोध ये सब एक ही अर्थ के द्योतक है (अर्थात् मरण के नामान्तर हैं)। इस प्रकार आयु का प्रमाण बतलाया गया है। इसके विपरीत (इन्द्रिय स्थान के) अरिष्ट अधिकार में आयु के लिए अप्रमाण निर्दिष्ट है। (इस प्रकार) देह और प्रकृति के लक्षण को लेकर आयु का प्रमाण आयुर्वेद में बतलाया गया है।

इस प्रकार सुखायु, असुखायु, हितायु, अहितायु और आयु का प्रमाण जिस शास्त्र में प्रतिपादित हो वह आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद का प्रयोजन

"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०/२६

अर्थात् इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर (व्याधि से पीड़ित) मनुष्य के विकार (रोग) का शमन करना है।

महर्षि सुश्रुत ने भी आयुर्वेद का यही प्रयोजन बतलाया है—

"इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणं च ।" — सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १/१२

अर्थात् यहाँ आयुर्वेद का प्रयोजन व्याधि से पीड़ित मनुष्यों को व्याधि से मुक्त करना तथा स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना है।

स्वस्थ मनुष्यों के लिए आयुर्वेद शास्त्र में दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतुचर्या तथा तदनुसार आहार-विहार का विधान बतलाया गया है। जो उसके अनुसार आचरण करता है वह निश्चय ही स्वस्थ रहता है[1] और अपनी सुदीर्घ आयु का निरा-बाध रूप से उपभोग करता है। क्योंकि देश, काल, ऋतु और अपनी प्रकृति के अनुरूप सम्यक् आहार विहार करने से मनुष्य के शरीर में स्थित वात-पित्त-कफ ये तीनों दोष सम (प्राकृत) अवस्था में रहते हैं, जठराग्नि भी सम रहती है (अर्थात् मन्द-तीक्ष्ण आदि न्यूनाधिकता को प्राप्त नहीं होती), धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और मल (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रिया सम (अविकृत) रहती है, आत्मा-इन्द्रिय-मन सदैव प्रसन्न रहते हैं[2]। इस प्रकार जिस मनुष्य के शरीर में समस्त क्रियाएं प्राकृतिक रूप से सम्पन्न होती रहती हैं, शरीर में किसी प्रकार की विषमता नहीं होती उसका शरीर कभी विकार ग्रस्त नहीं हो सकता और वह सदैव स्वस्थ रहता है। अतः स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और इसके सम्यक् आहार विहार का उपदेश करना आयु-र्वेद का प्रथम प्रयोजन है।

मानव शरीर में वातादि दोषों में जब मिथ्या आहार-विहार या देश-काल-ऋतु वैषम्य के कारण विषमता उत्पन्न हो जाती है तो वे धातुओं को दूषित कर उन में भी विषमता उत्पन्न कर देते हैं। इससे शरीर में विकार या रोग उत्पन्न हो जाते

१—दिनचर्यां निशाचर्यामृतुचर्यां यथोदिताम् ।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा ॥

२—समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

हैं। अनेक बार प्रज्ञापराध[1] के कारण भी विविध प्रकार के रोगों की उत्पत्ति शरीर में हो जाती है। अतः औषधोपचार, लंघन आदि कर्म तथा अन्य चिकित्सा विधि के द्वारा विकारोपशमन या रोग निवृत्ति हेतु उपाय किए जाते हैं। यह भी आयुर्वेद का एक प्रयोजन है।

इस प्रकार प्रथमतः स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और यदि किसी कारणवश विकारोत्पत्ति हो जाय तो उसका उपशमन करना ये दो आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजन हैं।

महर्षि चरक के अनुसार 'धातु साम्यक्रिया' भी इस आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन है। यथा—"धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। (चरक० सूत्रस्थान १/५३)

अर्थात् धातुसाम्य क्रिया इस तन्त्र (ग्रन्थ) का प्रयोजन है।

धातु साम्य का अभिप्राय है धातुओं की समानता अर्थात् धातुओं में विषमता नहीं होना या धातुओं की वृद्धि-क्षीणता नहीं होना। जब धातुओं में वैषम्य उत्पन्न होता है तो विकारोत्पत्ति या रोगाभिनिर्वृत्ति होती है, किन्तु जब धातु धातुओं में साम्य रहता है तो आरोग्य सम्पादन होता है। यही भाव चरक के निम्न वाक्य में प्रतिपादित—

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ९/४

अर्थात् धातुओं की विषमता विकार और समता प्रकृति (स्वस्थावस्था) कहलाती हैं। आरोग्य का नाम ही सुख और विकार का नाम दुःख है।

यहां पर धातुओं की विषमता को विकार (रोग) और साम्यावस्था को प्रकृति (आरोग्य) बतलाया गया है, धातु शब्द से यहां केवल रस-रक्तादि सप्त धातुओं का ग्रहण न कर दोष-धातु-मल तीनों का ग्रहण किया गया है। जब इनमें से किसी में भी विषमता आती है तो शरीर में विकारोत्पत्ति होती है। अतः धातुओं की विषमता को दूर कर उनमें साम्य भाव रखना ही आयुर्वेद का कार्य है और इस शास्त्र का प्रयोजन भी धातुओं में साम्य प्रतिपादन करना है।

ऊपर जो आयुर्वेद के प्रयोजनों का कथन किया गया है, यह (धातु साम्य क्रिया) प्रयोजन उनसे अतिरिक्त नहीं है, अपितु उनमें ही समाविष्ट है। क्योंकि धातुओं की साम्यावस्था बनाए रखना ही 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्' है तथा धातुओं में वैषम्य भाव अर्थात् विकार उत्पन्न होने पर उस वैषम्य को दूर कर 'धातु साम्य' स्थापित करना ही "आतुरस्य विकारप्रशमनम्" है। इस प्रकार स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का प्रशमन करना ये दोनों कार्य धातुओं की समता पर ही

१—धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

निर्भर है। वस्तुतः 'धातुसाम्य' इस क्रिया में सामान्यतः आयुर्वेद के दोनों ही प्रयोजन सन्निहित हैं। अतः पृथक् से जो धातुसाम्य क्रिया आयुर्वेद का प्रयोजन बतलाया गया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि यह पूर्वोक्त दो प्रयोजनों से भिन्न तीसरा प्रयोजन है।

आयुर्वेद एक जीवन विज्ञान तो है ही, वह एक चिकित्सा शास्त्र भी है जो व्याध्युपसृष्ट लोगों की चिकित्सा कर उनके सुस्वास्थ्य सम्पादन में सहायक होता है। अतः चिकित्सा का प्रयोजन भी स्वास्थ्य की रक्षा करना है, जैसा कि आयुर्विज्ञान 'रत्नाकर' में प्रतिपादित है—

आयुस्तन्त्रे समुद्दिष्टः सुस्थो भवति यादृशः।
तस्य यद्रक्षणं तद्धि चिकित्सायाः प्रयोजनम्॥

—आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित स्वस्थ पुरुष जैसा होता है उसके स्वास्थ्य की जो रक्षा बतलाई गई है वही चिकित्सा का प्रयोजन है।

शास्त्रोक्त इन प्रमाणों से आयुर्वेद का प्रयोजन सुस्पष्ट है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब सम्यक् चिकित्सा के द्वारा विभिन्न रोगों का उपशमन होता है और रसायन-वाजीकरण आदि उपायों तथा अन्य नियमों का पालन करने से स्वास्थ्य की रक्षा होती है तो इसके परिणाम स्वरूप सुखायु, हितायु और दीर्घायु की प्राप्ति होती है। यह दीर्घायु ही चारों पुरुषार्थों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। अतः वस्तुतः सुखायु, हितायु और दीर्घायु लाभ ही आयुर्वेद का मूल प्रयोजन है। इस आयु लाभ के लिए ही आदि देव ब्रह्मा जी ने इस पुण्यतम और यशस्य आयुर्वेद की अभिव्यक्ति की है तथा उसके पश्चात् दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार, इन्द्र, भास्कर आदि देवों ने भरद्वाज, पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, धन्वन्तरि, सुश्रुत, कश्यप प्रभृति ऋषियों ने, चक्रपाणि, डल्हण, वाग्भट नागार्जुन, शाङ्गधर, भावमिश्र, प्रभृति मनीषियों और आचार्यों ने तथा अन्य अनेक विद्वानों और वैद्यों ने उसकी परम्परा को अद्यावधि अक्षुण्ण रखा है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि अन्ततः आयुर्वेद का प्रयोजन दीर्घायु की प्राप्ति कराना है। आचार्यों का भी यही अभिमत है—

"एतेनेतदुक्तं भवति यत् आयुर्वेदोक्तविधानपालनेन दीर्घायुलाभो भवति। तच्च दीर्घायुष्ट्वं धर्माद्यर्जने सहायकं भवति, अतश्च दीर्घायुलाभ एवायुर्वेदप्रयोजनमिति।"

—आयुर्विज्ञान रत्नाकर

इससे यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में प्रतिपादित विधान का परिपालन करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है, वह दीर्घायुष्य धर्मादि चतुर्वर्ग के उपार्जन में सहायक होता है, अतः दीर्घायु की प्राप्ति ही आयुर्वेद का प्रयोजन है।

धर्म आदि चार पुरुषार्थों के अर्जन में सहायक होने से ही यह आयुर्वेद पुण्य, स्वर्ग्य और यशस्य है। यह उभय लोक में हित सम्पादन करने वाला एक अपूर्व शास्त्र है। इसीलिए आचार्य वाग्भट् ने आयुर्वेदोपदेश में परम श्रद्धाभाव रखने का निर्देश किया है—

आयुः कामायमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

—अष्टांग संग्रह, सूत्रस्थान १/५

—धर्म, अर्थ और सुख प्राप्ति का साधनभूत आयु (सुखायु, हितायु और दीर्घायु) प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को आयुर्वेद में दिए गए उपदेशों में परम आदर (श्रद्धाभाव) रखना चाहिए।

आयुर्वेद का अधिष्ठान

पूर्व में आयुर्वेद का जो प्रयोजन बतलाया गया है वह मनुष्य के शरीर को लक्ष्य करके बतलाया गया है। अर्थात् स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का उपशम करना ये दोनों क्रियाएँ केवल मनुष्य शरीर में ही सम्भव हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आयुर्वेद शास्त्र का प्रणयन मनुष्य मात्र के लिए ही किया गया है। पूर्व में आयु के प्रकरण में चैतन्यानुवृत्ति को ही आयु कहा गया है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह चैतन्य किसमें रहता है अथवा उस चैतन्य का अधिष्ठान कौन है? इसके उत्तर में कहा गया है कि चैतन्य का अधिष्ठान पुरुष है। उसी में चेतना का अनुवर्तन होता है और वही आयु का धारक होता है। स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगों की चिकित्सा करना यह मात्र पुरुषाश्रित है। इन दोनों क्रियाओं का अधिष्ठान पुरुष होने से आयुर्वेद का अधिष्ठान पुरुष ही है। आयुर्वेद में पुरुष शब्द से क्या ग्रहण किया गया है इसका प्रतिपादन महर्षि सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—

"अस्मिस्तु शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानं, कस्मात्? लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः स्थावरो जंगमश्च द्विविधात्मक एवाग्नेयः सौम्यश्च, तद्भूयस्त्वात् पंचात्मको वा, तत्र चतुर्विधो भूतग्रामः स्वेदजाण्डजोद्भिज्जरायुजसंज्ञः, तत्र पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत् तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम्।" — सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थान १/२०

—इस (आयुर्वेद) शास्त्र में पांच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) और (समनस्क) आत्मा इन छह तत्वों के संयोग का नाम पुरुष है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है और यही पुरुष (चिकित्सा-कर्म-फल का) अधिष्ठान है। क्योंकि यह लोक (जगत या सजीव सृष्टि) दो प्रकार का है—स्थावर और

जंगम। उष्ण तथा शीत की अधिकता के अनुसार आग्नेय और सौम्य ऐसा भी दो प्रकार का है, अथवा पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय इस प्रकार पंचात्मक है। स्थावर-जंगमात्मक सृष्टि में स्वेदज, अण्डज, उद्भिज और जरायुज ऐसे चार प्रकार के जीव हैं। इन सब में मनुष्य प्रधान (उपकार्य) है और अन्य सब उसके उपकरण हैं; इस कारण से मनुष्य समस्त चिकित्सा का आधार है।

इस सूत्र में प्रारम्भ में आयुर्वेदाभिमत चिकित्साधिष्ठानभूत पुरुष की संक्षेपतः परिभाषा बतलाई गई है। महर्षि चरक द्वारा भी षड्धात्वात्मक पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है। यथा—

"षड्धातवः समुदिताः पुरुषः' इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः पुरुषः इति शब्दं लभन्ते।"

—चरकसंहिता, शारीरस्थान ५/७

—छह धातुएं मिलकर 'पुरुष' शब्द को प्राप्त करती हैं। जैसे—पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश और अव्यक्त ब्रह्म। ये ही षड् धातुएं मिलकर 'पुरुष' इस संज्ञा को प्राप्त करती हैं।

पूर्व सूत्र में जो लोक शब्द का प्रयोग हुआ है उससे यहां केवल, सजीव सृष्टि का ग्रहण किया जाना चाहिए। महर्षि चरक के निम्न वचन से भी यही भाव ध्वनित होता है—

सत्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः॥

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान १/४६-४७

—तिपाई के तीन दण्ड के समान सत्व, आत्मा और शरीर हैं। इनके संयोग से यह लोक अर्थात् सजीव सृष्टि अवस्थित है और इसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है।

जिस प्रकार तिपाई के ऊपर घड़ा स्थित रहता है या घड़े का आधार तिपाई होती है और अपने ऊपर रखे हुए सभी प्रकार के भार को वहन करने में समर्थ रहती है, उसी प्रकार सत्व (मन), आत्मा और शरीर ये तीनों ही इस लोक के आधार स्तम्भ हैं और इन तीनों का संयोग ही लोक कहलाता है। लोक शब्द यहां सजीव सृष्टि या जगत्-संसार वाची है। लोक शब्द का अर्थ-लोक्यते (आलोक्यते) इति लोकः"—'लोकृ दीप्तौ' धातु है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लोक शब्द से जंगम मात्र का ही बोध होता है।

यहाँ पर सत्व से मन, आत्मा से चेतना धातु और शरीर से पंच महाभूत समुदाय का ग्रहण किया गया है। सामान्यतः मन और आत्मा का कभी पृथग्भाव नहीं होता, ये सदैव एक साथ ही रहते हैं। इसलिए आयुर्वेद में कहीं कहीं आत्मा और मन को एक ही मानकर पंचमहाभूत से संयुक्त होने पर षड् धातुज संयोग को लोक माना गया है। जैसे चरकसंहिता, शारीरस्थान ५/४, सुश्रुत संहिता सूत्र० १/२० आदि में।

सत्व, आत्मा और शरीर इन तीनों का संयोग ही चेतन पुरुष होता है और वही चेतन पुरुष इस आयुर्वेद शास्त्र का अधिकरण (चिकित्सा का विषय) है। इसी सत्वादि विशिष्ट पुरुष (लोक) के लिए यह आयुर्वेद शास्त्र प्रकाशित किया गया है।

जिसकी चिकित्सा की जाती है वही चिकित्सा का अधिष्ठान होता है। चिकित्सा के अधिष्ठान के पूर्ण ज्ञान के विना चिकित्सा में पूर्ण सफलता प्राप्त होना सम्भव नहीं है। दर्शन शास्त्र में चिकित्सा का अधिष्ठान केवल समनस्क आत्मा प्रतिपादित किया गया है। चार्वाकवादी या भौतिकवादी लोगों की दृष्टि से चिकित्साधिष्ठान केवल पाञ्च- भौतिक शरीर होता है। आयुर्वेद ने दोनों का समन्वय करके समनस्क आत्मा और पाञ्च भौतिक शरीर इनके समवाय को चिकित्सा का अधिष्ठान माना है। क्योंकि न तो पाञ्च भौतिक शरीर विरहित केवल समस्क आत्मा की चिकित्सा सम्भव है और न ही समनस्क आत्मा विरहित केवल निर्जीव भौतिक शरीर की चिकित्सा संभव है। सचेतन शरीर की ही चिकित्सा सम्भव होने से वही चिकित्सा का अधिष्ठान है और उसी के स्वास्थ्य की रक्षा किया जाना सम्भव है। अतः आयुर्वेद का अधिष्ठान भी वही सचेतन शरीर युक्त पुरुष है।

जब किसी मनुष्य के शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न होती है तो उसकी चिकित्सा किए जाने पर सामान्यतः यही समझा जाता है कि रोग की चिकित्सा की जा रही है, किन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि कुष्ठ आदि रोग मृत शरीर में भी विद्यमान रहते हैं, परन्तु उनकी चिकित्सा कोई नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि रोगी की चिकित्सा की जाती है तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि रोगी के शरीर, मन या आत्मा- इसमें से किसकी चिकित्सा की जाती है ? आत्मा निर्विकार है, उसको न रोग होता है और न उसकी चिकित्सा ही सम्भव है। मन और शरीर दोनों अचेतन हैं, अचेतन में सुख-दुःख दोनों की अनुभूति नहीं हो सकती। इसलिए अचेतन इन दोनों में कष्टदायी रोग उत्पन्न होना भी सम्भव नहीं है और न ही आत्मा रहित शरीर या मन की चिकित्सा सम्भव है। इन सभी शंकाओं की निवृत्ति के लिए महर्षि सुश्रुत ने जिसको रोग होते हैं और जिसकी चिकित्सा की जाती है उस पुरुष का लक्षण बतलाया है—पंचमहाभूत के समुदाय से उत्पन्न शरीर, मन और जीवात्मा का जो संयोग है वह पुरुष कहलाता है।

इस पुरुष के ही स्वस्थ शरीर के स्वास्थ्य के रक्षण के लिए विविध उपाय किए जाते हैं। अतः आयुर्वेद का अधिष्ठान यही पुरुष है।

यद्यपि "पंचमहाभूत और जीवात्मा का जो समवाय हो वह पुरुष कहलाता है"—इस लक्षण से हाथी-घोड़ा-गाय आदि पशुओं, चिड़िया-तोता-कबूतर आदि पक्षियों तथा बड़, पीपल आदि उद्भिजों का भी ग्रहण (बोध) उनके पंचमहाभूत और जीवात्मा के संयोग से उत्पन्न होने के कारण पुरुष शब्द से हो सकता है, तथापि पुरुष शब्द का प्रयोग यहाँ मनुष्य मात्र के लिए विशेषार्थ में किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्थावर और जंगम भेद से सृष्टि दो प्रकार की है। इसमें जंगम सृष्टि स्वेदज-अण्डज-उद्भिज्ज-जरायुज भेद से चार प्रकार की है। इस चार प्रकार की सृष्टि में पुरुष-मनुष्य उपकार्य-उपभोक्ता होने से प्रधान है तथा अन्य सम्पूर्ण (स्थावर-जंगम) सृष्टि पुरुष-मनुष्य के उपकरण-भोग के साधन होने से अप्रधान है। प्राणियों में बुद्धि-जीवी प्राणि श्रेष्ठ हैं। बुद्धिमान प्राणियों में भी मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल और प्रभाव तथा बुद्धि चातुर्य से अन्य सम्पूर्ण स्थावर जंगम सृष्टि का उपकरण भोग साधन के रूप में उपयोग कर सकता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि में प्रधान् होने से मनुष्य इस आयुर्वेद (आयुर्वेदोक्त रोग, स्वास्थ्यरक्षक और रोग निवर्तक दो प्रकार की चिकित्सा तथा दोनों प्रकार की चिकित्सा के फल रूप आरोग्य) का अधिकरण-आश्रय-प्रतिपाद्य विषय) है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मात्र आयुर्वेद का अधिष्ठान पुरुष-मनुष्य है उसी प्रकार गजायुर्वेद का अधिष्ठान गज (हाथी), अश्वायुर्वेद का अधिष्ठान अश्व और वृक्षायुर्वेद का अधिष्ठान उद्भित् है।

आयुर्वेद में योग का स्वरूप

आयुर्वेद यद्यपि जीवन विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के रूप में जाना जाता है, तथापि मनोविज्ञान और आध्यात्मिक विषयों की भी उसमें व्यापकता है। यही कारण है कि केवल प्रसंगवश ही नहीं, अपितु व्यवस्थित रुप से मानस शास्त्र एवं आध्यात्मिक विषयों का विवेचन आयुर्वेद में मिलता है। सम्पूर्ण आयुर्वेद भारतीय दार्शनिक विचार धारा से अनुप्राणित होने के कारण तथा मानस व्यापार एवं आध्यात्मिक विषयों से आयुर्वेदीय चिकित्सा का निकटतम सम्बन्ध होने से इन विषयों का व्यवस्थित विवेचन और प्रतिपादन आयुर्वेद में होना स्वाभाविक है। आयुर्वेद ने भारतीय दर्शन शास्त्र एवं अध्यात्म शास्त्र से अनेक महत्वपूर्ण कणों को लेकर आत्मसात् किया है। योग शास्त्र स्वयं एक दार्शनिक विचार पद्धति और अध्यात्म विद्या की अनुशीलनात्मक परम्परा का समन्वित रूप है। अतः उसके द्वारा आयुर्वेद को प्रभावित किया जाना सहज स्वभाविक है। यही कारण है कि आयुर्वेद में यत्र तत्र योग शास्त्र के बीज पर्याप्त रुप से मिलते हैं।

मन और आत्मा के विषय में गंभीर अनुचिन्तनात्मक विचार योगशास्त्र में मिलते हैं। मन और आत्मा सम्बन्धी ऐसा कोई विषय नहीं है जिसे योगशास्त्र में प्रतिपादित नहीं किया गया हो। क्योंकि योग और मोक्ष का पूरा सम्बन्ध मन और आत्मा से है। आयुर्वेद में योग और मोक्ष को मन और आत्मा से सम्बन्धित मानते हुए इन दोनों का पर्याप्त विवेचन किया गया है। आयुर्वेद में बहुत ही सुन्दर ढंग से योग का स्वरुप बतलाया गया है, जो निम्न प्रकार है—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान १/१३८-१३९

—आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ (इन्द्रियों के विषय) के सन्निकर्ष से सुख और दुःख दोनों होते हैं। जब मन आत्मा में स्थिर हो जाता है तो उसके द्वारा कोई कार्य न होने (अनारम्भ होने) से सुख और दुःख निवृत्त (निर्वर्तित) हो जाते हैं, तब शरीर के साथ मन वशी हो जाता है। योग को जानने वाले (योगीजन) इसे ही योग कहते हैं।

यहाँ महर्षि चरक ने मन के 'वशित्व' होने को योग की संज्ञा दी है। संसार में मन को सबसे अधिक चंचल माना गया है। सभी प्रकार के दुःख और सुख का मूल एक मात्र मन ही है। अहित विषयों में इन्द्रियों के माध्यम से मन की प्रवृत्ति होना दुःख का और हित विषयों में प्रवृत्ति होना सुख का कारण है। आयुर्वेद में एवं दर्शन शास्त्र में सुखानुभूति को अनुकूल वेदना और दुखानुभूति को प्रतिकूल वेदना माना गया है। मन की अस्थिरता और चंचलता के कारण विभिन्न विषयों में उसकी प्रवृत्ति होती रहती है जिससे आत्मा में कर्मसंचय होता है और उसके परिणामस्वरुप सुख या दुःख की प्रवृत्ति होती है। सतत अभ्यास और साधना के द्वारा मन जब आत्मा में स्थिर हो जाता है तब उसकी समस्त प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं और उसकी निश्चलता तथा अनारम्भ (कोई कार्य न करने की प्रवृत्ति) के कारण सुख और दुख का अनुभव भी नहीं होता है। इसी को मन का 'वशित्व' (वश में) होना कहते हैं। इस अवस्था में अनुकूल वेदना (सुख) और प्रतिकूल वेदना (दुःख) का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसे ही 'योग' कहा जाता है।

योग के स्वरूप विवेचन के सन्दर्भ में महर्षि चरक का यह कथन विशेष महत्व-पूर्ण है कि योग में केवल मन ही वशी नहीं होता है अपितु शरीर भी वशी होता है (सशरीरस्य (मनसः) वशित्वं चोपजायते)। इसका कारण यह है कि उनके (चरक के) अनुसार योग की स्थिति में सभी प्रकार की वेदनाओं, चाहे वे अनुकूल वेदना (सुख) हों अथवा प्रतिकूल वेदना (दुःख) हों का अभाव हो जाता है। सभी वेदनाओं का अधि-ष्ठान मन और सेन्द्रिय शरीर होता है। योगावस्था में सभी वेदनाओं का अवर्तन (नाश) केवल मन में ही नहीं होता अपितु शरीर में भी होता है। अतः उस अवस्था में मन और शरीर दोनों का वशित्व होना आवश्यक है। इस प्रसंग में चरक का निम्न कथन दृष्टव्य है—

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥
योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१३६-१३७

—केश, लोम, नख का अग्रभाग, अन्न का मल (पुरीष) द्रवों (मूत्र-स्वेद) के गुणों को छोड़कर इन्द्रिय सहित सम्पूर्ण शरीर और मन सभी वेदनाओं (सुख-दुख) का अधिष्ठान है। योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त (मन) की पाँच वृत्तियाँ बतलाई हैं और उनका निरोध करने को योग की संज्ञा दी है। उनके अनुसार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त की वृत्तियों के रुक जाने से सुख या दुःख-जनक किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं होता है। इस अवस्था को ही महर्षि चरक ने आत्मा में मन की स्थिरता और शरीर एवं मन का वशीभूत होना कहा है।

पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद के अनुसार योग सिद्धि के अनन्तर ही आत्मा की मुक्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः योग और मोक्ष ये दोनों सर्वथा भिन्न अवस्थाएं हैं। योगावस्था में तो मनुष्य का शरीर भी विद्यमान रहता है, शरीर में मन, इन्द्रियां और आत्मा भी विद्यमान रहती है। किन्तु शरीर और मन ये दोनों आत्मा के वशीभूत रहते हैं। इसके विपरीत मोक्ष में तो न शरीर होता है और न मन व इन्द्रियां होती हैं। आत्मा इन सब से सर्वथा मुक्त हो जाता है। आयुर्वेद में मोक्ष का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया गया है-

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१४२

मन से रज और तम का अभाव होने से, बलवान कर्मों का क्षय होने से सभी प्रकार के कर्म संयोग से आत्मा का जो वियोग है वही मोक्ष है और उसे ही 'अपुनर्भव' कहते हैं।

योग की समाधि अवस्था में मन से रज और तम का सर्वथा अभाव हो जाता है और मन में केवल सत्व गुण का उत्कर्ष रहता है। तब आरम्भ नहीं होने से नवीन कर्म का संयोग या बन्धन आत्मा में नहीं होता है तथा समाधि के द्वारा एवं ज्ञानोत्कर्ष से पूर्वोपार्जित बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार अन्त में जब सभी संयोग-कर्मबंधनों से आत्मा रहित हो जाता है तो वह संसार से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है—यही मोक्ष है। उस आत्मा में सभी कर्म निःशेष हो जाते हैं, अतः उसे कर्मफल भोग के निमित्त पुनः इस संसार में नहीं आना पड़ता है, अर्थात् पुनः उसे शरीर धारण करने हेतु जन्म नहीं धारण करना पड़ता है और जन्म धारण नहीं करने से मरण भी उसका नहीं होता है। पुनः पुनः जन्म धारण नहीं होने से यह अपुनर्भव कहलाता है।

आयुर्वेद के अनुसार उपर्युक्त रूप से प्रतिपादित मोक्ष का साधन योग ही है। योगियों ने योग को ही मोक्ष का उत्तम साधन बतलाया है। यही भाव महर्षि चरक द्वारा और अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया गया है। यथा—

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागता॥
अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभि:।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥

—चरकसंहिता, शारीरस्थान १/१५०-१५१

—जीवनमुक्त पुरुषों के द्वारा मोक्ष का यह मार्ग बतलाया गया है। जिस व्यक्ति के द्वारा योग ज्ञान या योग-साधना से तत्व स्मृति का बल प्राप्त कर लिया गया है तब इस मार्ग से जाने वाले अर्थात् योगसिद्धि और मोक्ष प्राप्ति करने वाले वे लोग पुनः (जन्म लेकर) इस संसार में नहीं आए। योगी जनों के द्वारा यह तत्वस्मृति बल योग का मार्ग कहा गया है और धर्म के मर्म को जानने वाले परम ज्ञानी मुक्त पुरुषों के द्वारा यह (तत्वस्मृति बल) मोक्ष का अयन (मार्ग) कहा गया है।

आयुर्वेद में जहां योग को मुक्ति का साधन बतलाया गया है वहां मुक्ति से पूर्व योगी को प्राप्त होने वाली विभिन्न सिद्धियों का उल्लेख भी किया गया है। तात्पर्य यह है कि जब साधक अष्टांग योग के द्वारा साधना में तत्पर होता है तब अंतिम अवस्था अर्थात् योग की सिद्धि होने पर योगी में कुछ इस प्रकार के विशिष्ट लक्षण उत्पन्न होते हैं जो सामान्य मनुष्य में साधारणतः नहीं पाए जाते। इसे योगियों की स्वाभाविक शक्ति या योग बल कहा जाता है। आयुर्वेद के अनुसार आठ प्रकार बल या विशेष शक्ति योग सिद्धि होने पर योगियों को प्राप्त होती है जो निम्न प्रकार है—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्वसमाधानात्तत् सर्वमुपजायते॥

—चरकसंहिता, शरीरस्थान १/१४०-१४१

—आवेश (दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), चेतसो ज्ञानम् (दूसरे के मन की बात को जानना), अर्थानां छन्दतः क्रिया (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध इन इन्द्रियार्थों को स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्त करना) अर्थात् योगी जिस अर्थ को प्राप्त करना चाहे अथवा जिस अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना चाहे अपने मन के अनुकूल उसका ज्ञान भी प्राप्त हो जाय। दृष्टि (अतीन्द्रिय वस्तुओं को देखने की शक्ति), श्रोत्र (श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अभीष्ट

शब्दों चाहे वे कितनी ही दूर के क्यों न हों का ग्रहण करना) स्मृति (स्मरण शक्ति की वैष्ट्यियुक्त सम्पन्नता), कान्ति (शरीर का विशिष्ट दैवी कान्ति से युक्त होना) और इष्टतश्चाप्यदर्शनम् (अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर को गोपनीय बना लेना और फिर प्रकट करना) यह आठ प्रकार का ईश्वरीय बल योगियों को प्राप्त होता है। योगाभ्यास के द्वारा सत्व (मन) के शुद्ध होने (रजोगुण और तमोगुण के रहित होने) से उपर्युक्त सभी प्रकार की सिद्धि योगियों को प्राप्त होती हैं।

वस्तुत: योगियों की ये स्वाभाविक शक्ति हैं जो योगसिद्धि होने पर स्वतः प्रकट होती है। या यों कहा जा सकता है कि साधनारत साधक को जब योग की सिद्धि होती है तो इन लक्षणों से उसका परिचय मिलता है। यहाँ आयुर्वेद शास्त्र में योगियों की केवल अष्टविध सिद्धियों का वर्णन किया गया है, किन्तु योगशास्त्र में तेईस सिद्धियाँ बतलाई गई हैं जो निम्न प्रकार हैं —

पाँच शुद्ध सिद्धियाँ— त्रिकालज्ञत्व, अद्वन्द्व, परिचिताद्यभिज्ञता, अग्न्यर्काम्बुविषादि का स्तंभ और अपराजय।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचिताद्यभिज्ञता।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां स्तम्भश्चाप्यपराजयः॥

गुण प्रधान दस सिद्धियां—

अस्मिन् देहेऽनूर्मिमत्वं दूरश्रवणदर्शनम्।
मनोजवित्वं कामरूपं परकायप्रवेशः स्वेच्छामृत्युर्देवक्रीडानुदर्शनम्।
यथासंकल्पसिद्धिराज्ञासिद्धिरव्याहतगतिः।

आठ ब्रह्मप्रधानसिद्धियाँ—"अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्यम्, ईशित्वं, वशित्वं कामावसायिता च।"

इस प्रकार योगशास्त्र में योग सिद्धियों का उल्लेख मिलता है। आयुर्वेद में जो योग सिद्धियां बतलाई गई हैं वे वस्तुत: सामान्य योग सिद्धियाँ हैं जिन्हें साधक अल्पायास के द्वारा ही योग सिद्ध कर लेने पर प्राप्त कर सकता है। अतः योगियों के जो सामान्य कार्य होते हैं उनके अनुसार ही यहां योगियों का बल बतलाया गया है। इससे ऐसा लगता है कि यह अष्टविध बल योग सिद्धि से भिन्न होना चाहिए।

—०—

योग और आयुर्वेद

योग दर्शन या योगशास्त्र सांख्य का ही व्यवहारिक या क्रियात्मक रूप माना जाता है जिसमें आत्म-साक्षात्कार या परम ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयोगात्मक विधियाँ निर्देशित की गई हैं। अध्यात्म विद्या के आधारभूत सैद्धान्तिक पक्ष को क्रियात्मक रूप एवं प्रयोग के द्वारा योग शास्त्र ने जितना सुगम और सर्वजनोपयोगी बनाकर मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त किया है उतना किसी अन्य शास्त्र ने नहीं किया। प्रारम्भिक स्थिति में योग या यौगिक क्रियाओं का सम्बन्ध शरीरमात्र या शारीरिक अंगों से रहता है। किन्तु जैसे जैसे योगाभ्यास का विकास होता जाता है वैसे वैसे उसका सम्बन्ध अन्तःकरण और बुद्धि से होता जाता है। अर्थात् यौगिक क्रियाएं मन और बुद्धि को प्रभावित कर अद्भुत रूप से उसका विकास करती हैं। मन और बुद्धि के चरम विकास के बाद योगाभ्यास आत्मा के प्रदेशों का स्पर्श कर उनके कालुष्य का निराकरण कर उन्हें निर्मलता प्रदान करता है जिससे आत्मा में निर्मल ज्ञान ज्योति उद्भासित होती है। समस्त प्रकार के शुभाशुभ कर्मों का क्षय होने के कारण समुत्पन्न अद्भुत ज्ञानालोक के द्वारा जब वह आत्मा संसार के समस्त भूत-वर्तमान-भविष्य कालीन भावों को जानने व देखने लगता है तब वह इस भौतिक शरीर का परित्याग कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है और परमब्रह्म में लीन हो जाता है। यही उसका परम लक्ष्य है।

आयुर्वेद एक सम्पूर्ण जीवन है जिसमें मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का अपूर्व सामञ्जस्य है। आयुर्वेद यद्यपि मुख्यरूप से आरोग्य शास्त्र एवं चिकित्सा शास्त्र के रूप में जाना जाता है, किन्तु वह वस्तुतः सम्पूर्ण जीवन विज्ञान शास्त्र है जिसमें मनुष्य का चरम लक्ष्य उसके शरीर में स्थित आत्मा को सांसारिक कर्मबन्धन से मुक्त करना प्रतिपादितत है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक विज्ञ एवं प्रबुद्ध जन प्रयत्नशील रहते हैं। आत्मा को मुक्ति पथ पर अग्रसर करने के लिए शरीर ही एकमात्र साधन है। शरीर के द्वारा विहित प्रत्येक कर्म और शरीर की प्रत्येक स्थिति आत्मा को प्रभावित किए बिना नहीं रहती। अतः आत्मा के मोक्ष साधन के लिए शरीर का निरोग होना नितान्त आवश्यक है। आरोग्य के बिना पारलौकिक तो क्या इहलौकिक

कार्य की सिद्धि होना भी सम्भव नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का मूल आरोग्य बतलाया है —"**धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ।**"

आयुर्वेद शास्त्र उसी शरीर के आरोग्य को यथावत् बनाये रखने के लिए नियम, आचरण आहार-विहार आदि का उपदेश करता है, ताकि तदनुकूल आचरण के द्वारा मनुष्य स्वस्थ रहता हुआ अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सके। यदि कदाचित् मनुष्य असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग अर्थात् मिथ्या आहार, विहार, प्रज्ञापराध अथवा काल-परिणाम आदि के कारण वेदना ग्रस्त या व्याधिपीडित हो जाता है तो उसके विकारोपशमन के लिए विभिन्न उपायों का उपदेश भी आयुर्वेद शास्त्र में किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेद के दो मुख्य प्रयोजन हैं--स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी मनुष्य के रोग का उपशमन करना। महर्षि चरक ने भी इस विषय में स्पष्टतः प्रतिपादित किया है—

"**प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च ।**"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ३०।२६

इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र मनुष्य के आरोग्य साधन में सहायक होता है, ताकि मनुष्य अपने आरोग्यवान् शरीर के द्वारा अपनी आत्मा के कल्याणार्थ मोक्ष-साधन में प्रवृत्त हो सके। इसी भांति योग शास्त्र भी अपने प्रारम्भिक अंगों यम-नियम-आसन-प्राणायाम के द्वारा आचरण की शुद्धता, शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा, विकारोपशमन, मानसिक द्वन्द्वों के निराकरण और बौद्धिक विकास के कार्य को प्रशस्त करता है। इन प्रारम्भिक अवस्थाओं को पार किए बिना मनुष्य आत्म-कल्याण रूप अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।

योग शास्त्र में मोक्ष के प्रारम्भिक साधन के रूप में यम और नियम का प्रतिपादन किया गया है। यम पांच होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन यम-नियम प्रकरण के अन्तर्गत किया जाएगा। किन्तु यहां इतना बतला देना आवश्यक है कि यम और नियम का पालन करने से मनुष्य के आचरण में शुद्धता आती है, मन में सात्विक भाव का उदय होता है और आत्मा में निर्मलता की वृद्धि होकर कलुषता का विनाश होता है। इस प्रकार शनैः शनैः मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। आयुर्वेद शास्त्र में भी आचरण सम्बन्धी कुछ इस प्रकार के नियमों का प्रतिपादन किया गया है जो मोक्ष के साधनभूत प्रारम्भिक उपाय हैं और जिन का आचरण करने से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। महर्षि चरक ने उनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया है---

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।
व्रतचर्योपवासौ च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥

धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः पराधृतिः ।।
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः ।
नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम् ।।
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्वपरीक्षणम् ।
तत्वस्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत् प्रवर्तते ।।

— चरकसंहिता, शारीरस्थाम १/१४३-१४६

—सज्जनों की अच्छी प्रकार से सेवा करना, दुष्टजनों का साथ नहीं करना, चान्द्रायण आदि व्रतों का धारण व पालन करना, आत्मशुद्धि के लिए उपवास करना अलग अलग बतलाए हुए हुए नियमों का पालन करना, धर्मशास्त्रों का अभ्यास, स्वाध्याय व अनुशीलन करना, विज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना या विशिष्ट निर्मल ज्ञान प्राप्त करना, निर्जन-एकान्त स्थान में निवास करना, चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानसिक विकार भावों में रति नहीं करना, मोक्ष साधक कर्मों में प्रवृत्ति रखना, उत्तम धैर्य धारण करना, नित्य और नैमित्तिक तथा धर्म और अधर्म के साधन भूत कर्मों का प्रारम्भ नहीं करना, पूर्वजन्म में उपार्जित और इस जन्म में विहित कर्मों को क्षय करने का उपाय करना, जीवन को कर्महीन बनाना अर्थात् घर या आश्रम से दूर होकर कर्मफल भोगने के लिए नए कर्म नहीं करना—निष्कर्म रहना—अहंकार रहित होना, आत्मा और शरीर का संयोग होने पर अपने को भयभीत बनाना अर्थात् यह भय रखना कि कर्म बन्धन के कारण कहीं मुझे पुनर्जन्म न लेना पड़े, मन और बुद्धि को समाधिस्थ करना, अर्थ के तत्वों की परीक्षा करने के बाद उसका ग्रहण करना, ये सभी ठीक ठीक स्मृति ज्ञान की प्राप्ति से ही प्रवृत्त होते हैं।

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते ।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ।।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१४७

—उपर्युक्त मोक्ष के जो साधन बतलाए गए हैं उसमें 'सतामुपासनम्' से लेकर 'परा धृति' तक नियमों का पालन व आचरण करने से 'स्मृति' उत्पन्न होती हैं। संसार में स्थित भाव द्रव्यों के स्वभाव का स्मरण करके तथा स्वभाव को स्मरण करते हुए दुःख से मुक्त हो जाता है। अर्थात् सांसारिक दुःखों से मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार चरक के अनुसार मोक्ष के साधन में स्मृति विशेष महत्वपूर्ण है।

सामान्यतः पूर्वापर के विषयों को ध्यान में रखना ही स्मृति है, यथा-"अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।" अथवा "अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।" (योगसूत्र १/११) अर्थात् अनुभव किए हुए विषयों को नहीं भूलना ही स्मृति है। संसार में रज और तम से युक्त मन के द्वारा जो भी कार्य किए जाते हैं वे सब दुःखदायी और सांसारिक कष्टों के कारणभूत होते हैं। सतामुपासनम् आदि आचरण करने से स्मृति उत्पन्न होती है और विगत दुःखों के अनुभव का स्मरण करते हुए सभी कार्यों को दुःखरूप मानकर धीरे-धीरे छोड़ देने से सुखोत्पादक ईश्वर की धारणा-ध्यान-समाधि में मन लग जाता है। जिससे उसे चिदानन्द रूप परम ब्रह्म की प्राप्ति होती है। अतः स्मृति भी सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का एक साधन है।

अष्टांग योग का सतत अभ्यास करने से अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है—ऐसा योगाचार्यों का अभिमत है। आयुर्वेद में भी इसी तथ्य को स्वीकार किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार मन और इन्द्रियों सहित शरीर ये दोनों सभी प्रकार के कष्टों दुखों, रोगों और वेदनाओं का अधिष्ठान हैं। आत्मा का निवास भी इन्द्रिय और समनस्क शरीर में होता है। अतः शरीर और मन के द्वारा किए जाने वाले कर्मों का फल भी उसी आत्मा को भोगना पड़ता है। जब तक आत्मा सभी कर्मों से रहित नहीं हो जाता तब तक इस संसार से उसकी मुक्ति संभव नहीं है। मोक्ष होने पर सभी प्रकार के दुःखों-रोगों वेदनाओं का अभाव हो जाता है। मोक्ष का साधन एकमात्र योग के द्वारा सम्भव है। इसीलिए महर्षि चरक ने योग को मोक्ष प्रवर्तक बतलाया है। यथा—

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना॥
योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥

—चरक संहिता, शारीरस्थान २/१३६-१३७

केश, लोम, नख अग्रभाग, अन्न का मल (पुरीष), द्रवों (स्वेद-मूत्र) के गुणों को छोड़कर इन्द्रिय सहित शरीर और मन वेदनाओं का अधिष्ठान है। योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं का नाश हो जाता है। मोक्ष में वेदनाओं की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक होता है।

"योगो मोक्षप्रवर्तकः" महर्षि चरक का यह वाक्य अपने आप में विशेष महत्व रखता है। इसके अनुसार योग मोक्ष को दिलाने वाला होता है। योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने योग का जो लक्षण बतलाया है उसके अनुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—चित्त (मन) की वृत्ति को रोकने का नाम योग है। समाधि अवस्था में जब मन की

समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब रज और तम जो मन के दोष हैं उनका स्वयं ही मन से वियोग अर्थात् अभाव हो जाता है—इसी अवस्था को योग कहते हैं। इस योगावस्था में मनुष्य की आत्मा पूर्णतः निर्मल और विशिष्ट ज्ञानालोक से प्रकाशमान हो जाती है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी प्रकार के योग का उपदेश दिया था—

समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।
बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ॥
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।
विविक्तसेवी लघ्वासी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।
ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा न शोचति न कांक्षति ॥

—भगवद् गीता, १८

—हे कौन्तेय ! ज्ञान की जो उत्कृष्ट निष्ठा है उसे तू मुझ से समझ। विशुद्ध बुद्धि से युक्त स्वयं को नियन्त्रित करके शब्दादि इन्द्रियों से विषयों का परित्याग कर तथा राग-द्वेष को हटाकर एकान्तवासी, मिताहारी, मन-वचन-काय को वश में करके जो नित्य ध्यान योग में तत्पर रहता हुआ वैराग्य की ओर उन्मुख रहता है वह अहंकार, बल, दर्प, (मिथ्याभिमान), काम, क्रोध और परिग्रह से मुक्त होकर मोह-ममता रहित शान्त हुआ ब्रह्मपद को पाने का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मभूत हुआ वह प्रशान्तात्मा न तो कोई शोक (दुःख) करता है और न कुछ कामना करता है, अर्थात् उसके सुख-दुख, इच्छा द्वेष आदि का नाश हो जाता है।

महर्षि चरक के पूर्वोक्त वचन से एक यह बात भी स्पष्ट होती है कि मोक्ष से पूर्व की अवस्था को ही योग कहते हैं और वही योग मोक्ष का साधन है। योग के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार मोक्ष और योग ये दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। इसका स्पष्ट संकेत चरक के पूर्वोक्त "योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।" इस वाक्य से मिलता है उनके अनुसार योग और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में सभी प्रकार की वेदनाओं दुखों (रोगों) की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। किन्तु योग ही मोक्ष नहीं है, अपितु योग के बाद की अन्तिम अवस्था मोक्ष है। योगावस्था में जो समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध अथवा समस्त वेदनाओं का अवर्तन (नाश) होता है वह सशरीर अवस्था में होता है। मोक्षावस्था में तो इस भौतिक शरीर का भी विनाश हो जाता है अर्थात् शरीर का त्याग करने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। तब यह

आत्मा समस्त शारीरिक बन्धनों से मुक्त जाता है। उसे पुनः पुनः जन्म-मरण धारण करने के लिए संसार में नहीं आना पड़ता है। यही मोक्ष है और यही इस आत्मा का चरम लक्ष्य है। आयुर्वेद के अनुसार योग मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम योग की सिद्धि होना अनिवार्य है। योग सिद्धि के बिना मोक्ष की प्राप्ति अथवा आत्मा की मुक्ति होना संभव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि आयुर्वेद में योग को पर्याप्त महत्व दिया गया है और योग के सिद्धान्तों का वह पूर्णतः अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट है कि योगशास्त्र में प्रतिपादित चरम लक्ष्य को आयुर्वेद शास्त्र में भी उसी रूप में स्वीकृत किया गया है। योगशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों एवं व्यवहारिक बातों को आयुर्वेद में यथावत् रूप से ग्रहण कर लिया गया है। अतः योग और आयुर्वेद का अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध है। जिस प्रकार योग शास्त्र में यम और नियम के द्वारा शारीरिक और मानसिक आचरण की शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में प्रतिपादित पूर्वोक्त 'सतामुपासनं सम्यगसता परिवर्जनम्' आदि आचरण के अतिरिक्त निम्न 'आचार रसायन' भी विशेष महत्वपूर्ण है, जिसमें सामान्य मनुष्य को सदाचरण का अनुशीलन, सद्गुणों का ग्रहण और सत्कर्मों को करने की प्रेरणा मिलती है—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात्।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम्॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम्॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं कारुण्यवेदिनम्।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम्॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहंकृतम्।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यं रसायनम्॥

—चरक संहिता, चिकित्सास्थान १/४/३०-३४

—सत्य बोलने वाले, क्रोध नहीं करने वाले, मद्य सेवन और मैथुन से दूर रहने वाले, हिंसा नहीं करने वाले, श्रम नहीं करने वाले, शान्त रहने वाले, प्रिय बोलने वाले, जप और पवित्रता में तत्पर, धैर्यवान्, नित्य दान करने वाले, तपस्वी, देव, गो, ब्राह्मण आचार्य, गुरु और वृद्धजनों की पूजा (सेवा) में तत्पर रहने वाले, सदैव क्रूरता से दूर रहने वाले, सदैव करुणापूर्ण हृदय वाले, यथोचित समय तक जागृत रहने और यथा

समय शयन करने वाले, देश, काल और प्रमाण (अथवा देश और काल के प्रमाण) को जानने वाले, युक्ति को जानने वाले (युक्तिपूर्वक कार्य करने वाले), अहंकार नहीं करने वाले, उत्तम या प्रशस्त आचार विचार वाले, संकीर्णता या संकीर्ण विचारों से रहित, अध्यात्मविद्या में प्रवण (आध्यात्मिक विषयों में अपने चित्त को लगाने वाले वृद्धजन, आस्तिक और जितात्मा पुरुषों की सेवा करने वाले धर्मशास्त्रों के अध्ययन-चिन्तन-मनन-अनुशीलन में तत्पर रहने वाले मनुष्य को सदैव रसायन का युक्त समझना चाहिए। अर्थात् इन गुणों से युक्त मनुष्य यदि रसायन का सेवन नहीं भी करता है तो भी रसायन के सभी गुण उसे प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार यहां स्वस्थ पुरुषों के लिए आचरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। अतः मनुष्य को उत्तम आचार-विचारवान् बनने का प्रयत्न करना चाहिए। उपर्युक्त आचार-विचार का पालन करने वाले मनुष्य सामान्य लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ और उन्नत आत्मा वाले होते हैं; अतः वे रसायन के गुणों को बिना रसायन-सेवन के सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्र में जो यम और नियम बतलाए गए हैं वे भी इन आचार-विचार से भिन्न नहीं हैं। उनका उद्देश्य भी शारीरिक आचरण की शुद्धि, मानसिक दोषों का परिहार और आध्यामिक उन्नति प्राप्त करना है। अतः दोनों का लक्ष्य साधन एक है।

योगशास्त्र में यम-नियम के पश्चात् 'आसन' नामक तृतीय अंग का विवेचन किया गया है। आसन के विषय में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण योग का मूल आधार है। आसन की सिद्धि के बिना साधक की आगे गति नहीं है। आसन का प्रभाव साधक के शरीर, मन-इन्द्रियों और आत्मा पर संयुक्त रूप से पड़ता है, जिससे साधना के लिए आधारभूत सुदृढ़ भूमि का निर्माण होता है। तात्पर्य यह है कि आसन के द्वारा शरीर और मन में इतनी सहृदयता आ जाती है कि उससे साधक की साधना में शारीरिक या मानसिक व्यवधान नहीं आ पाता है। शरीर पर आसन का जो प्रभाव पड़ता है उससे शरीर स्वस्थ एवं निरोग बना रहता है। शरीर के सम्पूर्ण अवयव-अंगोपांग और उनकी सभी प्रकार की क्रियाएं नियन्त्रित होती हैं, जिससे स्वास्थ्य की रक्षा तो होती ही है, अनेक प्रकार के रोगों का शमन भी होता है। अनेक आसन तो ऐसे हैं जो रोग या रोग की अवस्था विशेष में अत्यन्त लाभकारी होते हैं। एक एक आसन कई कई रोगों में लाभकारी पाया जाता है। अतः रोगोपशमन या रोगों की चिकित्सा के लिए योग अपूर्व साधन है। इस प्रकार योगासनों के द्वारा जहां स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है वहां विकारग्रस्त अवस्था में रोगों का

उपशमन भी होता है। आयुर्वेद का मूल प्रयोजन भी यही है—"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी मनुष्यों के रोगों का शमन करना।

स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए आयुर्वेद में स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त का विधान बतलाया गया है। इस दृष्टि से दिनचर्या, निशाचर्या और ऋतुचर्या का वर्णन विशेष महत्वपूर्ण है। दिनचर्या के अन्तर्गत प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त्त में जाग्रत होने से लेकर सायंकाल तक के समस्त दैनिक क्रिया कलापों का उल्लेख है। साथ ही उनके गुणधर्म भी बतलाए गए हैं। प्रातः कालीन कार्यों में अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान आदि क्रियाओं के साथ साथ स्वशक्त्यनुसार व्यायाम करने का भी निर्देश दिया गया है। व्यायाम के द्वारा शरीर को स्वस्थ, सुन्दर एवं सुगठित बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यायाम से शरीर के आभ्यन्तरिक अवयव और उनकी क्रियाएँ भी प्रभावित होती हैं जिससे स्वास्थ्य रक्षा तो होती ही है अनेक विकारों-रोगों का उपशमन भी होता है। अतः जो कार्य योगासनों के द्वारा सम्पादित होता है, बहुत कुछ अंशों में वही कार्य व्यायाम द्वारा भी सम्पन्न होता है। यद्यपि योगासनों और व्यायाम में तुलना नहीं की जा सकती और न ही व्यायाम की श्रेणी में योगासनों को रखा जा सकता है। क्योंकि योगासन व्यायाम की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट माने गए हैं, तथापि स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से दोनों को समान मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि आयुर्वेद में योगासनों का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अभ्यसनीय या आचरणीय नहीं है। सम्भवतः कष्ट साध्य होने अथवा उनकी दुरूहता के कारण उन्हें आयुर्वेद में परिगणित नहीं किया गया हो, किन्तु व्यायाम के माध्यम से या व्यायाम के रूप में वे अभ्यसनीय हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में जो स्वस्थवृत्त और सद्वृत्त वर्णित है यह सर्वथा योगासनों के अनुकूल है। योगासनों के द्वारा जो सुपरिणाम स्वास्थ्य-अनुवर्तन और विकाराभिनिवृत्ति के रूप में प्राप्त किए जाते हैं वे भी सर्वथा आयुर्वेद के अनुकूल हैं। इस दृष्टि से योग और आयुर्वेद में निकटता होना स्वाभाविक है।

योगासनों के अभ्यास में जब साधक स्थिरता और सुदृढ़ स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो वह अग्रिम योगांग 'प्राणायाम' के अभ्यास में तत्पर होता है। प्राणायाम वस्तुतः प्राणवायु के निरोध की एक ऐसी विशिष्ट प्रक्रिया है जिसके अभ्यास की सफलता होने पर मनुष्य को सुदीर्घ आयु प्राप्त होती है। आयुर्वेद में भी दीर्घायु की प्राप्ति के लिए अनेक विधि-विधान और उपाय वर्णित हैं। आयुर्वेद में केवल दीर्घायु की प्राप्ति के लिए ही उपायों का उल्लेख नहीं है, अपितु सुखायु और हितायु का भी विवेचन किया

गया है। साथ ही, असुखायु और अहितायु का ज्ञान और उससे बचने का उपाय भी प्रतिपादित है।

प्राणायाम में आयु की दीर्घता वायु के निरोध पर निर्भर है। मन की चंचलता और निश्चलता भी वायु के निरोध पर निर्भर है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणायाम ही वायु पर आधारित होने से वायु को विशेष महत्व दिया गया है, जैसा कि उपनिषद् के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥

—वायु के चलायमान होने पर मन भी चंचल रहता है और वायु के निश्चल रहने पर मन भी निश्चल हो जाता है, तब योगी स्थाणुत्व (स्थिरता) को प्राप्त करता है। अतः वायु का निरोध (वश में) करना चाहिए।

यहाँ वायु का महत्व बतलाया गया है। वायु के निरोध के बिना प्राणायाम की सिद्धि सम्भव नहीं है। आयुर्वेद में भी वायु को विशेष महत्व दिया गया है। शरीर में सम्पन्न होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं, इन्द्रियों और मन का नियन्ता व प्रणेता वायु को ही माना गया है। शरीर की स्वस्थावस्था में कारणभूत दोषसाम्य और विकारावस्था में कारणभूत दोष वैषम्य के अन्तर्गत वायु की ही प्रधानता है। वायु के बिना अन्य दोनों पित्त, कफ दोष निष्क्रिय रहते हैं। उनमें कोई गति नहीं होती और न ही उनमें कोई क्रिया होती है। जैसा कि प्रतिपादित है—

पित्तं पंगु कफः पंगु पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

—पित्त पंगु (गतिशील नहीं) है, कफ पंगु है, मल (स्वेद-मूत्र-पुरीष) और धातुएं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) भी पंगु हैं। ये दोष-धातु-मल वायु के द्वारा जहाँ ले जाए जाते हैं वहाँ बादल के समान चले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल गतिशील होते हैं उसी प्रकार शरीर में दोष-धातु-मल भी वायु के द्वारा गतिशील रहते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेक उद्धरण वायु की प्रधानता और महत्व के विषय में आयुर्वेद शास्त्र में प्राप्त होते हैं। शरीर को स्वस्थ और निरोग बनाए रखने के लिए वायु की साम्यावस्था अत्यन्त आवश्यक है। उसी प्रकार योगशास्त्र में प्रणायाम की दृष्टि से वायु का विशेष महत्व बतलाया गया है।

योग शास्त्र में विशेषतः हठयोग में प्राणायाम से पूर्व षट्कर्म द्वारा शरीर का शोधन करना अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। नेति, धौति, बस्ति, न्यौली कपाल

भांति और त्राटक इन यौगिक षट्कर्मों के द्वारा योगाचार्य कफादि दोषों को दूर करने का निर्देश देते हैं, ताकि इन कर्मों से शरीर की शुद्धि होकर शरीर प्राणायाम के अभ्यास के योग्य बन सके। आयुर्वेद शास्त्र में शरीर का शोधन करने के लिए 'पंचकर्म' बतलाए गए हैं। जैसे—वमन, विरेचन, बस्ति, शिरो विरेचन और रक्तमोक्षण। इन कर्मों से कफादि दोष शरीर के बाहर निकल जाते हैं और शरीर शुद्ध हो जाता है जिस से वह स्वस्थ और निरोग बना रहता है। शरीर का शोधन रोगोपशन के लिए चिकित्सा के रूप में होता है जिससे अनेक रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। आयुर्वेदोक्त पंचकर्म के द्वारा दोषानुसार निम्न प्रकार से शुद्धि होती है—वमन से कफ दोष का, विरेचन से पित्त दोष का, वस्ति से वायु दोष का, शिरोविरेचन से सिर में स्थित दोष का और रक्त मोक्षण से अशुद्ध रक्त का निर्हरण होता है। इस प्रकार पंचकर्म से दोषों का निर्हरण होकर शरीर पूर्ण रूपेण शुद्ध हो जाता है। योगशास्त्र में जो षट्कर्म बतलाए गए हैं उनके द्वारा शरीर की शुद्धि के साथ-साथ अनेक रोगों का शमन भी होता है। जैसे नेतिकर्म के विषय में कहा गया है—

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३०

—नेतिकर्म कपाल का शोधन करने वाला (सिर में स्थित कफादि दोषों को दूर करने वाला) और दिव्यदृष्टि प्रदान करने वाला होता है। वह उर्ध्वजत्रुगत (गले से ऊपर अर्थात् शिर में होने वाले) रोग समूह को शीघ्र नष्ट करता है।

धौतिकर्म के द्वारा निम्न रोगों का नाश होता है—

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२५

—धौतिकर्म के प्रभाव, से कास, श्वास, प्लीहा सम्बन्धी विकार, कुष्ठरोग और बीस प्रकार के कफ रोगों का विनाश होता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥

—हठयोगप्रदीपिका २/२७

—बस्तिकर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा सम्बन्धी रोग, उदर रोग तथा वात-पित्त, कफ से उत्पन्न होने वाले सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार त्राटक कर्म के अभ्यास से सभी प्रकार के नेत्र रोग निर्मूल होकर

नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। नौलिक्रिया के अभ्यास से अग्नि विकृति दूर होकर पाचन क्रिया एवं पाचन संस्थान सुव्यवस्थित रहता है। इससे होने वाले लाभों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

—हठयोगप्रदीपिका २/३४

—हठक्रिया में शिरोमणि यह नौलि क्रिया मन्दाग्नि को दूर कर जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली, पाचनादि क्रियाओं को ठीक रखने वाली, सदा आनन्द देने वाली, सभी दोषों और रोगों को दूर करने वाली है।

कपालभाति कर्म के द्वारा सिर, पार्श्व, और वक्ष प्रदेश में संचित श्लेष्मा का क्षय या निर्गम होता है। इस प्रकार ये षट्कर्म मल और दोषों को बाहर निकाल कर शरीर का शोधन और रोगों का नाश करने वाले होते हैं।

यह सम्पूर्ण विषय आयुर्वेदीय चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित है। अतः निस्स-सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि योगशास्त्र बहुत कुछ रूप में आयुर्वेद का पूरक होने के कारण उसके अत्यन्त निकट है। योगशास्त्र में प्रतिपादित स्वास्थ्य रक्षा और रोग नाशक सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित तथा आयुर्वेदीय दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल हैं। यौगिक षट्कर्म तथा अन्य यौगिक क्रियाओं का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त, सद्वृत्त एवं चिकित्सा भी शरीर, मन और आत्मा को पूर्णतः प्रभावित करते हैं। आपाततः दोनों का अंतिम लक्ष्य भी लगभग समान ही है। अतः दोनों शास्त्र भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं।

□

आयुर्वेद में मन का स्वरूप

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि आयुर्वेद के अनुसार मन के वशीभूत हो जाने पर ही योग की सिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि ने भी चित्त (मन) की वृत्तियों के निरोध (शमन) होने को योग की संज्ञा दी है। अतः यह स्पष्ट है कि योग स्थिति के लिए मन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आयुर्वेद शास्त्र में अनेक दृष्टि से मन की उपयोगिता होने के कारण विस्तृत रूप से उसके स्वरूप एवं उसके अन्यान्य पक्षों का विवेचन किया है जो योग की दृष्टि से ज्ञातव्य है। आयुर्वेद के मनीषियों ने सांसारिक बन्धन और मुक्ति का कारण एक मात्र मन को ही माना है। जैसा कि महर्षि चरक के निम्न वचन से स्पष्ट है—

"मन एवं मनुष्य णां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

इसीलिए योगाचार्यों ने योग की सिद्धि के लिए सर्व प्रथम मन को वश में करना अत्यावश्यक समझा। आयुर्वेदाचार्यों ने भी मन की स्थिरता, एकाग्रता एवं वश में होने को योग की संज्ञा दी है। अतः यह आवश्यक है कि योग की सिद्धि के प्रमुख साधन रूप मन के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाय। आयुर्वेद शास्त्र में मन के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया गया है वह आध्यात्मिक एवं भौतिक उभय दृष्ट्या वर्णित है। अतः प्रसंगानुसार ही मन सम्बन्धी विवेचन को ग्रहण करना अभीष्ट है।

संसार के समस्त पञ्चेन्द्रिय प्राणियों में मनुष्य का विशेष स्थान है। प्रायः सभी प्राणियों के शरीर में मन की अवस्थिति है। मानव शरीर में तो मन की स्थिति, उपयोगिता एवं महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का एक बार यदि विनाश हो जाय और मन अविकृत रुप में स्थित हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है, किन्तु उसकी समस्त इन्द्रियां स्वस्थ एवं प्राकृत हों और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाएं एवं समस्त इन्द्रिय व्यापार अवरूद्ध हो जाएगा। व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव शरीर में मन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण द्रव्य है।

मन का महत्व एवं तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों की अपेक्षा दर्शन शास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य मुख्य विषय विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व रहे हैं। आत्मा की भांति मन भी उन आध्यात्मिक तत्वों में प्रमुख रहा है। अतः दर्शनशास्त्रों में मन का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया गया है।

आयुर्वेद यद्यपि एक चिकित्सा शास्त्र है तथा आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन से उसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिये, तथापि मन भी रोगाधिष्ठान होने से आयुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय बन जाता है। इसी प्रकार मन का सम्बन्ध आत्मा से होने के कारण तथा जिस शरीर की चिकित्सा की जाती है उसे चैतन्य प्रदान करने वाला होने के कारण आत्मा भी आयुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस अतिरिक्त आत्मा और मन दोनों ही आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। आत्मा के विषय में महर्षि चरक ने न्याय, वैशेषिक एवं वेदान्त दर्शन से समानता रखने वाले विचार व्यक्त किए हैं। अतः मन के विवेचन में भी आयुर्वेद में उन दर्शनों के विचारों का अवलम्बन लिया गया है। आयुर्वेद में मन के विषय में जो चिन्तन धारा प्रवाहित है उसके अनुसार निम्न विवरण प्रस्तुत है—

शरीर में मन का महत्वपूर्ण स्थान है। शरीर में सम्पादित होने वाली प्रत्येक क्रिया मन से प्रभावित है। यद्यपि मन, इन्द्रिय और शरीर को चैतन्य का प्रकाश आत्मा के द्वारा ही मिलता है। शरीर में जब तक आत्मा का अनुप्रवेश नहीं होता तब तक शरीर, उसमें आश्रित मन, इन्द्रिय और अन्यान्य हृदय आदि अवयव चेतना शून्य एवं क्रियाहीन होते हैं तथा आत्मा के संयोग से इनमें चेतनाता एवं क्रियाशीलता आती है; किन्तु आत्मा को जो ज्ञान प्राप्त होता है उस ज्ञानोत्पत्ति की परम्परा में मन की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रहती है। मन के अभाव में केवल इन्द्रियों के द्वारा आत्मा को ज्ञानोपलब्धि होना नितान्त असम्भव है। यद्यपि मन स्वयं एक इन्द्रिय है तथा अन्य इन्द्रियों की भांति उसकी उत्पत्ति भी महाभूतों से हुई है। तथापि वह सामान्य इन्द्रियों से भिन्न है। आत्मा को जो ज्ञानोपलब्धि होती है उसका मुख्य साधन मन ही है। मन के अभाव में अथवा मन के विकृत हो जाने पर आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। शरीर में मन की स्थिति अन्तःकरण के रूप में है। अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ बाह्य करण कहलाती हैं। मन की यह विशेषता है कि महाभूतों से समुद्भूत होने पर भी वह अन्य इन्द्रियों की भांति स्थूलरूप नहीं है। इसलिए अन्य इन्द्रियों की भांति यह मन इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार शरीर में बाह्य इन्द्रियाँ दिखाई देती हैं उस प्रकार मन का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि बाह्य इन्द्रियों की भाँति मन की स्थिति शरीर के बाह्य प्रदेश में नहीं है।

शरीर के अन्दर अवस्थित होने से उसे अन्तःकरण की संज्ञा दी गई तथा बाह्य इन्द्रियों की भाँति इन्द्रिय द्वारा उसका ग्रहण न हीं होने से उसे 'अतीन्द्रिय' या 'इन्द्रयातीत' कहा गया है।

मन का सामान्य अर्थ ज्ञान के योग में किया जाता है। जैसा कि मन शब्द की निरुक्ति से स्पष्ट है—"**मन् ज्ञाने बोधने वा धातुः**" अर्थात् 'मन्' धातु से मनस् या मन शब्द निर्मित हुआ है, जिसकी व्युत्पत्ति के अनुसार "**मन्यते ज्ञायते बुद्ध्यतेऽनेनेति मनः।**"

संस्कृत व्यारण के अनुसार मन् धातु ज्ञान अथवा बोधन क्रिया के लिए प्रयुक्त होता है। तदनुसार जिसके द्वारा जाना जाता है, ज्ञान प्राप्त किया जाता अथवा बोध होता है वह मन कहलाता है।

वस्तुतः मन स्वतन्त्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। आत्मा और इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने पर ही मन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। अतः इन्द्रियां भी ज्ञान का साधन हैं। वे इन्द्रियाँ भी स्वतंत्र रूप से ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ हैं। इन्द्रियों को ज्ञानोपलब्धि के लिए आत्मा के द्वारा चैतन्य एवं मन के द्वारा प्रेरणा लेना आवश्यक है। इन दोनों में से किसी एक के अभाव में इन्द्रयाँ भी ज्ञान ग्रहण करने में असमर्थ रहती हैं। वस्तुतः यदि देखा जाय तो इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का साधन अवश्य हैं किन्तु मूलतः वे ज्ञान ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं। वे तो केवल विषयों का ग्रहण करने हेतु प्रवृत्त होती हैं अथवा विषयों के साथ संयुक्त मात्र होती हैं। वस्तुओं का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है। मन के अभाव में ज्ञान कदापि संभव नहीं है। मन एक होता है और ज्ञानन्द्रियां पाँच होती हैं। अतः मन की एक विशेषता यह भी होती है कि वह जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है केवल वही इन्द्रिय अपने विषय के साथ संयुक्त होकर उस विषय का ग्रहण कहती है और तदनन्तर मन के द्वारा उस विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग नहीं होता उस इन्द्रिय का अपने विषय के साथ संयोग होने पर भी वह इन्द्रिय उस विषय का ग्रहण नहीं कर पाती है। ऐसी स्थिति में उस विषय वस्तु का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मन एक बार में केवल एक इन्द्रिय के साथ ही संयुक्त होता है। अतः एक बार में केवल एक इन्द्रिय के द्वारा ही अपने विषय के साथ संयोग एवं उस विषय का ग्रहण संभव है तथा मन को भी एक बार में केवल एक ही विषय का ज्ञान होता है। इस प्रकार मन जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है उस समय वह केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा उससे सम्बन्धित विषय का ज्ञान प्राप्त करता है, अन्य का नहीं।

मन सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से शरीर में उसकी स्थिति उपयोगिता एवं महत्व का आभास मिल जाता है। शास्त्रों में मन का जो लक्षण बतलाया गया है उससे भी उपर्युक्त भाव ही ध्वनित होता है। महर्षि चरक ने मन का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

> लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
> सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
> वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सानिध्यात् तच्च वर्तते।
>
> —चरक संहिता, शारीर स्थान १/१८

अर्थात् ज्ञान का नहीं होना अथवा होना ही मन लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय) का सन्निकर्ष होने पर मन का संयोग नहीं होने से ज्ञान नहीं होता है तथा उपर्युक्त आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होने पर मन का सान्निध्य-संयोग होने से ज्ञान होता है।

आत्मा का चक्षु आदि इन्द्रियों और शब्द आदि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता। यह ज्ञान का होना या नहीं होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। यही कारणन्तर मन है। यह मन जब इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है तो इन्द्रियां अपने रूप आदि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है, जब मन संयुक्त नहीं होता है तो इन्द्रियां रूपादि स्वविषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती हैं। अर्थात् मन के सान्निध्य से ज्ञान होता है और असान्निध्य से ज्ञान नहीं होता है।

शरीर में त्रयोदश विध (तेरह) करण होते हैं। इन तेहर करणों को दो भागों विभाजित किया गया है—बाह्य करण और अन्तः करण। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां (श्रोत्र, स्पर्श, चक्षु, रसना और घ्राण) और पांच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, गुद, उपस्थ और वाक्) इन दस इन्द्रियों की गणना बाह्य करण में की जाती है तथा मन, बुद्धि और अहंकार की गणना अन्तःकरण में की जाती है। इन तेरह ही करणों में मन प्रधान है। वह ज्ञानेन्द्रिय ओर कर्मेन्द्रिय दोनों का सहायक होने से उभयेन्द्रिय माना जाता है। सांख्य दर्शन की दृष्टि से मन की उत्पत्ति अहंकार से होने के कारण वह अहंकारिक माना गया है, किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार अन्य द्रव्यों (इन्द्रियों) की भांति मन की उत्पत्ति भी महाभूतों से होने के कारण वह भौतिक होता है। दोनों ही दृष्टि से अर्थात् अहंकारिक होने पर अथवा भौतिक होने पर मन की उत्पत्ति का मूल कारण प्रकृति (अव्यक्त) होती है। अतः उस प्रकृति में विद्यमान तीन गुण सत्व-रज-तम मन में भी होते हैं। तदनुसार तीनों गुणों के अनुरूप सत्व से ज्ञान, रज से प्रवृत्ति और तम से अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें जिस गुण की

अधिकता से जो ज्ञान आदि लक्षण मन में उत्पन्न होते हैं उसी गुण के आधार पर उस मन को अथवा उस मन के अधिष्ठाता को सात्विक, राजस या तामस कहा जाता है। मन के उन गुणों की अभिव्यक्ति मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव के द्वारा भी होती है। अतः उसकी प्रकृति का निर्धारण इन्हीं मानसिक गुणों के आधार पर किया जाता है। जैसे सात्विक प्रकृति, राजसी प्रकृति, तामसी प्रकृति।

मन को ज्ञान, सुख, दुःख आदि का साधन माना गया है। अतः अन्य कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर मन का निम्न लक्षण निर्धारित किया है—

सुखादिसाक्षात्कारस्य करणं मन उच्यते।
अस्पर्शमणु चानन्तं प्रत्यात्मनियतत्वतः॥

अर्थात् मन स्पर्श रहित और अणु परिमाण वाला होता है। प्रत्येक शरीरस्थ आत्मा के साथ भिन्न-भिन्न मन का संयोग होने से मन अनन्त (अपरिसंख्येय) होते हैं। मन को सुख आदि के साक्षात्कार का करण भी कहा गया है।

मन का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार बतलाया गया है—

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम्।"

—वैशेषिक दर्पण ३/२/१

आर्थात् आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (इन्द्रियों के विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) का सन्निकर्ष होने पर जिस वस्तु का संयोग होने से ज्ञान होता है तथा जिसका संयोग नहीं होने से ज्ञान नहीं होता वह वस्तु ही मन है।

इसी विषय का स्पष्टीकरण निम्नप्रकार से किया गया है—

"आत्मनः करणाधीनामिन्द्रियाणां शब्दादिविषयाणां च सद्भावेऽपि कदाचित् कुत्रचिद्विषये ज्ञानं भवति न भवति चेति दृश्यते। तेन इमौ ज्ञानस्य भावाभावौ कारणान्तरं सूचयतः यच्च तदेव मनः।"

इसके अतिरिक्त मन का एक भिन्न लक्षण और भी किया गया है—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" —न्यायदर्पण १/१/१६

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होना ही मन का लक्षण है।

एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

"सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।" —तर्क संग्रह

अर्थात् सुख-दुख आदि की अनुभूति की साधन रूप इन्द्रिय ही मन है। अथवा जिस इन्द्रिय से सुख-दुख आदि का अनुभव होता है वह इन्द्रिय ही मन कहलाती है।

शरीर में मन के अस्तित्व को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीर के लिए मन एक अत्यावश्यक द्रव्य है। इसकी उपयोगिता मनुष्य को होने वाले

ज्ञान की शृंखला के लिए विशेष रूप से है। अतः ज्ञानोत्पत्ति का कार्य मन का अस्तित्व मानने से ही पूर्ण होता है। यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो इस प्रश्न का समाधान कर पाना असम्भव होगा कि ज्ञानोत्पत्ति किस क्रम से होती है। मन के अभाव में ज्ञानोत्पत्ति का होना नितान्त असम्भव है। ज्ञानोत्पत्ति क्रम में यदि केवल आत्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय को ही कारण माना जाय तो इतने मात्र से निर्वाह होना सम्भव नहीं है। क्योंकि केवल उपर्युक्त कारणों का संयोग ही ज्ञानोत्पत्ति लिए पर्याप्त के नहीं है। इन कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण और होता है जिसका संयोग होने पर ज्ञान होता है तथा उसका संयोग नहीं होने पर ज्ञान नहीं होता है। यह अतिरिक्त कारण मन ही है।

इसके अतिरिक्त यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाय तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने के कारण आत्मा का इन्द्रियों के साथ सदा संयोग बना रहता है। इन्द्रियां भी अपने-अपने विषयों के साथ सदैव संयुक्त रहती हैं, अतः इन्द्रियों को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ ही संयुक्त रहता है। अतः समस्त इन्द्रियों को ज्ञान भी एक साथ संयुक्त रूप से ही होना चाहिए, किन्तु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई ऐसा महत्वपूर्ण द्रव्य अवश्य है जिसके बिना ज्ञान नहीं होता है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य मन ही है।

मन के अस्तित्व की सिद्धि के लिए यह प्रमाण भी दिया जा सकता है कि रूप रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इनके साक्षात्कार के लिए क्रमशः चक्षु, रसना घ्राण, स्पर्शन और श्रोत्र इन्द्रियाँ हैं। जिसके द्वारा उपर्युक्त रूप आदि विषयों का ज्ञान एवं ग्रहण होता है। अतः इसके लिए उपर्युक्त इन्द्रियों से भिन्न अतिरिक्त पृथक् साधन होना चाहिए। वह साधन है मन। अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य सुख-दुःख आदि के अनुभव का साधन भी मन है, इसीलिए मन का एक लक्षण यह भी किया गया कि "सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः"। इससे मन का स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

मन के गुण

"अणुत्वमथ [illegible] द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।"

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१६

अर्थ—अणुत्व (सूक्ष्मत्व अथवा सूक्ष्म होना) तथा एकत्व (एक होना) ये मन के दो गुण होते हैं। अर्थात् मन अणु परिमाण वाला तथा एक होता है।

मन को अणु परिमाण वाला मानने से उसके सर्व व्यापकत्व का निराकरण

तथा असर्वव्यापकत्व की सिद्धि होती है। मन को प्रति शरीर एक मानने से इन्द्रियों की भाँति उसके अनेकत्व का निराकरण होता है।

यदि मन का अणुत्व तथा एकत्व स्वीकार न कर उसे 'महत्' परिमाण वाला तथा अनेक माना जाय तो इन्द्रियों के साथ उसका सम्पर्क निरन्तर बना रहेगा और ऐसी स्थिति में उसे समस्त इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ही सर्वविध ज्ञान की अनुभूति होने लगेगी। जिससे ज्ञान परम्परा में एक प्रकार की विडम्बना उत्पन्न हो जायगी। अर्थात् उपर्युक्त स्थिति में मन को वर्तमान की भांति व्यवस्थित ज्ञान की अनुभूति नहीं हो पाएगी। क्योंकि एक साथ समस्त इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होने से समस्त ज्ञान परस्पर में टकराएंगे और ज्ञान परम्परा में व्यवधान होने लगेगा जिससे मन को किसी भी वस्तु के ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि क्रमानुसार और व्यवस्थित ज्ञान शृंखला ही वस्तु के सम्यक् ज्ञान का प्रतिपादक है तथा मन ऐसे ही ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होता है। अबाधित तथा विषमताओं से रहित ज्ञान ही मानस ग्राह्य है और इस प्रकार का ज्ञान एक काल में केवल एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रति शरीर में मन एक ही होता है।

मन के अणुत्व प्रतिपादन का अभिप्राय यह है कि मन की स्थिति शरीर में अणु या सूक्ष्म रूप में है। वह आत्मा की भाँति सर्व शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य नहीं है। सूक्ष्म होने के कारण वह शरीर में एक प्रदेश के कई हजारवें भाग में स्थित रहता है। किन्तु अपनी सूक्ष्मता, चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह सर्वदेह व्यापी प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि जब मन किसी एक इन्द्रिय के साथ संयुक्त रहता है तो केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, अन्य के द्वारा नहीं। जैसे कई बार कोई व्यक्ति किसी कार्य विशेष अथवा अध्ययन में तल्लीन होकर लग जाता है तो बाहर या अन्य स्थान से आने वाली आवाजों का ज्ञान उसे नहीं होता है। इसी प्रकार दो या अधिक व्यक्तियों के परस्पर वार्तालाप करने पर जब वहाँ पर स्थित किसी व्यक्ति का मन वार्तालाप की ओर न होकर अन्य विषयों के चिन्तन में लग जाता है तो ऐसी स्थिति में उन व्यक्तियों के वार्त्तालाप का स्वर निरन्तर उस व्यक्ति के कान मे पड़ते रहने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता है कि उन व्यक्तियों में परस्पर क्या वार्तालाप हो रहा है? इसी भांति कोई पुस्तक पढ़ते पढ़ते बीच में जब मन किसी अन्य विषय में लग जाता है तो पूरा पृष्ठ या अध्याय पढ़ लेने पर भी उसे इस बात का ज्ञान नहीं हो पाता कि क्या पढ़ा गया है? इसी प्रकार जब कक्षा में छात्रगण अपने अध्यापक के प्रवचन (भाषण) को सुनते हैं तो कई छात्रों का मन अन्यत्र विषय में संलग्न रहता है तो ऐसी स्थिति में उस छात्र

के लिए यह कह सकना कठिन हो जाता है कि कक्षा में अध्यापक महोदय ने अपने भाषण में क्या कहा या उसने क्या समझा ? इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन जब जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है तब उसे केवल उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि भी होती है कि मन आत्मा के सदृश महान् या सर्व शरीर व्यापी नहीं है, अपितु अणु रूप होने के कारण वह एक ही समय में समस्त इन्द्रियों में संचार नहीं कर सकता। यही कारण है कि वह एक काल में केवल एक ही इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है। कई बार हम को ऐसी प्रतीति भी होती है कि पाँचों इन्द्रियों के द्वारा एक साथ ही ज्ञान हो रहा है। जैसे भोजन करते समय हाथ के स्पर्श के द्वारा भोजन के शीतत्व-उष्णत्व का ज्ञान होता है। रसना के द्वारा रस का ज्ञान भी होता है। घ्राण के द्वारा गन्ध की अनुभूति होती है और दोनों चक्षु उसे सतत देखते भी रखते हैं। साथ में वार्तालाप करते रहने पर शब्द श्रवण भी होता है। अतः उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञानों का अनुभव एक साथ हो रहा है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता है, मन की चंचलता एवं तीव्र गतिशीलता के कारण वह समस्त इन्द्रियों के साथ क्रमशः सम्पर्क करता है। अर्थात् वह एक इन्द्रिय के बाद दूसरी इन्द्रिय, दूसरी के बाद तीसरी इन्द्रिय, तीसरी के बाद चौथी इन्द्रिय, चौथी के बाद पाँचवी इस प्रकार क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है। इन्द्रियों के साथ उसका यह संयोग इतनी शीघ्रता और तीव्र गति से होता है कि एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के बीच के व्यवधान या अन्तर की प्रतीति नहीं हो पाती। अतः ऐसा लगता है कि मन समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ संयुक्त है। इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की यह प्रक्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पादित होती है जिस प्रकार सौ कमल के पत्तों को एकत्र कर उन्हें एक के ऊपर एक रख दिया जाय। तदनन्तर उन समस्त पत्तों का वेधन एक सुई के द्वारा किया जाय। सुई के द्वारा पत्तों का वेधन करने पर ऐसा लगता है कि समस्त पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है, किन्तु ऐसा नहीं होता। अर्थात् उन पत्तों का वेधन तो क्रमशः एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा तीसरे के बाद चौथा इस प्रकार होता है। किन्तु यह वेधन इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रमशः उनके वेधन का ज्ञान नहीं हो पाता और हम यह समझते हैं कि समस्त पत्तों का वेधन एक साथ ही हो गया है। ठीक यही स्थिति इन्द्रियों के साथ मन के संयोग की है। इस संदर्भ में एक अन्य उदाहरण अलात चक्र का भी दिया जाता है। अर्थात् एक पतली लौह शलाका के दोनों सिरों पर थोड़ा-सा कपड़ा बांध कर उसे मिट्टी के तेल में भिगो कर उसमें आग लगा दी जाती है। उसके बाद बीच में

एक दूसरी शलाका लगाकर उसे काफी जोरों से घुमाया जाता है, जिससे वह प्रज्वलित अग्नि के चक्र की भांति प्रतीत होती है। यही अलात चक्र कहलाता है। इसमें शलाका के केवल दो सिरों में आग लगी रहती है, किन्तु उसके घूमने की गति अत्यन्त तीव्र होने के कारण वह एक चक्र के समान प्रतीत होता है। इसी प्रकार मन भी तीव्र गति से शरीर में इतस्ततः घूमता है और क्रमशः इन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ज्ञान प्राप्त करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अणु परिमाण वाला तथा एक है। मन के अणुत्व तथा एकत्व की सिद्धि में युगपत् ज्ञान की उत्पत्ति न होना विशेष महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर अन्य विद्वानों एवं आचार्यों ने भी मन में अणुत्व तथा एकत्व को सिद्ध किया है। महर्षि गौतम ने मन के एकत्व की सिद्धि के लिए कहा है—"ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः इति"-न्या० द० ३/२/६०। अर्थात् ज्ञान के एक साथ नहीं होने से मन एक है। इसी का समर्थन महर्षि कणाद ने भी किया है। उन्होंने अपने वैशेषिक दर्शन में इस संदर्भ में कहा है—"प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकं इति"—वै० द० ३/२/३ अर्थात् एक समय में एक ही प्रयत्न तथा ज्ञान होने से अथवा एक समय में प्रयत्न तथा ज्ञान के अयौगपद्य से मन एक होता है। आचार्य विश्वनाथ ने कारिकावलि में ज्ञानों के एक कालिक न होने के कारण मन को अणु परिमाण वाला कहा है। यथा—अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते"—विश्वनाथ कारिका ३८५।

कभी कभी एक समय में ही दीर्घ शष्कुली भक्षण में गन्ध, रस, रूप आदि अनेक विषयों का ज्ञान होने की भ्रान्ति होती है। वह भी मन के अति तीव्र संचार के कारण होती है। इस प्रकरण को शत कमल पत्र भेदन के उदाहरण से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है।

मन के विषय तथा कर्म

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धि प्रवर्तते॥

—चरक संहिता, शारीस्थान १/२०-२१

अर्थात्—चिन्ता के योग्य, गुणागुण के विचार के योग्य, तर्क के योग्य, ध्यान के योग्य और संकल्प के योग्य भाव या पदार्थ तथा मन के द्वारा अनुभव किए जाने वाले अन्य सुख दुःख आदि भाव ये सब मनव के विषय हैं। समस्त इन्द्रियों को

अपने-अपने विषय में प्रेरित करना तथा अहित विषयों में उनकी प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् इन्द्रियों का नियन्त्रण करना अथवा अपना नियमन करना, किसी विषय में तर्क करना, हिताहित का विचार करना ये सब मन के कर्म हैं।

चिन्त्य—मन के द्वारा चिन्तन किए जाने योग्य विषय। जैसे यह करने योग्य है या नही। विचार्य—उपपत्ति या अनुपपत्ति (तर्क) के द्वारा यह करने से लाभ होगा और यह करने से हानि होगी। इत्यादि का विचार करना अथवा किसी विषय के दोष का ज्ञान करना विचार कहलता है। इस प्रकार के विचार योग्य विषय को विचार्य कहा जाता है। ऊह्य-सम्भावना के द्वारा जैसे यह कार्य इस प्रकार होगा अथवा शास्त्रा-नुकूल तर्कों के द्वारा किसी विषय के संशय, पूर्वपक्ष आदि का निवारण और उत्तर पक्ष के स्थापन आदि के निर्णय के लिए परीक्षण को ऊहा कहते हैं। उस ऊहा के योग्य विषय ऊह्य कहलाते हैं। ध्येय-भावना ज्ञान का विषय ध्येय कहलाता है। अथवा एकाग्र मन से किसी वस्तु स्वरूप का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है और ध्यान के योग्य विषय को ध्येय कहते हैं। संकल्प्य—यह विषय या वस्तु गुण युक्त है अथवा दोषयुक्त इसका निश्चय करना अथवा कर्त्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर अभीप्ट प्राप्ति (सिद्धि) के लिए यही करना है—ऐसे निर्णय को संकल्प कहते हैं। संकल्प के योग्य जो विषय होता है वह संकल्प्य कहलाता है।

ऊपर जिन विषयों का उल्लेख या प्रतिपादन किया गया है, ये सब विषय मन के होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी विषय मन के होते हैं जो मन के द्वारा ग्राह्य होते है अथवा मन की सहायता से जिनका ग्रहण होता है। इस दृष्टि से मन के विषयों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। अर्थात्— मन के विषय दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार के विषय वे हैं जो पांच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से मन के द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध। ये विषय यद्यपि मुख्य रूप से इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं, तथापि—इन्द्रियों की सहायता से मन ही इनका ग्रहण करता है। दूसरे प्रकार के विषय इन्द्रिय निरपेक्ष होते हैं। ये मन के स्वतंत्र विषय होते हैं। अतः मन के विषयों से मुख्यतः इन्हीं इन्द्रिय निरपेक्ष स्वतंत्र विषयों का ग्रहण किया जाता है। इन चिन्त्य आदि विषयों का ग्रहण करने में इन्द्रियां सर्वथा असमर्थ रहती हैं। अतः मन के द्वारा इन्द्रियातीय विषयों का ग्रहण किए जाने से वह अतीन्द्रिय कहलाता है।

इन्द्रियों के विषय नियत हैं—"**प्रतिनियतविषयकाणीन्द्रियाणि**" अर्थात् जिस इन्द्रिय का जो विषय प्रतिनियत है वह इन्द्रिय मात्र उसी विषय का ग्रहण करती है। अन्य का नहीं। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप विषय का ही ग्रहण होता है। अन्य शब्द आदि विषयों का नहीं। किन्तु मन सब इन्द्रियों के साथ समस्त विषयों

का ग्रहण करना है। इतरा ही नहीं, इन्द्रियों के विषयों के अतिरिक्त विविध विषयों का चिन्तन, किसी विषय के गुणावगुण का विचार, शास्त्रों के अनुसार तर्क करना, एकाग्र भनसा वस्तु विशेष का ध्यान, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार कर किसी विषय का संकल्प, सुख दु:ख आदि आभ्यन्तरिक भावों का अनुभव करना इत्यादि भी मन के विषय हैं। इस प्रकार इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रियातीत दानों प्रकार के विषयों का ग्रहण मन के द्वारा होता है।

मन के उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अन्य कुछ विशिष्ट कर्म भी होते हैं। मन चूंकि एक द्रव्य है, अतः द्रव्यत्व की दृष्टि से उसमें गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहना चाहिए। गुण और कर्म के बिना द्रव्य का अस्तित्व नहीं रहता। अतः मन के कर्मों का भी निर्देश किया गया है। मुख्य रूप से मन के दो कर्म होते हैं—एक है इन्द्रियों को नियन्त्रित करना अथवा उन्हें अहित विषयों से पराङ्मुख करना और स्वविषयों में प्रवृत्ति। मन का दूसरा कर्म है धृति की सहायता से स्वयं अपना निग्रह अथवा नियन्त्रण करना। इसके अतिरिक्त विभिन्न तथ्यपूर्ण व युक्ति संगत तर्क प्रस्तुत करना तथा हिताहित या गुणावगुण का विचार करना भी मन का ही कर्म है।

मन का स्थान

"सत्वादिधामहृदयं स्तनोरःकोष्ठमध्यगम्" -

—अष्टांगहृदय, शारीर स्थान अ० ४

"हृदयमिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्॥

—सुश्रुत संहिता, शारीर स्थान अ० ३

षडंगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पंचमम्
आत्मा च सगुणश्चेतः सर्वं च हृदि संस्थितम्।

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान ३०/४

अर्थ—सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है जो दोनों स्तनों और उरःकोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है।

—हृदय में बुद्धि और मन का निवास होने से गर्भ में हृदय का निर्माण होता है—ऐसा कृतवीर्य का मत है।

—शरीर के छहों अंगों (दो हाथ, दो पैर, मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियां (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है। यहां पर कुछ लोग हृदय शब्द के अर्थ में भ्रम उत्पन्न करते हैं। उनका कथन है कि हृदय शब्द से यहां वक्ष प्रदेश में स्थित मांसपेशीमय हृदय का ग्रहण न करके शिरोगत मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि "बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य" इत्यादि वाक्यों के द्वारा बुद्धि का निवास स्थान हृदय को शिरः कपाल में स्थित मस्तिष्क मानने की पुष्टि होती है। किन्तु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अष्टांग हृदय के उपर्युक्त वचन के द्वारा प्रथम ही मन के स्थान रूप हृदय की स्थिति वक्ष प्रदेश में दोनों स्तनों के मध्य में निरूपित की गई है। अतः हृदय शब्द से सर्व सामान्य में प्रचलित मांस-पेशीमय हृदय का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त "हृदयस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च" इत्यादि सुश्रुत के वचन के द्वारा वक्ष प्रदेश में स्थित हृदय का ही बोध होता है। अतः कपाल में स्थित मस्तिष्क को हृदय मानना उपयुक्त नहीं है।

कुछ लोगों ने मन का स्थान हृदय की अपेक्षा जो मस्तिष्क निरूपित किया है एक दृष्टि से यह भी मान्य हो सकता है। क्योंकि समस्त इन्द्रियों का आधार शिर ही है। चरक ने शिर को समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठान निरूपित करते हुए शिर का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमांगमंगानां शिरस्तदभिधीयते ॥

—चरकसंहिता, सूत्रस्थान १७/३

अर्थ—जिसमें प्राणियों के प्राण आश्रित रहते हैं, जिसमें समस्त इन्द्रियां आश्रित हैं और जो शरीर के समस्त अंगों में उत्तमांग (श्रेष्ठ) है वह शिर कहलाता है।

इसी प्रकार भेलसंहिता में भी मन का स्थान शिर में प्रतिपादित किया गया है।

यथा—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्र तद्धि विषयानिन्द्रियान् रसादिकान् ॥
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
तन्मनः प्रभावं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥
कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम्।
क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम् ॥

अर्थात् समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन शिरः तालु में स्थित रहता है। वह वहां पर समीपस्थ इन्द्रियों के रसादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है तथा तीन भावों का नियन्त्रण करता है। वह मन समस्त इन्द्रिय रूप, प्रभावशाली और बलयुक्त होता है।

सभी प्रकार की बुद्धियों का कारण रूप चित्त हृदय में स्थित रहता है। वह समस्त क्रियाओं का भी कारण है।

इस प्रकार शिर भी मन का स्थान स्वीकृत किया गया है। समस्त ज्ञानेंद्रियों का अधिष्ठान शिर होने के कारण मन का अधिष्ठान भी शिर स्वतः प्रतिपादित होता है। क्योंकि मन स्वयं एक इन्द्रिय है। इसके अतिरिक्त शरीर में ज्ञान का सबसे बड़ा केन्द्र शिर ही है। समस्त इन्द्रियां वहीं केन्द्रित, नियन्त्रित और उपस्थित रहती हैं। अतः दीर्घ अवधि तक मन का भी वहां उपस्थित रहना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से शिर को मन का स्थान माना गया है। संक्षेप से मन का स्थायी निवास, नियन्त्रण केन्द्र और कार्य क्षेत्र की दृष्टि से मन के स्थान को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। मन का मूल स्थायी निवास स्थान हृदय है—इस तथ्य को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों का केन्द्र मस्तिष्क है, जहां विषयों के स्वरूप का निर्णय एवं इन्द्रियों की प्रवृत्ति या निवृत्ति हेतु आज्ञा प्राप्त होती है। मन हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा मस्तिष्क में आता है और वहां से समस्त इन्द्रियों का निग्रह या नियन्त्रण करता है। अतः मन का नियन्त्रण केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्क है। मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। सर्व शरीर में मनोवह स्रोतों की व्याप्ति होने के कारण शरीर के किसी भी सूक्ष्मतम परमाणु में मन त्वरित गति से पहुंच जाता है। अतः उसका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है। केवल हृदय में स्थित रहता हुआ मन इन्द्रियों का नियन्त्रण, वस्तु स्वरूप का ग्रहण एवं सर्व शरीर परिभ्रमण नहीं कर सकता। अतः वह हृदय से मनोवह स्रोतों के द्वारा शिर और सम्पूर्ण शरीर में सतत भ्रमण करता हुआ हृदय में स्थित आत्मा को ज्ञान कराता है। इस प्रकार कार्य विभाजन की दृष्टि से मन का स्थान भिन्न-भिन्न समझना चाहिए। किन्तु मूल रूपेण मन का स्थान हृदय है।

योग और स्वास्थ्य

योगाभ्यास अथवा योगसाधना का मुख्य आधार शरीर है। शरीर के माध्यम से ही साधक अन्यान्य यौगिक क्रियाओं का अभ्यास कर सकता है। अतः योगाभ्यास या योग की साधना के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अत्ययन्त आवश्यक है। रोगी या अस्वस्थ शरीर के द्वारा योगाभ्यास किया जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि यह सही है कि योगशास्त्र की आधारभूत पृष्ठभूमि दार्शनिक विचारधारा से अनुप्राणित है और उसका सम्पूर्ण अन्तः बाह्य कलेवर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से परिवेष्टित है, जबकि स्वास्थ्य साधन या स्वास्थ्य रक्षा का उद्देश्य केवल भौतिक उपलब्धि है। आध्यात्मिक या दार्शनिक दृष्टि से मानव शरीर एक भौतिक संगठनात्मक द्रव्य है जो वृद्धि और क्षय को प्राप्त होता हुआ अन्त में विनाश को प्राप्त होता है, अतः वह नाशवान् है। यह मानव शरीर हड्डियों का एक ऐसा ढांचा है जो मांस और मेद से आवृत है। त्वचा इसका बाह्य आवरण है जो बाह्य आघातों, शीत, आतप, वर्षा और जीव जन्तुओं द्वारा भक्षण से इसकी रक्षा करती है। रस-रक्त इसे पोषण प्रदान करते हैं तथा मज्जा-शुक्र इसमें शक्ति का संचार करते हैं। ये सभी वस्तुएं भौतिक और क्षय को प्राप्त होने वाली होने से नाशवान हैं। अतः इन पर टिके हुए शरीर का नाशवान होना भी स्वाभाविक है।

आयुर्वेद में 'दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्'- यह शरीर की व्याख्या बतलाई गई है, जिसके अनुसार दोष (वात-पित्त-कफ), धातु (रस-रक्त- मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) और मल (स्वेद-मूत्र- पुरीष) ये तीनों शरीर के मूल आधार हैं। इनसे ही शरीर का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की सम्पूर्ण आभ्यन्तरिक क्रियाएं और बाह्य चेष्टाएं इन्हीं पर आधारित हैं। शारीरिक आरोग्य या अनारोग्य भी इन तीनों के अधीन है। इनमें या इनमें से किसी एक में जब किसी प्रकार की विकृति या वैषम्य उत्पन्न हो जाता है तो उनका पारस्परिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर के स्वास्थ्य पर पड़ता है। परिणामस्वरूप शरीर

अस्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार दोष-धातु-मल ये तीनों ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शारीरिक स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी हैं। शरीर की उत्पत्ति -स्थिति और विनाश में भी ये तीनों मूल कारण माने जाते हैं। अतः शरीर को स्वस्थ रखने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इनकी क्रियाओं में कोई वैषम्य उत्पन्न न हो और न ही शरीर के लिए इनके अपेक्षित परिमाण में वृद्धि या ह्रास हो।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योग साधना का चरम लक्ष्य अखण्डानन्द की प्राप्ति है जो केवल कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति होने पर ही सम्भव है। कैवल्य या मोक्ष वह अक्षय, अविनाशी और शाश्वत परम पद है जिसे प्राप्त कर लेने के बाद यह संसारी आत्मा सदा के लिए जन्म-मरण के विभिन्न कष्ट और कर्मबन्धन जनित दुःखों से मुक्ति पा जाता है। जिस योग साधना के द्वारा आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है उस योग साधना का एकमात्र साधन मनुष्य का शरीर है। इस शरीर के बिना योग साधना सम्भव नहीं है। शरीर के माध्यम से भी यौगिक क्रियाओं का सम्पादन तब ही सम्भव है जब शरीर पूर्ण रूप से निरोग और स्वस्थ हो। शारीरिक और मानसिक आरोग्य के द्वारा ही मनुष्य चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति कर सकता है, जैसा कि आर्ष वाक्य द्वारा स्पष्ट है—"धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।"

यहां धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का मूल आरोग्य बतलाया गया है। आरोग्य का अभिप्राय यहां शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के आरोग्य से है। यदि मनुष्य केवल शारीरिक रूप से स्वस्थ हो और मानसिक रूप से अशान्त हो तो उसके द्वारा लक्ष्य प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चित्त विभ्रम, मनो मालिन्य, कुत्सित विचार, चिन्ता, भय, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, ईर्ष्या, जुगुप्सा आदि विभिन्न भाव मनो विकृति के मूल कारण हैं। इन कारणों के रहते हुए मनुष्य कभी भी योग साधना के निमित्त मानसिक आरोग्य प्राप्त नहीं कर सकता। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि शारीरिक स्वस्थता होते हुए भी मन की एकाग्रता हुए बिना योगाभ्यास या यौगिक क्रियाओं के द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति करना सम्भव नहीं है। यद्यपि आचार्यों ने धर्म साधन के लिए शरीर को आद्य साधन निरूपित किया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। किन्तु यहां शरीर का तात्पर्य बाह्य कलेवर मात्र से नहीं है, अपितु मन सहित शरीर से है। जो मनुष्य व्याधिग्रस्त हैं, जिनका मन या शरीर अथवा दोनों ही स्वस्थ नहीं हैं वे योग साधना तो क्या अपना सामान्य जीवन भी सुखपूर्वक व्यतीत नहीं कर सकते। न तो वे धर्म साधन में तत्पर हो सकते हैं और न ही ज्ञानोपार्जन में दत्त चित्त हो सकते हैं। सांसारिक भोगोपभोगों के समस्त साधन उपलब्ध होने पर भी वे उनका यथोचित उपभोग करने में समर्थ नहीं होते।

विभिन्न सांसारिक कार्यों के लिए जहां शरीर का आरोग्य और स्वास्थ्य अपेक्षित है वहां यौगिक क्रियाओं और योग साधना के लिए भी स्वस्थ शरीर नितान्त अपेक्षित है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही योग-साधना की फलसिद्धि प्राप्त होती है। जैसा कि आचार्य का कथन है—

पुरस्य वाढ्यें योगस्य सिद्धिः सर्वार्थसाधनी।
अखण्डानन्दसिद्धिश्च फलं तेनैव जायते॥

—जीवानन्दम्

—शरीर रूपी नगर के दृढ़ (स्वस्थ) रहने पर ही योग की सर्वार्थसाधक और शाश्वत आनन्द प्रदायक सिद्धि फल रूप से उसी के द्वारा प्राप्त होती है।

"योग और स्वास्थ्य" इस विषय पर विचार करते समय मुख्यत: दो बातें हमारे सम्मुख आती हैं—एक तो यह कि योगाभ्यास और योग साधना केवल उन लोगों को करना चहिए जो सर्वथा स्वस्थ हों और जिनका शरीर इसके लिए पूर्णत: सक्षम हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो व्यक्ति रोगी हैं उनके लिए योगाभ्यास निषिद्ध है। दूसरी बात यह है कि आसन प्राणायाम आदि के प्रसंग में यह बतलाया गया है कि अमुक आसन के द्वारा अमुक रोग दूर होता है, अथवा प्राणायाम की अमुक अवस्था में अमुक विकार का उपशमन होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि रुग्णावस्था में भी योगाभ्यास किया जाना सम्भव है। ये दोनों बातें सर्वथा भिन्न हैं, दोनों परस्पर विरोधी बातें एक साथ कैसे सम्भव हैं? इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि योगाभ्यास या योग साधना के लिए शरीर का स्वस्थ एवं निरोग होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा साधक की साधना में व्यवधान आयेगा और वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पायेगा। यम, नियम, आसन आदि योगांग साधक के शरीर और मन को स्वस्थ एवं निरोग बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इन अंगों से साधक के स्वास्थ्य की ही रक्षा नहीं होती, अपितु किसी कारणवश अपरिहार्य स्थिति में शरीर के विकारग्रस्त हो जाने की स्थिति में ये अंग उस विकार का उपशमन भी करते हैं ताकि साधक का शरीर साधना काल में निरोग और स्थिर बना रहे। अत: आसन आदि योगांग वस्तुत: यथार्थ साधन नहीं हैं, अपितु योगाभ्यास या साधना की प्रारम्भिक या पूर्व अवस्था है जिसमें साधक अपने शरीर और मन को योगाभ्यास के योग्य बनाता है। अत: दोनों बातें सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी परस्पर अनुपूरक हैं।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि वस्तुतः स्वस्थ पुरुष कौन है? अत: स्वस्थ पुरुष की समीचीन व्याख्या होना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर के बाह्य डील-डौल को

देखने मात्र से ही कोई व्यक्ति स्वस्थ या अस्वस्थ नहीं कहा जा सकता। बाहर से हृष्ट पुष्ट दिखने वाला व्यक्ति भी शरीर के आभ्यन्तरिक या मानसिक विकार से पीड़ित होने के कारण अस्वस्थ हो सकता है और कोई स्वभावत: दुबला व्यक्ति भी प्रसन्नात्मेन्द्रियमन होने के कारण स्वस्थ या निरोग हो सकता है।

आयुर्वेद शास्त्र में स्वस्थ और स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी विवेचना की गई है जो योगशास्त्र के लिए उपयोगी हो सकती है। आसन आदि के द्वारा मनुष्य को स्वास्थ्य लाभ होता है और उसका शरीर निरोग बनता है, अत: योग और स्वास्थ्य का निकटतम सम्बन्ध है। इसी प्रकार आयुर्वेद भी मनुष्य के शरीर की स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश करता हुआ शरीर को स्वस्थ और निरोग रखने के लिए आवश्यक उपायों का निर्देश करता है। इस प्रकार स्वास्थ्य एक ऐसी कड़ी है जिसका सम्बन्ध योग से भी है और आयुर्वेद से भी। अत: योग और आयुर्वेद की पारस्परिक निकटता अथवा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने में स्वास्थ्य एक महत्वपूर्ण माध्यम है। योग-शास्त्र में योगाभ्यास या योग साधना के लिए शरीर का स्वस्थ एवं निरोग होना नितान्त आश्वयक बतलाया गया है। अत: स्वस्थ पुरुष कौन है ? इसका ज्ञान होना भी आवश्यक है। स्वस्थ पुरुष के विषय में महर्षि सुश्रुत का निम्न वचन महत्त्वपूर्ण है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—सुश्रुत संहिता, सूत्रस्थना ५१/४४

—जिसके (वात-पित्त-कफ) तीनों दोष सम हों, जिसकी जठराग्नि (पाचन-क्रिया) सम हो, जिसकी धातुओं (रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र) की क्रिया सम (क्षय-वृद्धि से रहित) हो, जिसकी मलों (स्वेद-मूत्र-पुरीष) की क्रिया सम हो, जिसकी आत्मा, दशों इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां-पाँच कर्मेन्द्रियां) और मन प्रसन्न (निर्मल-अविकारी) हों वह स्वस्थ कहलाता है।

यहां पर सामान्यत: स्वस्थ पुरुष की जो परिभाषा दी गई है वह अपने आप में पूर्ण, सार्थक और सर्वथा व्यवहारिक है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर की सभी प्रकार की स्थिति में दोष-धातु-मल ही मूल कारण हैं। जब ये तीनों सम अवस्था में होते हैं तो शरीर का सन्तुलन बना रहता है और शरीर में कोई रोग या विकार उत्पन्न नहीं हो पाता। सम अवस्था में ये तीनों शरीर को धारण करते हैं। किन्तु जब दोष-धातु-मल इनमें से किसी में विषमता आ जाती है अर्थात् किसी भी दोष की वृद्धि या क्षीणता होती है, किसी भी धातु की वृद्धि या क्षीणता होती है अथवा किसी भी मल की वृद्धि या क्षीणता होती है तो इस विषमता के कारण शरीर का संतुलन बिगड़ जाता है और शरीर में रोग या विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि कहा गया है—

"रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।" इसी प्रकार **"विकारो [धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।"**

इसी आधार पर स्वस्थ पुरुष की उपर्युक्त व्याख्या में दोषों की समावस्था, धातुओं की समावस्था तथा मलों की समावस्था बतलाई गई है। इनमें भी दोषों की समावस्था विशेष महत्वपूर्ण है। क्योंकि जब दोषों में वैषम्य होता है तब वे ही विकृत हुए दोष दूष्य याने धातुओं में विषमता उत्पन्न करते हैं। धातुएँ अपने आप दूषित नहीं होती अपितु दोषों के द्वारा दूषित किए जाने पर दूषित या विषम होती हैं। इसीलिए उन्हें दूष्य कहा जाता है। हमारे द्वारा जो कुछ भी आहार ग्रहण किया जाता है उसका पाचन होने के बाद वह सीधा दोषों को प्रभावित करता है। अत: जब मिथ्या आहार विहार किया जाता है तो उसके परिणाम स्वरूप दोष वैषम्य (क्षय या वृद्धि) होता है और दोष वैषम्य के कारण दूष्य वैषम्य होता है, जिससे विकारोत्पति होती है। इसके विपरीत हिताहार विहार दोषों की समस्थिति बनाए रखने में सहायक होता है। इस प्रकार आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति के लिए दोषों की साम्यावस्था अत्यन्त आवश्यक है।

स्वास्थ्य या स्वस्थ पुरुष की उपर्युक्त परिभाषा आयुर्वेद की दृष्टि से समीचीन मानी गई है। इस परिभाषा की सुविस्तृत व्याख्या महर्षि कश्यप ने अपने ग्रंथ में निम्न प्रकार से की है—

अन्नाभिलाषो भुक्तस्य परिपाक: सुखेन च।
सृष्टविण्मूत्रवातत्वं शरीरस्य च लाघवम्॥
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुखस्वप्नप्रबोधनम्।
बलवर्णायुषां लाभ: सौमनस्य समाग्निता॥
विद्यादारोग्यलिंगानि विपरीते विपर्ययम्।

—काश्यप संहिता, खिलस्थान

अर्थात् जिस मनुष्य को यथा समय भोजन की अभिलाषा होती (भूख लगती) हो, खाए हुए आहार का परिपाक सुख पूर्वक हो जाता हो, पुरीष, मूत्र और वायु का विसर्जन यथोचित रूप से होता हो, शरीर में लघुता का अनुभव होता हो, इन्द्रियां अविकृत या निर्मल रूप से अपना कार्य करती हों, सुख पूर्वक जिसे निद्रा आती हो और सुख पूर्वक प्रबोध होता हो, शरीर में समुचित प्रमाण में बलाधान हो, स्वच्छ वर्ण की प्राप्ति हो, पर्याप्त आयु का लाभ हो, मन सुप्रसन्न हो, जाठराग्नि के द्वारा पाचन क्रिया समुचित रूप से होती हो, इन सभी को आरोग्य के लक्षण जानना चाहिए। इनसे विपरीत लक्षण होने पर विपरीत स्थिति याने अनारोग्य या अस्वस्थता होती है।

बल, आयु और आरोग्य की दृष्टि से मानव की स्थिति जठराग्नि और शुक्र धातु पर अधिक अवलम्बित है। क्योंकि हमारे द्वारा प्रतिदिन आहार में जो कुछ भी खाद्य पदार्थ ग्रहण किया जाता है उसका परिपाक मूलत: जाठराग्नि के द्वारा ही होता है। जाठराग्नि के द्वारा परिपक्व अन्न दो भागों में विभक्त होता है-सार भाग और किट्ट भाग सार भाग 'रस' कहलाता है और किट्ट भाग 'मल' कहलाता है। सार भाग शरीर के पोषण एवं बल वृद्धि के लिए आंत्र द्वारा आचूषित होकर शरीर में ही स्थित रहता है और मल भाग स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि के रूप में शरीर के बाहर निकाल दिया जाता है। सार भाग 'रस' कहलाता है जिसके द्वारा रक्तादि उत्तरोत्तर शुक्र पर्यन्त धातुओं का पोषण होता है और अन्त में 'बल' का निर्माण होता है। इसीलिए आयुर्वेद शास्त्र में 'बल' का मूल अग्नि बतलाया गया है। शुक्र शरीर की अन्तिम व उत्कृष्टतम धातु है और उस पर बहुत कुछ जीवन आधारित रहता है। अत: मनुष्य को यथाशक्य इन दोनों की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।

अग्निमूलं बलं पुंसां रेतोमूलं च जीवितम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन रेतो रक्ष्यं च जीवितम्॥

अर्थात् मनुष्यों का बल अग्नि पर आधारित और जीवन शुक्र पर आधारित है। अत: सभी प्रयत्नों के द्वारा शुक्र और जीवन की रक्षा करना चाहिए।

योगशास्त्र में भी शुक्र और मन को जीवनाधार बतलाते हुए प्रयत्न पूर्वक उसकी रक्षा का निर्देश दिया गया है—

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नत:॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् शुक्र की स्थिरता मन के अधीन और मनुष्य जीवन की स्थिरता शुक्र के अधीन होती है। अत: प्रयत्न पूर्वक शुक्र और मन की रक्षा करना चाहिए। मन की रक्षा करने का अभिप्राय यहां मन को वश में रखने से है।

शुक्र की एक बूंद भी मानव शरीर के लिए कितनी महत्वपूर्ण है? यह बात निम्न उद्धरण के द्वारा भली भांति ज्ञात हो सकती है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुत:॥

अर्थात् शुक्र के (अत्यधिक) स्खलन से मरण और उसके धारण से जीवन होता है। अत: जब तक शरीर में वीर्य स्थिर है तब तक मृत्यु का भय कहाँ?

इस प्रकार शरीर को दृढ़, स्थिर, शक्ति सम्पन्न, रोग रहित, एवं स्वस्थ रखने के लिए शरीरगत समस्त धातुओं और समस्त धातुओं में विशेषत: शुक्र की रक्षा करना आवश्यक है। शुक्र की रक्षा ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही हो सकती

हैं। ब्रह्मचर्य का पालन दो प्रकार से किया जा सकता है—१. एक देश पालन अर्थात् नियम पूर्वक काम सेवन और २—पूर्णतः पालन अर्थात् काम सेवन का पूर्ण परित्याग। योग-साधना में प्रवृत्त होने वाले मनुष्य को प्रथमतः ब्रह्मचर्य का एक देश पालन और उसके बाद पूर्णतः पालन करना चाहिए।

शरीर को स्वस्थ एव निरोग रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य का आहार-विहार सम्यक् हो। रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर वह अभक्ष्य भक्षण में प्रवृत्त न हो। मिथ्या आहार विहार से अपने शरीर की रक्षा करता हुआ शुद्ध, सात्विक वृत्ति पूर्वक परिमित रूप में ही वह विषयों के सेवन में प्रवृत्त हो। इस विषय में महर्षि चरक का निम्न वचन सर्वथा अनुकरणीय है—

नित्यं हिताहारविहारसेवी,
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

अर्थात् सदैव हितकर आहार और विहार का सेवन करने वाला, हिताहित विवेक पूर्वक कार्यों को करने वाला, विषयों के सेवन में आसक्ति नहीं रखने वाला, दान में तत्पर (अपरिग्रही), सम मनोवृत्ति रखने वाला, सत्य भाषण के प्रति निष्ठावान्, क्षमावान् आप्त पुरुषों की सेवा करने वाला (वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध-अनुभवी मनुष्यों के आदेशानुसार आचरण करने वाला) मनुष्य निरोग (स्वस्थ) रहता है।

विभिन्न रोगों से शरीर की रक्षा करने के लिए, चिरकाल तक शरीर को स्वस्थ निरोग एवं आयुष्मान् बनाने के लिए महर्षि चरक ने जहाँ शरीर के लिए आहार विहार सम्बन्धी नियन्त्रण का निर्देश किया है वहां मनो व्यापार को भी स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी बतलाते हुए उसकी चञ्चल वृत्ति के निग्रह का भी निर्देश किया है। बुद्धि की निर्मलता और वाणी की शुचिता (प्रियता) भी शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है। अतः इनका नियम पूर्वक अनुशीलन करने वाला व्यक्ति ही पूर्ण स्वस्थ कहलाने का अधिकारी है। जिस मनुष्य के शरीर पर रोगों का आक्रमण नहीं होता वही मनुष्य स्वस्थ कहलाता है। वही भाव महर्षि चरक ने भी निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धं,
सत्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे,
यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि, वाणी और कर्म ये तीनों सुखानुबन्धी अर्थात् स्वास्थ्य के अनुकूल अनुबंध बनाये रखने वाले होते हैं, मन स्वायत्त होता है, बुद्धि निर्मल होती है, जो ज्ञान के लिए प्रयत्नशील रहता है, तपश्चरण में संलग्न होता है, योग साधना में तत्परता होती है (ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ और योगनिष्ठ होता है) उस पर रोगों का आक्रमण नहीं होता।

योग द्वारा स्वास्थ्य साधन

योग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास, बौद्धिक विकास तथा मानसिक विकास के साथ शारीरिक विकास और स्वास्थ्य का साधन भी होता है। **"शरीरं व्याधि-मन्दिरम्"** इस आर्ष वचन के अनुसार अत्यधिक सावधान रहने पर भी शरीर को कोई न कोई रोग आक्रान्त कर ही लेता है। अतः यह मानव शरीर व्याधियों का केन्द्र है। रोगों से बचाते हुए शरीर की रक्षा और आरोग्य की सतत स्थिति बनाए रखना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन के लिए आधारभूत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाय। इस विषय में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि धर्म और मोक्ष साधन के लिए योगीजन विभिन्न यौगिक क्रियाओं के द्वारा योगाभ्यास करते हैं और उससे अभीष्ट प्राप्ति में सफल होते हैं। समस्त यौगिक क्रियाएं शरीर के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। शरीर के रोगग्रस्त होने पर धर्म साधन होना सम्भव नहीं है। यौगिक क्रियाओं की यह विशेषता है कि वे जहां आध्यात्मिक विकास और श्रेयस्कारी पथ का निर्देश करती हैं वहां शरीर को निरोग बनाने में भी समर्थ होती हैं। यौगिक क्रियाएं शरीर की समस्त क्रियाओं को नियन्त्रित व प्रभावित करती हैं, अतः शरीर के स्वास्थ्य पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ व निरोग रहता है।

अष्टांग योग के अन्तर्गत जहां यम-नियम के द्वारा मुख्यतः मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण होकर मनोविकारों का निरोध होता है, वहां आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर में रोगोपशमन होकर शरीर पूर्ण निरोग बनकर पूर्ण स्वस्थ बना रहता हैं। प्रायः सभी आसन शरीर के बाह्य अवयवों के द्वारा किए जाते हैं जिनमें शरीर का छोटे से छोटा भाग भी सक्रिय होता है। ये आसन शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों को भी पूर्णतः प्रभावित करते हैं जिससे उनकी सभी प्रकार की क्रियाएं अविकृत एवं निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। शरीर में तीनों दोषों की स्थिति सम होती है धातु

और मलों की क्रियाएं भी सम होती हैं—यही स्वास्थ्य का आधार है। इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा शरीर का आरोग्य असंदिग्ध है।

योग साधना करने वाले योगीजन अपने आहार-विहार पर विशेष ध्यान देते हैं। इसके बिना योग की सफलता और निर्वाह संदिग्ध है। योगाभ्यासी को हितकारी और परिमित आहार करने का निर्देश शास्त्रों में दिया गया है। यदि इसका पालन नहीं किया जाता है और घी-तेल आदि में तली—भुनी हुई वस्तुएं, चाट, पकौड़ी, मिठाईयां, कच्चे—सड़े गले फल आदि का निरन्तर सेवन किया जाता है तो उसकी जाठराग्नि मन्द और विकृत होकर अनेक रोगों को उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त जाठराग्नि की विकृति से उसके शरीर में रसादि धातुओं का निर्माण भी समुचित रूप से नहीं हो पाता। इसका पर्याप्त प्रभाव भी योगाभ्यासी के स्वास्थ्य पर पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी समस्त यौगिक क्रियाएं निष्फल प्रतीत होती हैं। अतः मिथ्या आहार विहार का त्याग करना योगाभ्यासी का प्रथम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार उर्वरा मिट्टी में ही बीज का अंकुरित होना सम्भव है उसी प्रकार सम्यक् आहार विहार के द्वारा स्वस्थ शरीर में ही यौगिक क्रियाओं या योगाभ्यास की सफलता निर्भर करती है।

आयुर्वेद के मनीषियों के कथनानुसार सभी प्रकार के रोगों का मूल कारण मिथ्या आहार विहार है। मिथ्या आहार विहार शरीर के लिए असात्म्य होता है और उसका प्रतिकूल प्रभाव हमारे शरीर और स्वास्थ्य पर पड़ता है। प्रारम्भ में जब मनुष्य मिथ्या आहार विहार का सेवन करता है तो कई बार उसे कुछ भी असामान्य या विकार का अनुभव नहीं होता, किन्तु निरन्तर उस अनुपयुक्त खान-पान या असात्म्य रहन-सहन के अभ्यास से शरीर में विकार की जड़ें जब गहरी जम जाती हैं तो अनेक उपाय करने पर भी उस विकार का उन्मूलन नहीं हो पाता और वह विकार गम्भीर रूप धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में शरीर को असाधारण कष्ट भोगना पड़ता है और शरीर के साथ ही मन को भी उन दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के अनेक दुःखों का मूल उसके शरीर में होने वाले विभिन्न विकार हैं। जो आहार विहार की असावधानी या प्रज्ञापराध से उत्पन्न होते हैं। विकार ग्रस्त या रोग पीड़ित मानव शरीर सामान्य लौकिक (सांसारिक) सुखों का उपयोग भी नहीं कर सकता।

यद्यपि आहार हमारे जीवन, शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य रक्षा का अभिन्न अंग है और शरीर के पोषण, अभिवृद्धि एवं अहर्निश संचालन के लिए हितकर आहार का महत्वपूर्ण स्थान है, तथापि आहार के विषय में पूर्ण जागरूकता और आहार सम्बन्धी

हिताहित विवेक नितान्त अपेक्षित है। योगाभ्यास में तत्पर योगीजनों के अतिरिक्त आम लोगों को भी आहार संयम पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सामान्यत: भूख लगने पर ही भोजन करना ओर दिन में दो बार से अधिक भोजन नहीं करना, नियमित, संयमित और विधिवत् आहार लेना स्वस्थ जीवन निर्वाह के लिए नितान्त आवश्यक है।

योगाभ्यास या यौगिक क्रियाओं-आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा सामान्यत: निम्न लाभ शरीर को प्राप्त होते हैं—

१. षट् कर्म के द्वारा विजातीय द्रव्य (मल-मूत्रादि) का निष्कासन, शोधन और शमन होकर अन्दर-बाहर से शरीर पूर्णत: शुद्ध हो जाता है और शरीर निर्विकार (प्रकृतिस्थ) होकर अपनी सम्पूर्ण अन्त: बाह्य क्रियाओं को सम्पन्न करता है।

२. यौगिक सूक्ष्म व्यायामों से शरीर स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल, हृष्ट पुष्ट और शक्तिशाली बनता है।

३. यौगिक स्थूल व्यायामों से शरीर की मांस पेशियां स्वस्थ और सुगठित बनती हैं तथा सम्पूर्ण शरीर की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है।

४. यौगिक आसनों के द्वारा शरीर स्वस्थ रहता है। जीवन आरोग्यमय बनता है, और चित्त में प्रसन्नता रहती है। शरीर में विकारोपशन, लाघव-की अनुभूत्ति तथा कर्म सामर्थ्य की वृद्धि होती है। इसके साथ ही शारीरिक शक्तियों का विकास होता है और उनमें स्थिरता आती है।

५. प्रणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप सूक्ष्म यौगिक साधनाएं मनुष्य को लौकिक सुख से वियुक्त कर ब्राह्मी स्थिति का अद्भुत आनन्द प्राप्त कराती हैं। इन साधनाओं से भौतिक स्वास्थ्य का यद्यपि प्रत्यक्षत: कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि शरीर के माध्यम से सम्पन्न होने के कारण ये यौगिक क्रियाएँ शरीर के स्वास्थ्य को निश्चित रूप से अनुकूल रूप में प्रभावित करती हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास चाहे किसी भी दृष्टि से किया जाय वह अनुकूल रूपेण शरीर और शरीर के स्वास्थ्य को अवश्य ही प्रभावित करता है। यौगिक क्रियाओं से जहां शरीर स्वस्थ बनाता है वहां अनेक प्रकार के विकरों का निराकरण भी होता है। यह बात दूसरी है कि योगीजनों का चरम लक्ष्य परमात्मा-साक्षात्कार पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है, किन्तु शरीर साधन और आरोग्य की रक्षा रूपी फल अनायास ही उन्हें प्राप्त हो जाता है। गृहस्थ जीवन यापन करते हुए शरीर के आरोग्य का ध्यान रखने वाले लोगों को उनके सर्वांगीण विकास के लिए योगाभ्यसा अवश्य करना चाहिए। यह एक ऐसा अमोघ साधन है जिससे आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से शरीर में

समस्थिति का निर्माण होता है। अनेक यौगिक क्रियाएं सीधे जाठराग्नि को प्रभावित कर उसे सक्षम बनाती हैं। इसी प्रकार अनेक क्रियाएं शरीरगत रक्त संचार को प्रभावित कर रक्त संचार के प्रमुख केन्द्र हृदय को स्वस्थ रखने में सहायक होती है हृदय की स्वस्थता और रक्त संचार की प्राकृतिक स्थिति बहुत कुछ अंशों में मानसिक तनाव को कम करने में सहायक होती है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य की नींव सुदृढ़ होती है।

योगशास्त्र में इस प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक विकार जनित दुखोंसे मुक्ति के उपाय भी निर्देशित किए गए हैं, जिससे मनुष्य विकार रहित होकर यथेष्ट सुखायु का उपभोग करता हुआ अपने पारलौकिक जीवन को भी श्रेयस्कारी बना सके। यम-नियम के द्वारा मनुष्य के आचरण की शुद्धता को ही लक्ष्य बनाया गया है। अर्थात् योग के आठ अंगों में प्रथम दो अंग यम और नियम हैं। ये दोनों ही अंग या इन दोनों अंगों का परिपालन मनुष्य के आचरण को शुद्ध बनाता हुआ उसके मन में सात्विक भाव को उत्पन्न करता है। सात्विक भाव का उद्भव मन के सत्व गुणोत्कर्ष से होता है। सत्व गुणोत्कर्ष या सात्विक भाव का उद्भव प्रत्यक्षत: मनो विकारों के उपशमन का द्योतक है, किन्तु इसका पर्याप्त प्रभाव उसके शरीर पर भी पड़ता है। सत्व गुण शरीर के उत्तम स्वास्थ्य एवं तेजस्विता के लिए महत्वपूर्ण है।

बिभिन्न विकारों के उपशमन, शरीर के स्वस्थ्य-साधन एवं स्वास्थ्य की रक्षा के लिए योगासनों एवं प्रणायाम का विशेष महत्व है। प्रत्येक योगासन किसी न किसी प्रकार से शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तरिक अवयवों को अवश्य प्रभावित करता है। जिन अवयवों की प्रक्रिया में कोई विकृति होती है वह सम्बन्धित योगासन के निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाती है और वह अवयव प्रकृतिस्थ होकर अपनी प्राकृत क्रिया का सम्पादन करता है। इससे उस अवयव से सम्बन्धित रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। उदाहरणार्थ योगासन के अभ्यास से मनुष्य को निम्न लाभ होते हैं—

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम्।
जागर्ति भुजंगी देवी साधानात् भुजंगासनम्॥

अर्थात् भुजंगासन का साधन (निरन्तर अभ्यास) करने से शरीर की अग्नि (जठराग्नि) की वृद्धि होती है, सर्वरोगों का नाश होता है और भुजंगी देवी (कुण्ड-लिनी) जाग्रत होती है।

इसी प्रकार एक अन्य आसन का अभ्यास करने से प्लीहा, गुल्भ ज्वर, कुष्ठ और कफ-पित्त का विनाश होता है तथा मनुष्य को दिन प्रति दिन आरोग्य, बल और पुष्टि की प्राप्ति होती है। जैसे—

प्लीहागुल्मज्वरं कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने॥

योगशास्त्र के उपर्युक्त उद्धरणों को जब वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में जाँचा गया तो यह पाया गया कि विभिन्न आसनों एवं प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर के भार में कमी आती है, रक्त में कोलेस्ट्राल तथा शर्करा की मात्रा कम हो जाती है इसके साथ ही यह भी देखा गया है कि शरीर में स्थित कुछ अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता आश्चर्यजनक रूप से बढ़ जाती हैं, विशेषतः थायराइड एवं एडरिनल ग्रंथियाँ अधिक सक्रिय हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त योगाभ्यास करने वाले व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि उनमें मानसिक तनाव कम हो जाता है और उनकी मानसिक थकान की गति धीमी या मन्द हो जाती है। इस प्रकार केवल आसनों एवं प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर एवं मानस में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं जो शरीर एवं मन में अभूतपूर्व स्थिति उत्पन्न कर आश्चर्य चकित कर देते हैं। वे परिवर्तन न केवल शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के स्तर को उन्नत बनाते हैं, अपितु शरीर में रोग प्रट्रिरोध क्षमता की वृद्धि कर विभिन्न रोगों और मानसिक तनावजन्य विकारों के होने की सम्भावना को कम कर देते हैं।

व्यक्तित्व, बुद्धि और मन का विकास

योग मानव शरीर के लिए एक ऐसी अद्वितीय प्रक्रिया है जिसका सम्बन्ध मानव शरीर के समस्त अंगों, अन्तः कारण और आत्मा से है। योगाभ्यास के द्वारा शरीरावयवों की क्रिया को नियन्त्रित करने और उससे अभीष्ठ सिद्धि प्राप्त करने की दिशा में अनेक योगीजन सफल हुए है। अतः इससे यह तथ्य उद्घाटित हुआ कि जो लोग योगाभ्यास या योग साधना के द्वारा अपने आध्यात्मिक विकास में रुचि नहीं लेना चाहते और जो केवल शारीरिक व मानसिक विकास को ही विशेष महत्व देते हैं उनके लिए भी 'योग' हितावह और उपयोगी है। योग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त होती है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपने व्यक्तित्व के विकास के साथ अपनी आदतों और स्वभाव में भी अपेक्षित परिवर्तन कर सकता है। जब मनुष्य हिताहार विहार पूर्वक यौगिक क्रियाओं को करता है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसके शरीर के समस्त आभ्यन्तरिक और बाह्य अवयवों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर की प्रत्येक कोशिका भी यौगिक क्रियाओं से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। इन्हीं कोशिकाओं (सेलों) से शरीरावयवों का निर्माण होता है और ये ही अणु कोशिकाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। यौगिक क्रियाओं से इन अणुओं में शनैः शनैः ऐसी विकास पूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जो मनुष्य के शरीर और शरीर के समस्त अन्तः बाह्य अवयवों को नियन्त्रित करते हुए शरीर का विकास करती है। शरीरिक विकास और अवयवों की नियन्त्रित स्थिति निश्चय ही व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तरदायी है।

इसी प्रकार यौगिक क्रियाओं से मनुष्य के बौद्धिक विकास में भी पर्याप्त सहयता मिलती है। मानव मस्तिष्क के अन्तर्गत धी-धृति-स्मृति का समन्वय मनुष्य के बौद्धिक स्तर का निर्माण करता है। अतः यह बतलाना आवश्यक नहीं है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास में इन तीनों का ही महत्वपूर्ण योग रहता है। 'धी' शब्द बुद्धि का पर्यायवाची है और बुद्धि का लक्षण बतलाया गया है—"निश्चयात्मिका बुद्धिः।" अर्थात् जिसके द्वारा निश्चय किया जाता है वह बुद्धि कहलाती है। उसे ही 'धी' भी कहते हैं। धृति का लक्षण है—"धृतिर्हि नियमात्मिका।" अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन का नियमन-नियन्त्रण करने वाली शक्ति या भाव विशेष को 'धृति' कहा जाता है। 'स्मरणं स्मृतिः' के अनुसार पूर्व में घटित बातों या घटनाओं का पुनः व्यक्त भाव (व्यक्त होना) 'स्मरण' कहलाता है। इसे ही 'स्मृति' कहते हैं। इस प्रकार ये तीनों भाव शिरोऽन्तर्गत मस्तिष्क में स्थित रहते हैं और वहीं से अपनी क्रियाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव इन तीनों भावों पर पड़ता है जिससे इनके विकास में सहायता मिलती है। जिस प्रकार पत्थर पर घिसने से चाकू या अन्य शस्त्र तीक्ष्ण धार युक्त होता है उसी प्रकार यौगिक क्रियाएं इन तीनों भावों को तीक्ष्णधार युक्त बनाती हैं जिससे इनकी विषयाभिव्यञ्जक सामर्थ्य में वृद्धि होती है। विषय प्रवणता, हित विषयों में प्रवृत्ति, बुद्धि की कुशाग्रता, निग्रह सामर्थ्य आदि कुछ भाव ऐसे हैं जो मनुष्य के बौद्धिक विकास के द्योतक हैं। अतः यह निर्विवद है कि मनुष्य के बौद्धिक विकास में यौगिक क्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

योगाभ्यास करने वाले कतिपय युवकों पर किए परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि ध्यानाभ्यासी युवकों के रक्त में एक ओर तो कार्टिसाल में कमी हुई और साथ साथ मूत्र में नाईट्रोजन के बहिर्गम की गति में मन्दता आई। दूसरी ओर रक्त में विभिन्न प्रकार के संज्ञावह ह्यूमर्स तथा एञ्जाइम्स की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात हुआ कि ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति एक ओर तो शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त शान्त रहता है और उसकी शारीरिक क्रियाएं मन्द पड़ जाती हैं और दूसरी ओर मानसिक दृष्टि से वह अधिक क्रियाशील हो जाता है। अतः उसका मानसिक दृष्टि से विकास होना स्वाभाविक है।

योगसाधना के द्वारा मन का परिष्कार भी होता है। मानस व्यापार के अन्तर्गत क्रोध-मान-माया-लोभ-भय-जुगुप्सा आदि भाव मनोविकार कहलाते हैं। इनके आधार पर मन के द्वारा जो क्रियाएँ सम्पादित होती हैं वह सब मानस व्यापार है। उपर्युक्त क्रोध आदि भावों को ही 'चित्तवृत्ति' की संज्ञा दी गई है। योग इन्हीं चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु निर्देश करता है और योग से मन का निग्रह भी किया जाता है। यह सब होना मन का परिष्कार कहलाता है। मन का परिष्कार होने पर

उसकी उन अन्तः प्रवृत्तियों का विकास होता है जो आध्यात्मिक विकास में सहायक होती है। चित्तवृत्ति निरोध या मनः परिष्कार होने पर चित्त बिल्कुल निर्मल एवं शान्त हो जाता है, उसमें चञ्चलता, व्याकुलता या विकार नहीं होता। ऐसी स्थिति में मनुष्य का मानसिक धरातल इतना उन्नत और विकसित हो जाता है कि वह सांसारिक क्षुद्र विषयों से सर्वथा विमुख होकर स्वात्मानुभव में लीन होने के लिए ही सतत प्रयत्नशील रहता है। यही है योग साधना के द्वारा मनुष्य का मानसिक विकास।

यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अपने मानसिक विकास के लिए गृह त्याग कर सन्यासी बन जाय। गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुए भी मनुष्य योगाभ्यास के द्वारा अपना मानसिक विकास कर सकता है। जिस प्रकार मनुष्य गृहस्थ जीवन में रहते हुए अपने व्यक्तित्व के विकास और बौद्धिक विकास के द्वारा अपने जीवन को सफल बनाता है उसी प्रकार उसके मानसिक विकास के द्वारा भी जीवन की अनेक बाधाएं दूर हो जाती हैं। वह सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर सरल, सात्विक और सुखी जीवन का अधिकारी बन जाता है। मनुष्य का मानसिक विकास उसे सात्विक जीवन की प्रेरणा देता है, जिससे वह सांसारिक छल प्रपञ्चों से दूर रहकर जीवन के वास्तविक आनन्द का उपभोग कर सकता है। समस्त यौगिक क्रियाएं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मन और उसकी समस्त प्रवृत्तियों को प्रभावित करती हैं, जिससे उसके चिन्तन, मनन, अध्ययन, विचार, ऊहा, ध्यान, संकल्प आदि मनोभावों में शुद्धता आती है और मनोभावों की यह शुद्धता उसके आचरण को भी शुद्ध बनाती है। योगशास्त्र में आचरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है, क्योंकि आचरण की शुद्धता ही मनुष्य की सात्विक वृत्ति का मूल आधार है।

मानसिक विकास जहाँ मनुष्य के सात्विक और सुखी जीवन निर्वाह में सहायक है, वहाँ वह वैराग्य मार्ग के द्वारा उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग भी प्रशस्त करता है। मानसिक विकास मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की प्रथम आवश्यकता है। आध्यात्मिक विकास मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य कैवल्य या मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बनाता है और उसी में वह अभूतपूर्व अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। योगशास्त्र में चित्तवृत्ति के निरोध के लिए दो उपाय बतलाए गए हैं— अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यास को गृहस्थाश्रम में रहते हुए किया जा सकता है, किन्तु वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध तब ही होता है जब समस्त परिग्रहों से रहित होकर मनुष्य एकान्त साधना में लीन हो जाता है। वैराग्य मनुष्य की एक ऐसी संसारविमुख स्थिति है जिसमें वह समस्त सांसारिक विषयों के प्रति अपने

मोह और ममत्त्व का परित्याग कर देता है। जो भी हो अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनुष्य का समस्त मनो व्यापार नियन्त्रित होकर उसकी स्थिति सत्व प्रधान हो जाती है जो मानसिक विकास की परिचायक है।

योग वस्तुतः हमारी सम्पूर्ण बिखरी हुई शक्तियों का एकीकरण है जो निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है। जब हमारी सम्पूर्ण अन्तः और बाह्य शक्तियां एक हो जाती हैं तो हम अपने व्यक्तित्व के विकास, शारीरिक विकास, मानसिक विकास या बौद्धिक विकास किसी भी रूप में उसका उपयोग कर सकते हैं। यदि एक विद्यार्थी उन एकीकृत शक्तियों का उपयोग अपनी विद्या अर्जन हेतु करता है तो वह एक प्रबुद्ध और कुशाग्र बुद्धि वाला अच्छा विद्यार्थी बन सकता है। इसी प्रकार एक खिलाड़ी यदि अपनी एकीकृत शक्तियों का उपयोग करता है तो निश्चय ही उसकी खेल कला में निखार आकर वह एक श्रेष्ठ खिलाड़ी बनकर अपनी प्रतिभा का परिचय दे सकता है। एकीकृत शक्तियों के उपयोग से एक शासक अच्छा और कुशल प्रशासक बन सकता है और अपनी प्रशासन क्षमता का परिचय दे सकता है। एक साधारण मनुष्य भी अपनी शक्तियों के एकीकरण से व्यक्तिगत रूप से अपना शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास कर अद्भुत रूप से अपनी प्रतिभा की वृद्धि कर सकता है, वह अपने व्यावसायिक क्षेत्र में दक्षता प्राप्त कर उन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत विकास के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक स्थिति में योग की परम आवश्यकता है।

भारत की महान विभूतियां सदैव योग की उत्कृष्ट शक्ति से अनुप्राणित रही हैं। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि संसार के महान वैज्ञानिक, उच्चकोटि के शास्त्रवेत्ता, कुशल राजनेता तथा अन्य प्रतिभाएं जिन्होंने अपने कार्यकलापों से विश्व को चमत्कृत किया है, वे सभी किसी न किसी रूप में योगी रहे हैं। भारत में विदेह के नाम से विख्यात महाराज जनक के योग से कौन परिचित नहीं है जिनके पास योग विद्या के अध्ययन के लिए संसार भर के योगियों का हर समय जमघट लगा रहता था। योग विद्या में निपुण भगवान श्रीकृष्ण के कौशल व ज्ञान युक्त विलक्षण प्रतिभा से कौन परिचित नहीं है जिन्होंने युद्धक्षेत्र में शिथिल और उदासीन हुए अर्जुन को अद्भुत प्रेरणा देकर अपने कर्म क्षेत्र के प्रति और कर्तव्य की ओर अग्रसर किया। योग के द्वारा अपनी समस्त शक्तियों को एकत्रित कर अपना सर्वाङ्गीण विकास करने वाले स्वामी रामतीर्थ की अद्भुत क्षमता से कौन परिचित नहीं है? जिन्होंने अमेरिका में लगातार एक सप्ताह तक 'शून्य' पर बोलते हुए अपनी अपूर्व प्रतिभा से सबको चकित

कर दिया था । गणित की एक कठिन समस्या का घोर प्रयत्न करने पर भी जब वे कोई समुचित समाधान नहीं निकाल सके तो अपनी समस्त शक्तियों का एकीकरण करके उन्होंने संकल्प किया कि उन्हें प्रातःकाल तक अवश्य ही उसका समाधान खोज निकालना है, अन्यथा वे आत्मघात कर लेंगे और यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि प्रातःकालीन अरुणिमा में उन्होंने समस्या के समाधान के दर्शन किए ।

कतिपय योग विशारदों का अनुभव है कि मनुष्य के व्यक्तित्व एवं सर्वांगीण विकास के लिए मानव शरीर में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करना आवश्यक है, क्योंकि भारतीय योग शास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी मानव शरीर के अन्दर स्थित वह दिव्य शक्ति है जिसके जागरण से शरीर में प्रतिभा एवं ऊर्जा का अद्भुत विकास हो सकता है । कश्मीर के ७२ वर्षीय योगी श्री गोपीकृष्ण ३४ वर्ष की आयु में किसी गुरू की सहायता के बिना अपनी कुण्डलिनी को जागृत करने में सफल हुए थे, इसके बाद उनकी प्रतिभा का अद्भुत रूप से विकास हुआ । इस प्रकार ऐसे अनेक उदाहरण आज हमारे सामने मौजूद हैं जिनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यौगिक क्रियाओं का मानव जीवन में विशेष महत्व है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि उन्हें सही रूप से समझकर विधिवत् उनका सतत अभ्यास किया जाय ।

योग परम्परा, भेद एवं अष्टांग

हमारी संस्कृति, सभ्यता ज्ञान तथा अन्यान्य विद्याओं का स्रोत वेद माने जाते हैं। वेद हमारी समस्त विद्याओं के उद्गम भूत प्राचीनतम ग्रंथ हैं। ये ईश्वरकृत होने से अपौरुषेय एवं ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण हैं। योग विद्या के बीज भी वेद में विद्यमान हैं, अतः योग परम्परा का आदि स्रोत वेद हैं। आदि काल से ही ऋषि-महर्षिगण योग विद्या के ज्ञान एवं अभ्यास से परमात्मा साक्षात्कार करतें हुए आत्म कल्याण एवं मोक्ष प्राप्ति करते रहे। अतः यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि योग परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन सृष्टि और उसका विकासक्रम है। योग शब्द का प्रयोग वैदिक ऋचाओं, शतपथ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में प्रभूत रूपेण हुआ है। महाभारत के मोक्षधर्म प्रकरण में सांख्य योग पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

ज्ञान या विद्या की परम्परा एवं विकासक्रम में यह एक महत्व पूर्ण तथ्य है कि जिस विद्या के बीज वेद की अथाह राशि में विद्यमान हैं वे परवर्ती ग्रंथों विशेषतः उपनिषदों में पर्याप्त रूपेण विकास को प्राप्त हुए हैं। अतः अनेक बार यह भ्रम होने लगता है कि अमुक विद्या या ज्ञान का मूल उद्गम उपनिषद् हैं। योग विद्या के विषय में भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। उपनिषदों में योग विद्या का जितना विस्तार हुआ है उससे योग के मूल स्रोत के रूप में उपनिषद् ही माने जाते हैं। यद्यपि औपनिषद् परम्परा में एक सौ आठ उपनिषदों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान में उपलब्ध जानकारी के अनुसार दो सौ से भी अधिक उपनिषदों के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो चुकी है। यहाँ इस विवाद में न उलझते हुए मात्र इतना ही कहना है कि अक्षय ज्ञान के भण्डार उपनिषदों में व्यापक रूप से योग की विवेचना की गई है। मुख्य रूप से ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण एवं नादबिन्दु, शुक्लयजुर्वेद के बृहदारण्यक, हंस, त्रिशिखि ब्राह्मण, मण्डल ब्राह्मण और अद्वयतारक, कृष्ण यजुर्वेद के कठ, तैत्तिरीय, कैवल्य, श्वेताश्वतर, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, क्षुरिका, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योग तत्व, योग शिक्षा, योग कुण्डलिनी और वराह, सामवेद के छान्दोग्य, मैत्रायणी

मैत्रेयी, योग चूड़ामणि और जाबाल दर्शन तथा अथर्ववेद के मुण्डक, शांडिल्य, पाशुपत ब्रह्म और महावाक्य उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें योग सम्बन्धी विचार एवं विवेचना व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की गई है जो वस्तुतः गम्भीर चिन्तन के परिणाम स्वरूप है। अन्य उपनिषदों में भी प्रसङ्गोपात्त रूपेण योग विवेचन या कथन किया गया है।

उपनिषदों के पश्चात् उत्तरवर्त्ती ग्रंथों एवं साहित्य में कहीं न्यूनाधिक रूप में और कहीं विस्तार पूर्वक योग का व्याख्यान किया गया है। उसी क्रम में जब दर्शन शास्त्र का उद्भव हुआ और उसमें आत्मा तथा तत्सम्बन्धी अन्यान्य विषयों का विवेचन किया गया तो योग के अंश स्वतः ही उसमें विस्तार पा गए। सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही कि योग विद्या एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में विकसित हुई और षड् दर्शनों में एक प्रमुख दर्शन के रुप में उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। इसका सम्पूर्ण श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है जिन्होंने योग विद्या को योगदर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने योग दर्शन के सिद्धान्तों को ऐसा स्वरूप प्रदान किया कि वे मात्र सिद्धान्त बन कर ही नहीं रह गए, अपितु क्रियात्मक रुप से मनुष्य जीवन के लिए सार्थक एवं उपयोगी सिद्ध हुए। योग दर्शन में अध्यात्म विद्या को मात्र तर्क एवं प्रमाण के घेरे में सीमित नहीं किया गया, अपितु उसे सर्वजनोपयोगी बनाने के लिए व्यवहारिक क्रियात्मक रूप प्रदान किया गया जिससे वह मानव मात्र के निकटतम तो हो ही गया, वह उसके लिए अपरिहार्य बन गया। कुछ अन्य विद्वान जैसे याकोबी योग दर्शन को स्वतन्त्र विद्या मानते हैं। फ्राऊवालनर याकोबी की इस अवधारणा को षड्दर्शन पर आधारित मानकर इसे बहुत बाद की अवधारणा बतलाते हैं। स्वयं फ्राऊवालनर सांख्य योग को एक ही दर्शन के दो रूप मानते हैं। उनमें से एक सैद्धान्तिक है तो दूसरा प्रायोगिक। उनके अनुसार योग एक दार्शनिक विद्या मात्र नहीं है, अपितु कैवल्य का एक ऐसा मार्ग है जो सर्व सुलभ एवं सर्वजनोपयोगी है। जिस प्रकार वृषगण सांख्य सिद्धान्त के प्रमुख व्याख्याता हैं उसी प्रकार पतञ्जलि भी सांख्य के प्रायोगिक स्वरूप अर्थात् योग दर्शन के प्रमुख व्याख्याता हैं।

योग शास्त्र के सिद्धान्त अन्य दर्शनों की भाँति पारस्परिक विवाद या मतभेद के घेरे में सीमित नहीं रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य शास्त्रों या दर्शनों ने भी अपनी आवश्यकतानुसार उन्हें अपनाया, विशेषतः अध्यात्म विद्या के प्रबल समर्थक एवं मोक्ष को चरम लक्ष्य मानने वाले दर्शनों ने। धर्म शास्त्र में भी उन्हें अपेक्षित स्थान प्राप्त हुआ और धर्माचर्यों ने उन्हें अपने आचरण में उतारते हुए जन सामान्य को उसका उपदेश देकर उन्हें जीवन में उतारने एवं आचरण करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार योग के दार्शनिक सिद्धान्त नीरसता के दायरे से निकल कर जन सामान्य के

लिए सुरुचिपूर्ण, व्यवहार्य एवं सार्थक सिद्ध हुए। यह स्पष्ट है कि योग दर्शन में सांख्य सिद्धान्तों या सांख्य तत्त्वों को अक्षरशः स्वीकार नहीं किया गया है तथा सांख्येतर कुछ अन्य दर्शनों का प्रभाव भी योग दर्शन पर न्यूनाधिक रूप में पड़ा है जो स्पष्टतः लक्षित होता है।

जैन दर्शन एवं जैन धर्म ने योग विद्या की अनेक विधियों को संस्कारित एवं परिष्कृत कर आत्मसात कर स्वयं को समृद्ध किया। अनेक विषयों में जैनधर्म एवं योग विद्या में पर्याप्त समानता है। यही कारण है कि जैन धर्म के सभी तीर्थंकर एवं अन्य अनेक तपस्वी-साधु जन योग मुद्रा धारण कर योगी हुए। साधना में शिथिलाचार को सर्वथा वर्जित करने की दृष्टि से उसने साधना एवं ध्यान की पद्धति को और अधिक कठोर बनाया। जिससे कैवल्य का मार्ग प्रशस्त हुआ और तपस्वी कैवल्य प्राप्त करने में सफल हुए। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन में भी योग विद्या तथा योग की अन्यान्य विधियों को अङ्गीकार कर भिक्षु के आचरण के लिए उन्हें अनिवार्य बनाया गया। इसके अतिरिक्त जो भी अन्य साधु सन्यासी और तपस्वी हुए उन्होंने किसी न किसी रूप में योग विद्या की अन्यान्य विधियों का आचरण करते हुए उन्हें आत्मसात् किया और अपने लक्ष्य साधन में लीन रहे। इस प्रकार योग विद्या और उसकी परम्परा का विस्तार प्रत्येक क्षेत्र में हुआ। आज जबकि मनुष्य स्वयं को अधिक अशान्त अनुभव कर रहा है, धर्म, जाति, देश आदि के सभी बन्धन तोड़कर वह योग की ओर उन्मुख है। प्राचीन काल में योग मुख्यतः साधना का माध्यम रहा जिससे आत्मा का कालुष्य दूर होकर आत्मा में निर्मलता आई। किन्तु आज योग के साधन में पूर्व की भांति आध्यात्मिकता का उतना पुट नहीं है, अपितु उसे मात्र शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थ्य की रक्षा, तनाव से मुक्ति एवं अन्य भौतिक उपलब्धियों तक सीमित कर दिया गया है। कहीं कहीं तो उसे प्रदर्शन के रूप में भी अपनाया गया। योग की साधना आज वस्तुतः आत्म साधन या मोक्ष साधन के लिए उतनी नहीं की जाती है जितनी शारीरिक स्वास्थ्य एवं बाह्य प्रदर्शन के लिए की जाती है। अतः काल प्रभाव से उसमें पर्याप्त परिवर्तन आ गया है।

यह स्पष्ट है औपनिषदीय काल में योग का जो स्वरूप था वह उत्तरवर्ती दर्शन काल में नहीं था। काल प्रभाव से उसमें परिवर्तन आया। इसी प्रकार आज योग का जो स्वरूप है वह प्राचीन काल से भिन्न है। आज का योग मात्र कतिपय आसनों तक तक ही सीमित रह गया है। एक पाश्चात्य विद्वान के मतानुसार अष्टांग योग की विधि चित्त-वृत्ति निरोध से भिन्न है। उनकी अवधारणा है कि जब चित्तवृत्ति निरोध हो जाता है तो पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। अष्टांग योग की विधि से विवेक उत्पन्न होता है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है—यही विवेक है, यही कैवल्य है। यह ज्ञान

की विधा है, जबकि चित्तवृत्ति निरोध ज्ञान की विधा नहीं है। वस्तुतः ये दोनों योग की भिन्न भिन्न विधाएँ हैं।

योग के भेद

उपनिषदों में योग की चर्चा विस्तार पूर्वक की गई है। योग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि योग प्रतिपादक उपनिषदों में ध्यानयोग, अभ्यास योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, मन्त्र योग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग का निरूपण मिलता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग को मोक्षोपलब्धि का साधन बतलाते हुए उसे ज्ञानयोग एवं कर्मयोग भेद से द्विविध निरूपित किया गया है। यथा—

ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः — त्रिशिखिब्राह्मणोनिषद् २३

यहाँ कर्मयोग के लिए क्रियायोग शब्द का भी प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त वराहोपनिषद् में मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग इन तीन योगों का उल्लेख मिलता है। अन्य उपनिषदों में उपर्युक्त तीन योग के साथ चतुर्थ राजयोग को सम्मिलित कर चतुर्विध योग का प्रतिपादन किया गया है। यथा—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ।। — योगतत्वोपनिषद् १९
मंत्रो हठो लयो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महोयोगोऽभिधीयते ।।—योगशिखोपनिषद् १/१२९-१३०
योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये।
मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।।
योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्वदर्शिभिः। —योगराजोपनिषद् १-२

इस प्रकार योग चार प्रकार का बतलाया गया है। इस चतुर्विध योग का सामान्य लक्षण बतलाया गया है—'प्राणापानसमायोग'। जैसा कि निम्न औपनिषदीय वचन द्वारा स्पष्ट है—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।। —योगशिखोपनिषद्

इसी प्रकार अन्यत्र आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि इन चार योगाङ्ग को उपर्युक्त चतुर्विध योग में समान रूप से स्वीकार किया गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः।
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम् ।।— योग राजोपनिषद् २३

अर्थात् आसन, प्राण संरोध (प्राणायाम) ध्यान और समाधि ये चार योगाङ्ग सभी योगों में माने गये हैं। अभिप्राय यह है कि चाहे मन्त्र योग हो या लययोग हो, हठयोग हो या राजयोग हो उपर्युक्त चारों योगाङ्ग उसमें स्वीकार किए गए हैं।

इस प्रकार योग मुख्यतः मन्त्र योग आदि भेद से चार प्रकार का माना गया है। उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

मन्त्रयोग

इसमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओं के मन्त्र का जप कर वत्सराज आदि के समान सिद्धि प्राप्त की जाती है, जैसा कि योगराजोपनिषद में प्रतिपादित किया गया है—

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः।
साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा॥

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के मन्त्र का जप करने में दक्ष लोगों के द्वारा मन्त्र योग सिद्ध किया जाता है, जैसे वत्सराज आदि के द्वारा सिद्ध किया गया।

शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं कि मन्त्रों का जप करने से साधक को किस प्रकार सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इस सन्दर्भ में योगतत्वोपनिषद् का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः।

—योगतत्वोपनिषद् २१/२२

अर्थात् जो साधक मातृका आदि से युक्त मन्त्र का जप बारह वर्ष तक करता है वह क्रमशः अणिमा आदि गुणों (सिद्धियों) से युक्त ज्ञान को प्राप्त करता है। इस मन्त्र योग की साधना अल्प बुद्धि वाले निम्न कोटि के साधक करते हैं।

मन्त्रयोग के विषय में बतलाया गया है कि किस प्रकार साधारण व्यक्ति भी निरन्तर गतिमान श्वास निश्वास के द्वारा मन्त्र का जप करता है? योग शिखोपनिषद् का निम्न वचन इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
'हंस' हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते॥

—योग शिखोपनिषद् १/१३०—१३२

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की श्वास 'हकार' के साथ बाहर निकलती है और 'सकार' के साथ पुनः प्रविष्ट होती है। इस प्रकार श्वासोच्छ्वास के रूप में निरन्तर 'हंस'-'हंस' इसके मन्त्र का जप सभी प्राणियों के द्वारा किया जाता है, किन्तु गुरु वाक्य के प्रभाव से साधक सुषुम्ना में इसके विपरीत 'सोऽहम्' 'सोऽहम्' इस प्रकार जो मन्त्र का जप करता है वही मन्त्रयोग कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इष्ट देवता के मन्त्र का जप करना मन्त्र योग कहलाता

है। प्राचीन काल में सम्भवतः मन्त्रयोग का साधन करने वाले साधक को हीन या अधम साधक माना जाता था।

लययोग

नव चक्रों में लीन होकर योग की साधना या सिद्धि करना लययोग है। शास्त्रों में लययोग का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

कृष्णद्वैपायनाद्यैस्त साधितो लयसंज्ञितः।
नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥

—योग राजोपनिषद् ४-५

अर्थात् कृष्णद्वैपायनादि महात्माओं के द्वारा नौ चक्रों में लय कर के योग की सिद्धि करना 'लययोग' कहलाता है।

कुछ शास्त्रों लययोग को चित्तलय की संज्ञा दी गई है। यथा—

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥

—योगतत्त्वोपनिषद् २३

अर्थात् करोड़ों बार चित का लय करना लययोग कहलाता है। चलते हुए, बैठे हुए, सोते हुए, खाना खाते हुए सदैव निष्कल ईश्वर का ध्यान करे। अभिप्राय यह है कि प्रतिक्षण ईश्वर का ध्यान करते हुए उसी में अपने चित्त को लीन करना चित्तलय कहलाता है।

इसी बात को निम्न प्रकार से और अधिक स्पष्ट किया गया है—

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मन्! चित्तं याति विलीनताम्॥
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्॥

—योग शिखोपनिषद्

अर्थात् जब क्षेत्रज्ञ (आत्मा) और परमात्मा दोनों का ऐक्य होता है, तब उस ऐक्य के साधित होने पर हे ब्रह्मन्! चित्त लीनता को प्राप्त होता है (विलीन हो जाता) है। (यही लययोग है और उस) लययोग के उत्पन्न होने पर वायु (प्राण) स्थिरता को प्राप्त होती है। लय होने से स्वात्मानन्द रूप जो सौख्य एवं परम पद है वह प्राप्त होता है।

इस प्रकार लययोग आत्मा और परमात्मा के एकाकार की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें चित्त स्वयं विलीन होकर तन्मय हो जाता है। उसके परिणाम स्वरूप जिस अलौकिक स्वात्मानन्द की अनुभूति होती है वह लोकोत्तर होने से वर्णनातीत है।

हठयोग

'हठ' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि 'हठ' का घटक अक्षर 'ह' सूर्य का वाचक है और 'ठ' अक्षर चन्द्र का वाचक है। इन पारिभाषिक सूर्य और

चन्द्र तत्व द्वय की एकता जब होती है तो वह 'हठ' वाचक होती है याने उसे ही हठ कहते हैं। हठ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है---

हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्यचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम्।

— योगशिखोपनिषद् १/१३३-१३४

अर्थात् हकार (ह) से सूर्य और ठकार (ठ) से चन्द्रमा कहलाता है। सूर्य और चन्द्र का ऐक्य 'हठ' कहलाता है। उस हठ से समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाली जड़ता का नाश होता है।

हठयोग कुछ ऐसी क्रियाओं का प्रतिपादन है जिससे शरीर के विभिन्न भागों में स्थित मल विभिन्न स्रोतों-मार्गों से बाहर निकलता है और शरीर की शुद्धि होती है। इस प्रकार का शुद्ध हुआ शरीर ही योगाभ्यास (राजयोग) के उपयुक्त माना जाता है। हठयोग की क्रियाओं से विवेक का उदय नहीं होता है, अपितु विवेक का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः हठयोग वस्तुतः योगाभ्यास या रजयोग की पूर्व पीठिका माना जाना चाहिए।

योगतत्वोपनिषद् के अनुसार हठयोग के बीस अङ्ग है। इनमें से प्रथम आठ-यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि अष्टाङ्ग योग कहलाते हैं।

शेष बारह महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधरबंध, उड्डियानबंध, मूलबंध, दीर्घप्रणवसंधान, सिद्धान्तश्रवण, वज्रोली, अमरोली, सहजोली है।

इन बीस अंगों का अभ्यास कर लेने के अन्तर हठयोग की सिद्धि होती है।

राजयोग

सम्पूर्ण योग का आधार राजयोग है। वस्तुतः योग जिसे राजयोग भी माना गया है तत्वतः प्रत्याहार से लेकर समाधि पर्यन्त चार अङ्गों के सम्बन्ध में ही चरितार्थ होता है। आरम्भ के चार अंग तो योग की प्रारम्भिक तैयारी मात्र से सम्बन्ध रखते हैं। शास्त्रों में यम और नियम केवल योगियों के लिए ही नहीं हैं, सर्वसाधारण के लिए भी व्यवहार्य माने गए हैं। आसन और प्रणायाम का अभ्यास शारीरिक स्वास्थ्य संवर्धन के लिए ही उपयोगी होता है। ज्ञान, विवेक, साधना, कर्मबन्धन से मुक्ति एवं कैवल्य के लिए प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि ही समर्थ है; उनका अभ्यास ही राजयोग है।

उपनिषद् में राजयोग के अभिधान का कारण इसमें रजस् एवं रेतस् का योग होना बतलाया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्रयुक्त रेतस् और रजस् शब्द विशुद्ध रूप से पारिभाषिक हैं और इनका प्रयोग क्रमशः शिव एवं शक्ति के लिए किया गया है। अतः शिव और शक्ति के योग के कारण यह योग राजयोग कहलाता है। उपनिषदों में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। यथा—

रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः।
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः॥

— योग शिखोपनिषद् १/१३४

अर्थात रजस् और रेतस् के योग से राजयोग होता है। उस राजयोग से योगी

अणिमा मादि पद (सिद्धि) को प्राप्त कर शोभायमान होता है। (इसीलिए वह राजयोग कहलाता है।) इसकी व्याख्या करते हुए उसे और अधिक स्पष्ट किया गया है—

"रजसो रेतसो योगात् शक्तिशिवयोगाद् राजयोगः।"

—उपर्युक्त पर ब्रह्मयोगीकृत व्याख्या

ऊपर हठयोग के जो बीस अङ्ग बतलाए गए हैं उन बीस अङ्गों वाले हठयोग के बिना राजयोग सिद्ध नहीं हो सकता। राजयोग की सिद्धि होने पर योगी को विवेक एवं वैराग्य उत्पन्न होता है और उसे महायोगी पुरुषोत्तम विष्णु का साक्षात्कार होता है। राजयोग मनुष्य को सर्वप्रथम उसकी आभ्यन्तरिक उन शक्तियों के पर्यवेक्षण का मार्ग बतलाता है जो इतस्ततः फैली हुई हैं। वे इधर उधर फैली हुई प्रकाश की किरणों की भांति हैं। जब उन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है तब वे मनुष्य के सम्पूर्ण अन्तः को आलोकित कर देती हैं, परिणाम स्वरूप मनुष्य सामान्येतर विषयों को भी जानने व समझने लगता है। यही ज्ञान है जो मन की एकाग्रता एवं नियमन से योगियों को प्राप्त होता है। उस ज्ञान के साथ वैराग्य को संयोग होना ही राजयोग है।

योग के आठ अंग

योग के आठ अंग होते हैं। आठ अंगों के कारण यह अष्टांग योग कहलाता है। योग के आठ अंगों के विषय में योग दर्शनकार का कथन निम्न प्रकार है—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि।"

—योग सूत्र २/२९

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार. धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग होते हैं।

योग के आठ अंगों से योगी को क्या लाभ होता है, इस विषय में महर्षि पतञ्जलि का कथन है—

"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।"

अर्थात् योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने (उनको आचरण में लाने) से चित्त के मल का अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

योग के उपर्युक्त आठ अङ्ग सम्पूर्ण मानव जीवन के अन्तः शुद्धिकरण के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दोषों का जिस प्रकार निराकरण होकर निर्मल भाव उत्पन्न होता है वही वास्तव में मानव जीवन के उच्चादर्शों का द्योतक है।

वर्तमान में स्वार्थ, परिग्रह और दुराचार की प्रवृत्ति ने मानव जीवन

में प्रवेश करके जीवन की आस्थाओं, नैतिक मूल्यों और उच्च आदर्शों को जिस प्रकार डिगा दिया है और जीवन को यथार्थ से विमुख कर कृत्रिमता, आडम्बर तथा भौतिकवाद की ओर तीव्रता से उन्मुख किया है उससे निश्चय ही पौर्वात्य संस्कृति और सभ्यता के आदर्शों की नींव हिलने लगी है। वैज्ञानिक और प्रगतिशील कहे जाने वाले वर्तमान युग में जिस रूप में भौतिकवाद का साम्राज्य छाया हुआ है उससे प्राचीन सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों पर भीषण कुठाराघात हुआ है। योग के द्वारा मनुष्य को एक ऐसा सुदृढ़ नैतिक आधार प्राप्त होता है जिससे वह अपने अन्तःकरण की सम्पूर्ण शक्तियों का विकास कर हीन और तुच्छ विचारों से बहुत अधिक ऊपर उठ जाता है। इससे मनुष्य का जीवन सीधा, सरल और सात्विक बन जाता है, वह विघटनकारी प्रवृत्तियों से विमुख होकर केवल निर्माण और विकास में सुख का अनुभव करता है।

आठ अंगों में प्रथम दो अंग-यम और नियम पूर्णतः मनुष्य के नैतिक विकास के लिए उत्तरदायी हैं। इनका सम्बन्ध पूर्णतः मनुष्य के आन्तरिक संसार से है। यम और नियम के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक संसार में शुद्धिकरण की जो महत्वपूर्ण प्रक्रिया प्रारम्भ होती है उससे सारी मलिनता दूर होकर सात्विक भाव का उदय तथा आत्मिक शक्ति का विकास होता है और मनुष्य अपने जीवन की पूर्णता के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। वह अपना लक्ष्य निर्धारित कर उस ओर उन्मुख हो जाता है। शनैः शनैः भौतिक जगत उसे निःसार और हेय लगने लगता है जिससे वह समस्त सांसारिक विषयों से विमुख होता हुआ स्वात्मानुभव में ही स्वयं को केन्द्रित रखता है। यम के द्वारा मनुष्य जीव-हिंसा, असत्यभाषण, पर द्रव्यापहरण या चोरी करना, दुराचार सेवन या वासनामय जीवन और परिग्रह से स्वयं की रक्षा करता है और उन कदाचारों से बचने के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपने जीवन में उतारता है। इसी प्रकार नियम के द्वारा वह शौच-सन्तोष-तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से अपने अन्तःकरण के सम्पूर्ण विकारों के निराकरण में समर्थ होता है जिससे उसका जीवन पूर्णतः सात्विक और ऋजु बन जाता है।

आसन—प्राणायाम ये दो अंग मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं को नियन्त्रित कर उसके शरीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करते हैं। आसन और प्राणायाम के द्वारा एक ओर तो मनुष्य के शरीर पर विकार या रोग का आक्रमण नहीं होता और दूसरी ओर यदि पहले से ही शरीर विकार ग्रस्त है तो इन दोनों क्रियाओं (अंगों) के अभ्यास से उसका विकार निर्मूल होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ बन जाता है। आसन शरीर की वे क्रियाएं हैं जो विशेष प्रकार से शरीर के विभिन्न अंगों के द्वारा भिन्न भिन्न रूप से सम्पन्न की जाती हैं। इन आसनों से शरीर स्वस्थ,

सुन्दर और सुगठित बनता है तथा शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों की क्रियाएं प्राकृतिक रूप से सम्पन्न होती हैं। प्रणायाम वस्तुतः दीर्घश्वास लेने और कालान्तर में श्वासावरोध करने की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जिससे शारीर दोष वात-पित्त-कफ और मानस दोष रज-तम की समस्थिति होती है। दोषों की एतद्विध समस्थिति शरीर और स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि प्राणायाम सुदीर्घ जीवन और दीर्घायुष्य का एक महत्वपूर्ण आधार है।

योग का प्रत्याहार अङ्ग इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए महत्वपूर्ण है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से जब मन और इन्द्रियां पूर्णतः विशुद्ध हो जाती हैं तब प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों की समस्त बाह्य प्रवृत्तियों को चारों ओर से समेटकर मन में विलीन करने का सतत अभ्यास किया जाता है। ऐसा करने में योगी जब सफल हो जाता है तब उसे 'प्रत्याहार' की सिद्धि प्राप्त हो गई-ऐसा समझा जाता है। प्रत्याहार वस्तुतः मन की एकाग्रता के लिए नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उससे योगी की सभी इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं और योगी वस्तुतः साधना पथ का अनुगामी बन जाता है। इस प्रत्याहार को साधना की सिद्धि का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच योगाङ्ग बहिरंग साधन कहलाते हैं जिनका सम्बन्ध मुख्यतः योग या साधना के बाह्य स्वरूप से है। शेष धारणा-ध्यान-समाधि ये तीन अंग योग या आत्मासिद्धि रूप साधना के अन्तरंग साधन हैं। इनमें धारणा का अभिप्राय है मन को किसी एक स्थान पर स्थिर करना। इसी को चित्त का देशबन्ध भी कहा जाता है। शरीर में स्थित नाभिचक्र, हृदय कमल आदि शरीर के अन्तः प्रदेश हैं और अन्यान्य देवी देवता या अन्य पदार्थ बाह्य प्रदेश कहलाते हैं। इनमें से किसी भी एक देश में चित्त की वृत्ति को लगाना 'धारणा' कहलाता है। जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाता है उसी में चित्त को स्थिर कर एकाग्र कर लेना 'ध्यान' कहलाता है। ध्यानावस्था में चित्त की एक ही वृत्ति रह जाती है और वह एकमात्र वृत्ति अपने ध्येय में केन्द्रित होकर एक ही रूप में सतत प्रवाहित होती रहती है, इसके बीच में किसी अन्य वृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता — यही 'ध्यान' कहलाता है। इस प्रकार ध्यान करते करते जब चित्त पूर्णतः ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है और उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती उस समय उस ध्यान का ही नाम 'समाधि' हो जाता है जिससे जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग होकर उसे अक्षय परम पद 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार योग के ये आठ अङ्ग अध्यात्म साधना के महत्वपूर्ण साधन हैं। इनसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों ही शक्तियों का विकास होता है।

योगाङ्ग विवेचन—१. यम

पूर्व प्रकरण में योग के आठ अंगों का संक्षिप्त स्वरूप प्रतिपादित किया जा चुका है। प्रस्तुत प्रकरण में योग के पूर्वोक्त सभी आठ अंगों का योग साधना एवं स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से विस्तार पूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। सर्व प्रथम 'यम' का विवेचन प्रस्तुत है।

यम अष्टांग योग का प्रथमाङ्ग है। यम के विषय में महर्षियों ने पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि विज्ञजनों के द्वारा देह और इन्द्रियों में वैराग्य उत्पन्न होना ही 'यम' है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः। —त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/२८

एक अन्य उपनिषद् में प्रतिपादित विवेचन के अनुसार सर्वब्रह्म का ज्ञान हो जाने से होने वाला इन्द्रिय समूह का संयम ही 'यम' कहलाता है। जैसे—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियज्ञानसंयमः।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

—तेजो बिन्दू पनिषद् १/१७

इस प्रकार के यम का अभ्यास बार-बार करना चाहिये। क्योंकि इससे इन्द्रियों का संयम होने से मनुष्य के हृदय में स्वतः ही समस्त सांसारिक विषयों के प्रति राग भाव का नाश हो कर वैराग्यभाव उत्पन्न होता है, अपने शरीर और इन्द्रियों से भी उसका मोह एवं ममत्व समाप्त हो जाता है।

यम की संख्या के विषय में प्राचीन आचार्यों के दो प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। एक वे हैं जो जिनके अनुसार यम की संख्या दस है और दूसरे वे हैं जो यम पांच प्रकार का प्रतिपादित करते हैं।

विभिन्न उपनिषदों जिनमें त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् आदि मुख्य हैं में निम्न दस यम प्रतिपादित किए गए हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, मिताहार और शौच ये दश यम होते हैं।

योग तत्वोपनिषद् में इन यमों में लघ्वाहार (मिताहार) को मुख्य बतलाया गया है। यहाँ लघ्वाहार (मिताहार) से तात्पर्य योगोपयुक्त चतुर्थांशावशेष सुस्निग्ध मधुर आहार से है।

पातञ्जल योग में पांच यमों को स्वीकार किया गया है। यम के विषय में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।"—योग दर्शन २/३०

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम होते हैं। ये पांच यम सामान्यतः सभी के लिए उपयोगी हैं। इनका पालन करने से मनुष्य का जीवन स्तर निश्चय ही उन्नत होता है। मानव स्वभाव के सर्वथा अनुकूल इन पांच यमों को हम व्रत की संज्ञा दे सकते हैं। गृहस्थ जीवन में रहते हुए पूर्ण रूप से इनका पालन अवश्य किया जा सकता है। क्योंकि कोई भी गृहस्थ अपने जीवन में पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन नहीं कर सकता और न ही वह गृहस्थ जीवन की वर्तमान अनेक झंझटों के कारण पूर्णतः सत्याचरण का निर्वाह कर सकता है। अस्तेय का पालन वह सहज रूप से कर सकता है। अतः दृढ़ता पूर्वक अस्तेय यम का निर्वाह किया जाना चाहिए। ब्रह्मचर्य का सर्वांशतः परिपालन भी सम्भव नहीं है। एक पत्नीव्रत का निर्वाह तो गृहस्थों के द्वारा सम्भव है, किन्तु भरपूर जवानी में पूर्णतः ब्रह्मचर्य का परिपालन गृहस्थ जीवन के निर्वाह और पारिवारिक जीवन के सुखपूर्वक यापन के लिए सम्भव नहीं है। गृहस्थ जीवन में आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं का संचय अवश्य किया जाता है—यह परिग्रह कहलाता है। पूर्णतः अपरिग्रही केवल गृहत्यागी साधु-सन्यासी ही होते हैं। अतः गृहस्थ जीवन में पूर्णरूप से परिग्रहों का त्याग करना सम्भव नहीं होता। इस प्रकार अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह इन पांच व्रतों का निर्वाह और परिपालन गृहस्थ जीवन में केवल आंशिक रूप से किया जा सकता है। इन पांच व्रतों का आंशिक परिपालन ही 'यम' कहलाता है। जब इनका परिपालन पूर्ण रूप से किया जाता है तो इन्हें **'महाव्रत'** कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने निम्न सूत्र के द्वारा इसी आशय की पुष्टि की है—

"जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।"

—योग दर्शन २/३१

अर्थात् जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर (उक्त यम) महाव्रत हो जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त अहिंसा आदि का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसी ने नियम लिया कि मैं मछली के सिवा अन्य किसी जीव की हिंसा नही करूंगा, तो यह जाति-अवच्छिन्न अहिंसा है, इसी भांति कोई तीर्थ क्षेत्र में हिंसा न करने का प्रण करता है तो यह देश अवच्छिन्न अहिंसा है, किसी के द्वारा अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को हिंसा के परित्याग का नियम लेना काला-

वच्छिन्न अहिंसा है तथा कोई यह नियम करे कि मैं विवाह के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से हिंसा नहीं करूँगा तो यह समयावच्छिन्न (निमित्त से सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का परिपालन भी जाति-देश-काल-समय का प्रतिबंध होने के कारण ये व्रत 'यम' कहलाते हैं। इन व्रतों के साथ जब जाति-देश-काल-समय का प्रतिबंध न लगा कर समस्त प्राणियों के साथ सब देशों में सदा सर्वदा इनका सर्वांशतः परिपालन किया जाय और किसी भी निमित्त से इनमें शिथिलता आने का अवकाश न दिया जाए तब ये व्रत सार्वभौम होने पर महाव्रत कहलाते हैं।

अहिंसा

प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रखते हुए किसी भी प्राणि को किंचित् मात्र भी क्लेश नहीं पहुंचाना अहिंसा है। अपने से छोटे या बड़े किसी भी मनुष्य के प्रति अपशब्द कह कर उसका अपमान करना, किसी भी रूप में मनुष्य का तिरस्कार करना, अपमान जनक शब्दों से उसका हृदय दुखाना यह सब हिंसा का परिचायक है। शास्त्रों में हिंसा की निम्न परिभाषा दी गई है—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" —तत्वार्थ सूत्र

अर्थात् प्रमाद के योग से जीव मात्र के प्राणों का घात करना हिंसा कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रमाद वश हमारी अज्ञानता में जो छोटे छोटे जीवों के प्राणों का घात होता है यह 'हिंसा' कहलाती है। इस प्रकार हमारे दैनिक जीवन में हमारी अज्ञानता वश न जाने कितने प्रणियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यह हिंसा दो प्रकार की होती है —द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। प्रत्यक्ष रूप में किसी को मारना, पीड़ित करना या क्लेश पहुंचाना 'द्रव्यहिंसा' है। अपने मन में किसी के प्रति अहित करने का विचार रखना, किसी को किसी भी रुप में मारने के लिए मन में सोचना, संकल्प या दृढ़ निश्चय करना अथवा हिंसा के कार्य के लिए किसी को प्रेरित करना 'भावहिंसा' कहलाती है। यह दोनों प्रकार की हिंसा अशुभ परिणाम कारक है। अतः इस प्रकार की समस्त हिंसा से यथा सम्भव बचने का प्रयत्न करना अहिंसा यम कहलाता है। अन्य धर्मों में इसे ही 'अहिंसाणुव्रत' कहा गया है।

अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सभी धर्मों ने एक स्वर से इसके महत्व को स्वीकार कर इसे अपनाया है। अहिंसा के द्वारा प्राणिमात्र को अभय प्राप्त होता है, अतः प्राणिमात्र के लिए यह कल्याणकारी भी है। अहिंसा का पालन करने वाले मनुष्य के हृदय में सत्वगुणोत्कर्ष पूर्वक सात्विक भाव का उदय होता है। जिससे उसके स्वभाव में सरलता, मृदुता, नम्रता आदि गुणों का उत्कर्ष होता है। मानसिक विकार

को दूर करने के लिए अहिंसा परमौषध है। अहिंसक मनुष्य का चित्त सदैव स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। मानव जीवन के आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है। योगाभ्यास के द्वारा अपने ध्येय की पूर्णता के लिए सतत प्रयत्नशील योगीजन के लिए अहिंसावृति, अहिंसाचरण, अहिंसा का परिपालन और अहिंसा का भाव उतना ही आवश्यक है जितना जीवन निर्वाह के लिए अन्न-जल-वायु। इस प्रकार अहिंसा मानव जीवन की प्रथम आवश्यकता है। सात्विक जीवन का वह मुख्य आधार है।

भारतीय संस्कृति के प्राचीन आध्यात्मिक ग्रंथों विशेषतः उपनिषदों में अहिंसा की चर्चा व्यापक रूप से की गई है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१/५) में बतलाया गया है कि मनसा वाचा कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी कष्ट नहीं देना अहिंसा है। इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् (१/७/८) में मीमांसकों के मत एवं वेदान्त के दृष्टिकोण का समन्वय करते हुए कहा गया है कि वेद विहित प्रकार से विभिन्न रूप में मन वाणी या कर्म से किसी जीव को मारना हिंसा है और उसका अभाव अहिंसा है। वेदान्त के ज्ञाता एवं प्रवक्ता आत्मा को सर्वगत, अविकार्य, अच्छेद्य और अग्राह्य समझने को उत्तम अहिंसा कहते हैं। अहिंसा का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है —

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" — योग सूत्र २३/५

अर्थात् अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट समस्त (हिंसक) प्राणी वैर का त्याग कर देते हैं।

इस प्रकार अहिंसा भाव की पूर्णतः दृढ़ स्थिति इतनी प्रभावशाली होती है कि हिंसक प्राणी भी अपना स्वभाव छोड़ कर शांत भाव से उसके पास विचरण करते हैं।

सत्य

विद्वानों ने सत्य को वाणी का भूषण बतलाया है। वाणी में जब सत्य की प्रतिष्ठा रहती है तो वाणी का गौरव द्विगुणित हो जाता है। सत्य वचन मानव मन की शुद्धि के परिचायक होते हैं। सत्य के द्वारा सदैव मनुष्य के स्वाभिमान की रक्षा होती है और उसका सिर सदैव गर्वोन्नत रहता है। सत्य में ऐसी अद्‌भुत शक्ति होती है कि मिथ्या भाषी उसके सामने टिक नहीं सकता और उसे नतमस्तक होना पड़ता है। झूठ बोलने वाले को सदा अपमानित होना पड़ता है, समाज और जाति में उसकी कोई प्रतिष्ठा या सम्मान नहीं रहता। किसी बात में उसका विश्वास नहीं किया जाता।

योगाभ्यासी को सदैव सत्य की रक्षार्थ सत्य का आचरण करना चाहिए, सत्याचरण से उसकी वाणी पर सदा उसका नियन्त्रण रहता है और उसकी वाणी में आकर्षण की अद्‌भुत क्षमता आ जाती है। सत्यानुष्ठान से चित्त की निर्मलता में वृद्धि होती है और अनेक मानसिक विकारों का उपशम होता है। सत्य के परिपालन से मनुष्य की

वाणी की शुद्धि तो होती ही है उसके मन की भी शुद्धि होती है। सत्याचरण मनुष्य को नैतिक दृष्टि से सबल बनाता है और उसका कथन सुनियन्त्रित, सन्तुलित एवं सदृढ़ होता है। अतः मानसिक दृष्टि से भी वह सबल होता है। सत्यवादी मनुष्य को कोई भी लालच या भय अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं कर पाता और वह स्थिर चित्त से दृढ़ता पूर्वक अपने कर्त्तव्य के पालन में लगा रहता है। इस प्रकार सत्य का आचरण मनुष्य को जहाँ सुदृढ़ नैतिक आधार प्रदान करता है वहाँ उसे क्रोध-मान-माया-लोभ आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में भी अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

मानव जीवन के उत्कर्ष के लिए सत्य का निर्वाह अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि वह सत्य ऐसा हो जो दूसरों को पीड़ा या क्लेश न पहुंचाए। सत्य वचन कटु और कठोर न हो और उससे किसी प्राणि का अहित न होता हो। ऐसा सत्य ही उपादेय एवं श्रेयस्कारी होता है। दूसरों को कष्ट देने वाला या दूसरों के लिए अहितकारी सत्य वचन सत्य होते हुए भी कल्याण कारी एवं उपादेय नहीं है। इसलिए शास्त्रों में बतलाया गया है—"सत्यं ब्र यात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात्-सत्यमप्रियम्। हित और मित सत्य वचन के द्वारा परहित साधन और आत्म कल्याण दोनों होते हैं।" सत्य के द्वारा मन की शुद्धि होती है, इसमें कोई संशय नहीं है—मनः सत्येन शुद्ध्यति।" सत्य के विषय में निम्न कथन भी महत्वपूर्ण है—

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं यथा न्यायाभिभाषणम्।
प्रियं च सत्यमित्युक्तं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

—वशिष्ठ संहिता

अर्थात् न्याय पूर्ण सत्य का कथन प्राणियों के लिए हितकारी बतलाया गया है। जो सत्य प्रिय होता है वही सत्य कहलाता है।

इस प्रकार सत्याचरण मन और वाणी को शुद्ध करने वाला पर हितकारी तथा आत्म श्रेयस्कारी होता है। योगाभ्यास के लिए इसका पालन एवं आचरण करना नितान्त आवश्यक है। मन, वचन एवं कर्म से सर्वभूतहितावह, समस्त प्राणियों के लिए कल्याण-कारी यथार्थ भाषण, यथा गृहीत की अभिव्यक्ति करना सत्य है। वेदान्तज्ञों की दृष्टि में ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानना, सत्य को भी सत्य समझना उत्तम सत्य साधना है।

सत्य के फल की महिमा को महर्षि पतञ्जलि स्वयं कहते हैं—

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।" —योग सूत्र २/३६

अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा (दृढ स्थिति) होने पर योगी में क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है। जब योगी सत्य का परिपालन करने में दृढ़ और परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रहती तब वह योगी कर्त्तव्य पालन रूप

क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है। जो कर्म किसी ने नहीं किया है उसका भी फल उसे प्रदान कर देने की शक्ति उस योगी में आ जाती है।

अस्तेय

अस्तेय का सामान्य अर्थ है—चोरी नहीं करना। स्तेय—चोरी, करना एक ऐसी क्रिया है जिसका सीधा सम्बन्ध मन और शरीर से है। मन में जब स्वार्थ और लोभ का भाव उत्पन्न होता है तो मन दूसरों की वस्तु के अपहरण या प्राप्त करने के लिए शरीर को प्रेरित करता है। मन की प्रेरणा से हाथ पैर आदि शारीरिक अवयव परद्रव्यापहरण आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। यही निन्दनीय चोर कर्म या स्तेय है। मनसा-वाचा-कर्मणा इस कर्म से बचना और इसका परिहार करना 'अस्तेय' या 'आचौर्य' व्रत कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग के प्रथम अंग 'यम' के अन्तर्गत इसका प्रतिपादन किया है। मन-वचन-शरीर की शुद्धि के लिए अस्तेय का परिपालन भी उतना ही आवश्यक है जितना अन्य यमों का।

हमारे दैनिक जीवन में प्रतिदिन अनेक ऐसी घटनाऐं घटित होती रहती हैं जिनसे किसी न किसी रूप में स्वार्थवश हम अवश्य बंधे रहते हैं। स्तेय में भी हमारा स्वार्थ निहित होता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की अज्ञानता, मूर्खता या दुर्व्यवस्था का लाभ उठाकर उसकी बहुमूल्य वस्तु को वास्तविक मूल्य से कम मूल्य में लेना या किसी को दिलवाना स्तेय कर्म है। इसी प्रकार अनुचित लाभ उठाने के लिए या चुंगी से बचने के लिए किसी भी वस्तु को छिपा कर लाना, चुंगी-अधिकारी को बनावटी बीजक दिखा कर कम चुंगी चुकाना, जाली और बनावटी हिसाब-किताब रखना, जाली बहीखाता दिखाकर कम आयकर चुकाना, रेल में या बस में बिना टिकट सफर करना, बढ़िया चीज में घटिया वस्तुएं मिला कर ऊंची कीमत में बेचना, वस्तुओं के नाप-तोल में हेरा फेरी करना निन्दनीय चौर्य कर्म है। रिश्वत लेना और देना, चोर बाजारी करना, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह करना, वस्तुएं बहुत अधिक ऊंची कीमत में बेचना आदि भी स्तेय कर्म है। ये काम स्वयं करना, दूसरों से करवाना, इन कामों को करने के लिए दूसरों को प्रेरित करना अथवा इन कर्मों के लिए योजना बनाना, युक्ति निकालना या मात्र मन में विचार करना चोरी के अन्तर्गत समाविष्ट है। मन-वचन-काय पूर्वक इन कर्मों का परिहार करना अस्तेय (यम) या अचौर्याणुव्रत कहलाता है।

किसी स्थान में गड़े हुए, घर-दुकान या कहीं रखे हुए, अमानत के तौर पर रखे हुए, किसी के मकान, गली, बाजार, सड़क पर पड़े हुए, किसी के यहां भूले हुए द्रव्य को अपने पास रखकर उस पर स्वामित्व प्रकट करना, अधिकारी व्यक्ति के द्वारा

मांगने पर वापिस नहीं करना स्तेय कर्म है। अतः ऐसी वस्तु अपने पास नहीं रखना-उसके वास्तविक स्वामी या अधिकारी को लौटा देना अस्तेय कहलाता है। हिसाब-किताब में भूलचूक होने पर उसे सुधार लेना, किसी भी परद्रव्य को बिना अनुमति के नहीं लेना और न ही किसी को देना, स्थूल चोरी का परित्याग अस्तेय व्रत कहलाता है।

बेईमानी और अनीति पूर्वक कमाए हुए तथा दूसरों के धन की अभिलाषा न रखते हुए न्याय और नीति पूर्वक उपार्जित धन में ही संतोष रखते हुए अपना जीवन निर्वाह करना अस्तेय यम का मूल है। अस्तेय का पालन करने से अशुभ कर्म का बंध नहीं होता और संसार में उसका यश उज्जवल होता है। ऐसा महापुरुष संसार की अनेक अलभ्य विभूति को भोग कर परम्परा से अक्षय-अखण्ड परम निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

उपनिषद् में अस्तेय का स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। तदनुसार मन, वचन और कर्म से परस्व में निःस्पृहता, उससे मन की विनिवृत्ति अस्तेय है। आत्मवेत्ताओं (वेदान्तियों) ने यथार्थ अस्तेय आत्मा को अनात्म समझकर किए जाने वाले व्यवहार का त्याग करना बतलाया है। जैसा कि दर्शनोपनिषद् (१/१२) में प्रतिपादित है—

आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामुने ॥

अस्तेय के फल के विषय में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्।" —योग सूत्र २/३७

अर्थात् अस्तेय (चोरी के अभाव) की प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति) होने पर साधक के समक्ष संसार में स्थित समस्त रत्न (धन-धान्य वैभव) प्रकट हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य

"ब्रह्मचर्यं परं तपः।" यह मूल मंत्र मानव जीवन की उत्कृष्टता के लिए विशेष महत्वपूर्ण है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि मानव जीवन के शारीरिक, मानसिक एंव आध्यात्मिक विकास में ब्रह्मचर्य का पालन अपना विशेष महत्व रखता है। ब्रह्मचर्य मानव जीवन का प्रधान अंग है और इसके द्वारा ही योगियों का योग, तपस्वियों का तप तथा साधकों की साधना पूर्णता को प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य का पालन एक महान् व्रत है जो सभी सिद्धियों के लिए आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का अखण्ड रूप से पालन त्यागी, योगी, साधक, साधु या महात्मा ही कर सकते हैं, सामान्य गृहस्थ पूर्णरूप से इसका पालन नहीं कर सकता। किन्तु ब्रह्मचर्य पालन की अभिलाषा रखने वाला गृहस्थ स्वदार संतोषी होता है जो अपनी जाति, कुल और गृहस्थ धर्म की मर्यादा के अनुसार अग्नि साक्षी पूर्वक विवाही गई स्त्री में ही सन्तोष रखता है और अन्य समस्त स्त्री मात्र में राग भाव का परित्याग करता है। परस्त्री, वेश्या, दासी,

कुल्टा, कन्या आदि स्त्रियों में उदासीन वृत्ति को धारण कर उनके साथ वचनालाप, उनके स्पर्शन, अवलोकन आदि का त्याग करता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला गृहस्थ परस्त्री का त्यागी और स्वदार सन्तोषी कहलाता है।

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ है— ब्रह्म = आत्मा और चर्या = रमण करना अर्थात् अपने शुद्ध चिनानन्द रूप आत्मा में रमण करना ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधुजन मन—वचन—काय की शुद्धता पूर्वक अपने भाव और परिणामों को उज्ज्वल रखते हैं। वे किसी प्रकार के भी विकार भाव से अपनी आत्मा को मलिन नहीं होने देते। इन्द्रियों के विषय भोग और भौतिक सुखों से सर्वथा विरक्त होकर अन्तरंग परमात्मा स्वरूप अपनी आत्मा की उज्ज्वलता और निर्मलता का ही अवलोकन करना उनका परम ध्येय होता है।

सामान्य गृहस्थ जीवन के सुख पूर्वक निर्वाह के लिए ब्रह्मचर्य का धारण करना आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोतम उपाय है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही मनुष्य के शरीर में अपूर्व शक्ति का संचार होता है, उसके चेहरे पर कान्ति और तेज झलकता है, वाणी में ओजस्विता रहती है तथा व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण होता है। शरीर के सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग और संधिस्थल सुदृढ़ होते हैं, मन में अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का अनुशीलन करने से शरीर में बल, बुद्धि, वर्ण, कान्ति और तेज की वृद्धि होती है तथा मन में साहस और उत्साह का संचार होता है।

ब्रह्मचर्य के स्वरूप प्रतिपादन में समस्त धर्मशास्त्र एवं दर्शन शास्त्र एकमत हैं। उपनिषदों में भी उसका वही स्वरूप प्रतिपादित मिलता है। शाण्डिल्योपनिद (१/१/८) में मन, वचन और कर्म से सभी प्रकार के मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। किन्तु दर्शनोपनिषद् में ब्रह्मवादियों ने ब्रह्मचर्य के स्वरूप को अधिक व्यापकता दी है। उन्होंने ऋतौ भार्या इत्यादि कह कर गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सभी आश्रमों का ध्यान रखते हुए मन के ब्रह्मभाव में विचरण करने (ब्रह्मभावे मनश्चारं) को ब्रह्मचर्य कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्म स्वरूप में लीन होना और समस्त भौतिक विषयों को तिलाञ्जलि देते हुए उनसे विमुख होना ब्रह्मचर्य का मूल है।

ब्रह्मचर्य के महात्म्य का निरूपण करते हुए श्री हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं—

प्राणाभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य मानव चरित्र का प्राणभूत होता है, वह परमब्रह्म की प्राप्ति का एक मात्र कारण है। ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला मनुष्य पूजित लोगों के द्वारा भी पूजा जाता है।

ब्रह्मचर्य के फल का निरूपण महर्षि पतञ्जलि ने निम्न प्रकार से किया है—

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।" —योग दर्शन २/३८

अर्थात् ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर वीर्य लाभ (सामर्थ्य का लाभ) होता है। योग शास्त्र के अनुसार जब साधक ब्रह्मचर्य के अनुशीलन में दृढ़ हो जाता है और कोई भी मनोविकार उसे विचलित नहीं कर पाता है तब उसके मन-बुद्धि-इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा वह स्वयं अपने आप में वैशिष्ट्य का अनुभव करने लगता है।

अपरिग्रह

परिग्रह नहीं करना ही अपरिग्रह है। परिग्रह का सामान्य अभिप्राय है संचय करना। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार "परि समन्तात् गृह्णातीति परिग्रहः" अर्थात् भोगोपभोग की सांसारिक वस्तुओं का चारों ओर से ग्रहण करते हुए संचय करना परिग्रह कहलाता है। वस्तु का संचय नहीं करना अथवा परिग्रह का त्याग करना ही अपरिग्रह है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इन्द्रियगम्य समस्त पदार्थों में अनाशक्ति रखना अपरिग्रह है। अपने भौतिक सुख के लिए आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह करना सामाजिक विषमता, कलह और संघर्ष का कारण है। जब तक समाज में आवश्यक वस्तुओं का समान वितरण नहीं होता और लोगों को आवश्यकता की वस्तुएं सुलभ नहीं होतीं तब तक समाज में सुख और शांति की कल्पना करना व्यर्थ है।

व्यक्तिगत सुख और शांति के लिए परिग्रह वृत्ति का परित्याग कर अपरिग्रह व्रत का परिपालन करना नितान्त आवश्यक है। योगी अथवा साधक के लिए तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सांसारिक झंझटों की कारण भूत परिग्रहवृत्ति का परित्याग करे। द्रव्य-संचय के मोह में न पड़ कर वह निस्संग एवं अनाशक्ति पूर्वक अपने सात्विक जीवन के निर्वाह हेतु प्रयत्नशील रहे। किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी परिग्रह सभी पापों का मूल कारण और सभी अनर्थों की जड़ है। व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण के लिए इस महापाप से बचना आवश्यक है और इसका एकमात्र उपाय है—परिग्रह की प्रवृत्ति का परित्याग।

सांसारिक सुखों का स्वेच्छा पूर्वक त्याग, वासनाओं से विरक्ति, आडम्बरों से निर्लिप्तता, कृत्रिमता से रहित और वस्तुओं के संग्रह में अरुचि-यही अपरिग्रह के लक्षण हैं। अपरिग्रह के विषय में नीतिकारों का कथन है कि मनुष्य को अपनी भौतिक सम्पत्ति के प्रति मोह या राग नहीं रखना चाहिए। उसे सभी प्रकार के प्रलोभनों से सदैव बचने का प्रयत्न करना चाहिए तथा अपने जीवन को सादा, सरल और उच्च बनाने

के लिए सदैव प्रयत्न शील रहना चाहिए। सांसारिक मोह को उत्पन्न करने वाले परिग्रह के जाल में फंसकर जीवन के यथार्थ आदर्श और चरम लक्ष्य को नहीं भूल जाना चाहिए। मनुष्य के अपरिग्रह व्रत की सार्थकता तब ही है जब वह इन्द्रिय जनित विषय भोगों के प्रति विरक्त होकर अपने आन्तरिक शत्रुओं राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ पर विजय प्राप्त कर सात्विक जीवन की निर्बाध धारा को प्रवाहित करता है।

यद्यपि आत्म कल्याण की दृष्टि से समस्त परिग्रह त्याज्य हैं, किन्तु जो गृहस्थ जीवन में रहते हुए धर्म सेवन करना चाहते हैं उन्हें थोड़ा बहुत परिग्रह अपने जीवन निर्वाह के लिए रखना ही पड़ता है। यदि गृहस्थ के पास यथावश्यक परिग्रह न हो तो काल-दुष्काल में, रोग में, आपत्ति समय में, विवाह आदि के समय उसके परिणाम बिगड़ जाते हैं। अतः जीवन निर्वाह और गृहस्थ धर्म की रक्षा के लिए एक गृहस्थ के लिए कुछ न कुछ परिग्रह करना आवश्यक हो जाती है, किन्तु यह भी आवश्यक है कि उसकी आजीविका ऐसे साधनों पर आधारित हो जो नीति और न्याय पूर्ण हों। शास्त्रकारों का कथन है कि सच्चा साधु यदि तिल तुष मात्र भी परिग्रह रखता है तो दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाता है और गृहस्थ यदि आवश्यकता के अनुसार उचित परिग्रह नहीं करता तो वह भी धर्म और नीति के मार्ग से च्युत हो जाता है। अतः लोभ रहित परिग्रह उसके जीवन निर्वाह एवं लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होता है। असीमित परिग्रह हमेशा दुःखदायी होता है। परिग्रह के कारण ही हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति होती है। परिग्रह से गृद्धता होती है, गृद्धता होने पर मनुष्य धन का संचय करता है, धन संचय से लोभ बढ़ता और लोभ से दुःखों की परम्परा बढ़ती है। इस प्रकार परिग्रह महान् अनर्थों का मूल है। अतः ऐसे दुःखदायी परिग्रह का त्याग कर अपरिग्रह व्रत का पालन करना चाहिए।

उपनिषदों में यम के अन्तर्गत जिन भावों का परिगणन किया गया है उनमें अपरिग्रह का समावेश नहीं है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि वैदिक परम्परा में चारों पुरुषार्थों धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन हेतु इनके समन्वय पर अधिक बल दिया जाता था और जन सामान्य के लिए अपरिग्रह को उतना महत्वपूर्ण नहीं माना जाता था जितना श्रमण परम्परा में। मनुष्य मात्र के आध्यात्मिक विकास के लिए अपरिग्रह का पालन करना अपरिहार्य माना गया है। आध्यात्मिक या मोक्ष पथ का अनुसरण करने वाले साधुजनों महात्माओं और योगीजनों के लिए तो उसका अनुशीलन एवं आचरण अनिवार्य है ही। योग प्रतिपादक उपनिषदों का प्रणयन-जैसा कि अद्वयतारकोपनिषद् में कहा गया है—शम, दम आदि षड्गुण सम्पन्न जितेन्द्रिय यतियों के लिए किया गया था जो संभवतः अपरिग्रही होते थे। महर्षि पतञ्जलि ने योग साधना के लिए तत्पर होने वाले जिज्ञासुओं एवं योगियों के लिए अपरिग्रह के आचरण की अनिवार्यता

प्रथम ही बतलाकर श्रमण परम्परा के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को न केवल अपनाया अपितु योग विद्या में आत्मासात् कर दिया। इसका प्रभाव औपनिषद परम्परा के परवर्ती ग्रंथों पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा। यही कारण है कि शाङ्कर सम्प्रदाय के ग्रंथों में अपरिग्रह को योग का प्रथम द्वार कहा गया। जैसाकि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ् निरोधोऽपरिग्रहः।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥

—विवेक चूड़ामणि ३६८

अर्थात् योग का प्रथम द्वार वाणी का संयम, अपरिग्रह, निराशा, निरीहा और नित्य एकान्तवास है।

योगाङ्ग विवेचन-२ नियम

योग के आठ अंगों में यम के बाद नियम परिगणन किया गया है। इस प्रकार योग के द्वितीय अंग के रूप में नियम को स्वीकार किया गया है विभिन्न उपनिषदों में नियम की व्याख्या या परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से मिलती है। यथा—

अनुरक्तिः परे तत्वे सततं नियमः स्मृतः।

—त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् २/२९

अर्थात् परम तत्व में निरन्तर अनुरक्ति ही नियम है।

इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद् में नियम की व्याख्या निम्न प्रकार से मिलती है—

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृति।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/१८

अर्थात् घट पटादि की विजातीय वृत्तियों का निरोध करते हुए अखण्ड चिन्मात्र की सजातीय वृत्तियों के प्रवाह जो परम आनन्द दायक होता है को नियम कहते हैं। विज्ञजनों के द्वारा उसका अनुसरण नियम पूर्वक किया जाता है।

उपनिषदों में यमों की भांति नियमों की चर्चा भी विस्तार पूर्वक की गई है जो विशेषतः शाण्डिल्योपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय खण्ड एवं दर्शनोपनिषद् के के द्वितीय खण्ड में मिलती है। इन दोनों उपनिषदों में नियम का वर्णन विस्तार पूर्वक किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३३-३४), वराहोपनिषद् (५/१३-१४), दर्शनोपनिषद् (२/१-२) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१/२/२/१) में नियम का वर्णन करते हुए तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, वेदान्त (सिद्धान्त) श्रवण, ह्री, मति जप और व्रत इन दस नियमों का प्रतिपादिन किया गया है। किन्तु मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में उपर्युक्त परम्परा का अनुसरण नहीं करते हुए भिन्न रूप से निम्न नौ नियमों का प्रतिपादन एवं वर्णन किया गया है—

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखानुगतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ।

—मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१/४

नियम के विषय में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

"शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।"

—योग सूत्र २/३२

अर्थात् शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम होते हैं ।

योग-साधना के लिए तत्पर योगीजन या साधक के लिए यमों की भांति नियमों का परिपालन करना भी अत्यन्त आवश्यक है । नियमों के परिपालन के बिना साधक की साधना में पूर्णता आना सम्भव नहीं है । नियमों का परिपालन वस्तुतः योगी या साधक के मन का परिष्कार कर उसके अन्तःकरण को निर्मल और निःसंग बनाता है । मन की पवित्रता से चित्त की अस्थिरता या चञ्चलता दूर हो जाती है और चित्त की समस्त वृत्तियां आभ्यन्यरमुखी होकर शनैः शनैः उनका निरोध होता आता है जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ स्वत्मानुभव के लिए अग्रसर होता है । इस प्रकार नियमों के द्वारा योगी आत्म नियन्त्रण पूर्वक योग-साधना में प्रवृत्त होता है ।

पाँचों ही नियम साधक की आन्तरिक शुद्धि के परिचायक हैं । यम के द्वारा जहां योगी की बाह्य प्रवृत्तियां नियन्त्रित होती हैं और उसके आचरण का संस्कार होकर उसमें शुद्धता आती है वहां नियम के द्वारा अन्तः प्रवृत्तियां नियन्त्रित होती हैं । नियम का विधि पूर्वक आचरण करने से योगी के अन्तःकरण में ज्ञान के आलोक का प्रसार होता है और वह मिथ्यात्व और सम्यक्त्व को समझते हुए मिथ्यात्व का परिहार तथा सम्यक्त्व का ग्रहण करने लगता है । नियम के परिपालन से जब योगी के आचरण में शुद्धता आ जाती है तो वह सामान्य स्थिति से ऊपर उठ कर अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है । उसका व्यक्तित्व और जीवन अधिक उन्नत हो जाता है ।

नियम का क्रमशः परिपालन योगी को सर्वशक्तिमान् ईश्वर स्वरूप परम ब्रह्म के निकट ले जाता है । सांसारिक प्रपञ्च उसे हेय जान पड़ते हैं और उसके अवि-वेक का जाल छिन्न भिन्न होकर विवेक जागृत होने लगता है । नियम का आचरण योगी की आत्मा के परिणामों को विशुद्ध बनाता है और उनमें विकार उत्पन्न नहीं हो पाता । इन नियमों का निरन्तर अभ्यास करने से राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ ईर्ष्या-भय-जुगुप्सा आदि मलों का अभाव होकर मनुष्य का अन्तःकरण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है । मन की व्याकुलता का विनाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है । विक्षेप दोष का विनाश होकर मन में एकाग्रता आती है और सम्पूर्ण

इन्द्रियां मन के अधीन हो जाती हैं। अतः उसमें आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। मन के सभी भाव संस्कारित हो जाते हैं जिससे उनमें विकल्प आदि का अभाव हो जाता है। विकल्प आदि दोषों से रहित और संस्कारित मानसिक भाव मनुष्य को सामान्य स्थिति से अधिक उन्नत अवस्था में पहुंचा देते हैं जिससे वह जीवन की सार्थकता का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार नियमों का विधि पूर्वक आचरण मनुष्य के सामान्य जीवन के लिए भी आवश्यक है।

शौच

शौच का सामान्य अर्थ है शुद्धि। यहाँ बाह्य शुद्धि और आभ्यन्तरिक शुद्धि दोनों अभिप्रेत है। बाह्य शुद्धि का अभिप्राय शारीरिक शुद्धि और आन्तरिक शुद्धि का अभिप्राय मानसिक शुद्धि से है। यह दोनों प्रकार की शुद्धि शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के लिए आवश्यक है। स्नान आदि के द्वारा शारीरिक मल का निर्हरण कर उसे स्वच्छ रखना शारीरिक शौच या बाह्य शुद्धि है। मानसिक दोषों और विकारों के उपशमन के लिए क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-अकिंचन्य-अहिंसा-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह आदि भावों का निरन्तर अनुशीलन करना मानसिक शुद्धि या अन्तः शौच का परिचायक है। इन दोनों प्रकार के शौच के अतिरिक्त वाचनिक शौच अर्थात् वचन शुद्धि भी आवश्यक है। यद्यपि अन्तः शौच में ही वचन शुद्धि का समावेश हो जाता है, किन्तु वाणी की निर्मलता मनुष्य के स्वभाव और वचन के माधुर्यभाव का द्योतक होने से इसका विशेष महत्व है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मन-वचन-काय तीनों की शुद्धि पर विशेष बल दिया है।

किसी भी प्रकार का शौच हो, उससे शारीरिक और मानसिक शुद्धि का निकटतम सम्बन्ध है। योगी या साधक के लिए शौच का विशेष महत्व है। क्योंकि शौच नियम का पालन करने से बुद्धि की स्थूलता, मन की मलिनता, चित्त की चञ्चलता और शरीर की अस्वस्थता दूर होती है। सभी इन्द्रियां निर्मल व अनुकूल होती हैं, शरीर का आलस्य व प्रमाद दूर होता है, मन के विकारों का उपशम होता है तथा मन में रज और तम दोषों का शमन होकर सत्वगुण का उत्कर्ष होता है।

शाण्डिल्लोपनिषद् (१/४/१४) में शौच के बाह्य और अभ्यन्तर दो भेद करके प्रथम को मृज्जलादि से निष्पाद्य और द्वितीय जो मन शुद्धि रूप है को अध्यात्म विद्या से प्राप्य बतलाया है। इसी प्रकार दर्शनोपनिषद् (१/२०-२३) में कहा गया है कि मृज्जलादि से शरीर मल का अपनोदन करना बाह्य शौच है और आध्यात्मिक तत्वों जैसे आत्म तत्वों, ब्रह्मतत्व आदि का अनुचिन्तन-मनन करना मानस शौच है। "मैं शुद्ध ब्रह्मतत्व हूं" इस प्रकार का ज्ञान ही उत्तम शौच है। विभिन्न

दोषों एवं मलों के कारण शरीर अत्यन्त मलिन होता है और शरीरी (आत्मा) निर्मल। दोनों में यह स्पष्ट अन्तर समझने वाला व्यक्ति किसके शौच में प्रवृत्ति करेगा ? यदि वह ज्ञान शौच को छोड़ कर बाह्य शौच में प्रवृत्त होता है तो निश्चय ही वह मूढ़ और अज्ञानी है। स्वहित विवेक से शून्य वह मोक्ष का पात्र कैसे हो सकता है ?

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शौच से निम्न परिणाम उत्पन्न होते हैं—

"शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः।" —योग दर्शन २/४०

अर्थात् शौच का परिपालन करने से अपने शरीर के अंगों के प्रति जुगुप्सा (वैराग्य भाव) और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि शौच का अनुशीलन साधक को उस अवस्था तक पहुंचा देता है जहाँ वह अपने शरीर से भी द्वेष करने लगता है और शरीर व संसार के प्रति उसके मन में वैराग्य भाव उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार छोटे बालक को कटु पदार्थ अरुचिकर प्रतीत होते हैं उसी प्रकार योगी को सांसारिक विषय भी अरुचिकर लगने लगते हैं और वह उन्हें हेय समझने लगता है।

आन्तरिक शौच जनित परिणाम के विषय में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

"सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।"

—योग दर्शन २/४७

अर्थात् (शौच का सतत अनुशीलन करने से) अन्तःकरण की शुद्धि, मानसिक प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्म साक्षात्कार की योग्यता ये पाँच भी होते हैं।

आन्तरिक शौच तब ही हो सकता है जब मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें निर्मलता उत्पन्न हो, क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारों का शमन होकर उसमें सात्विक प्रकृति भाव उत्पन्न हो तथा संशय, विक्षेप, विकल्प आदि दोषों का निराकरण होकर उसमें एकाग्रता उत्पन्न हो। ऐसी स्थिति में ही योगी की साधना में पूर्णता की अपेक्षा की जा सकती है। मन की उपर्युक्त स्थिति योगी को इस योग्य बना देती है कि वह स्वात्मानुभव में लीन होकर आत्म साक्षात्कार कर सके। यही योग की पराकाष्ठा और साधना का चरम लक्ष्य है।

सन्तोष

सन्तोष का साधारण स्वरूप यदृच्छालाभ से तुष्टि है। किन्तु दर्शनोपनिषद् के अनुसार पदार्थ मात्र में अनासक्त रहते हुए प्राप्त पदार्थ को स्वीकार करना और उससे अधिक की अभिलाषा नहीं करना ही सन्तोष है। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं रहता। चाहे

वह कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, चाहे वह कितना ही उच्च पदासीन क्यों न हो चाहे उसकी इच्छाएं पूर्ण क्यों न हो गई हों—उसे कभी सन्तोष नहीं होता। आज प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक सामाजिक तथा अन्य दृष्टि से सम्पन्न होना चाहता है। जब उसकी एक अभिलाषा पूर्ण होती है तो वह और अधिक की लालसा करने लगता है। मनुष्य अपनी चाह के बन्धन में इतना अधिक बंधा रहता है कि वह उससे चाह कर भी नहीं छूट पाता। मनुष्य की चाह की कोई सीमा नहीं होती, वह सीमातीत होती है। जब तक वह अपनी चाह के बंधन से मुक्त नहीं होता तब तक उसे सन्तोष नहीं हो सकता। वस्तुत: सन्तोष वहीं होता है जहाँ चाह, इच्छा या लालसा नहीं होती। इच्छा या चाह इन्द्रिय जनति होने के कारण सांसारिक बंधन ओर दु:ख का कारण है। इसके विपरीत सन्तोष मनुष्य को सांसारिक कष्टों से मुक्ति दिलाता है। सन्तोषी मनुष्य सदैव सुख पाता है।

जहां सन्तोष होता है वहां राग-द्वेष-छल-कपट-मायाचारिता आदि का अभाव होता है तथा मनुष्य हर एक स्थिति में सुख व सन्तोष का अनुभव करता है। यदि सन्तोषी मनुष्य पर कोई आकस्मिक विपत्ति आ जाती है तो उस स्थिति में भी वह घबड़ाता नहीं है और मुस्कराता हुआ सभी कष्टों को सहन करता है। वह धैर्यवान होता है अपनी वर्तमान स्थिति में ही सन्तुष्ट रहता है। उसे अधिक की लालसा नहीं होती। जो कुछ उसके पास है उसी को वह पर्याप्त समझता है।

योगी अथवा साधक के लिए सन्तोषी होना परम आवश्यक है। सन्तोष में ही उसे परम सुख का अनुभव होता है। सन्तोष से कारण परिग्रह को बल नहीं मिल पाता और न ही कोई विकार उसे ग्रस्त कर सकता है। मानसिक एवं शारीरिक विकार रहित स्थिति में परम आत्मिक शान्ति का अनुभव होता है। सन्तोष के कारण सभी यम और नियमों के परिपालन में अनुकूलता रहती है।

सन्तोष वस्तुत: मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। किन्तु जब क्रोध-मान-माया-लोभ तथा राग-द्वेष आदि विकार भाव मनुष्य के अन्त:करण को विकृत कर देते हैं तो उस अवस्था में सन्तोष का लोप हो जाता है और मनुष्य भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि में ही सन्तोष का अनुभव करता हुआ उसमें स्वयं को लीन रखता है। उसकी लोभी प्रकृति उसे यथार्थ सुख से वंचित कर देती है और वह सुख की खोज में भौतिक साधनों का आश्रय लेकर इधर उधर भ्रमित होता रहता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी सन्तोष जनित फल को उत्तम सुख ही निरूपित किया है। यथा—

"सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।" —**योग दर्शन** २/४२

अर्थात् सन्तोष से उत्तमोत्तम सुख का लाभ (प्राप्त) होता है।

तप

अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यता के अनुसार स्वधर्म का अनुशीलन और पालन करना तथा उसके पालन में जो शारीरिक और मानशिक कष्ट हों उन्हें निर्विकार भाव से सहर्ष सहन करना 'तप' कहलाता है। तपश्चरण में निष्काम भाव से किए गए व्रत उपवास आदि भी सम्मिलित हैं। अतः ऐसे सभी अनुष्ठान जो मन की पवित्रता और चित्त की शुद्धि करने वाले हों, भले ही उनसे शरीर को कितना ही कष्ट क्यों न हो तप का परिचायक है। जिस प्रकार सुवर्ण को अग्नि सन्ताप मल रहित और खरा बना देता है उसी प्रकार तपश्चरण भी मानव शरीर और मन को कंचन की भांति निर्मल कर देता है। तपश्चरण का निरन्तर अभ्यास मनुष्य को कष्ट सहिष्णु बना देता है और भौतिक सुखों में उसकी आसक्ति निर्मूल हो जाती है।

शास्त्रों में तप का यह लक्षण भी बतलाया गया है—"इच्छा निरोधो तपः" इसके अनुसार अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं, इन्द्रिय जनित वासना तथा मन की विभिन्न अभिलाषाओं का निरोध कर उन्हें निर्मूल करना, उसके परिपोषण के प्रति उदासीन रहना, कठोरता पूर्वक शरीर-इन्द्रिय-मन का निग्रह करना तप कहलाता है। इस प्रकार का तप मनुष्य को सांसारिक समस्त बाह्य विषयों की अपेक्षा स्वत्मानुभव में सुख की अनुभूति कराता है। बाह्य विषय उसके लिए गौण और निष्प्रयोजन हो जाते हैं।

तप का अभिप्राय केवल यही नहीं है कि गृह त्याग कर साधुवेश धारण कर वन में विचरण करना और कन्द, मूल, फल आदि खा कर जीवन निर्वाह करना। तप का आचरण गृहस्थ अवस्था में भी किया जा सकता है और यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन कितनी उत्कृष्ट स्थिति में इसका पालन करता है। एक गृहस्थ भी अपनी शक्ति और साम्यर्थ के अनुसार यथेच्छा रूप से अपने शरीर, मन और इन्द्रियों का नियन्त्रण कर सकता है। जो स्वयं का अधिक रूप में नियन्त्रण करता है उसकी तपश्चरण की स्थिति उतनी ही अधिक उत्कृष्ट होगी और जो कम रूप में नियन्त्रण करता है उसकी स्थिति न्यून रूप में उत्कृष्ट होगी।

योगी के लिए योग साधना की दृष्टि से तपश्चरण नितान्त आवश्यक है। तप के द्वारा जहां मन की चंचलता और चित्त के विकार दूर होते हैं वहां काम की परिशुद्धि होती है और इन्द्रियों में निर्मलता आती है। वह अधिकाधिक कष्ट सहिष्णु होता है तथा शरीर के प्रति उसका ममत्व भाव कम होता है। वह आत्म परिशुद्धि को ही जीवन का एकमात्र लक्ष समझने लगता है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।" —योग दर्शन २/४३

अर्थात् तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। अभिप्राय यह है कि शरीर और इन्द्रियां वशीभूत हो जाती हैं। उनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति का विनाश होकर वे योगी के स्वाधीन हो जाती है। इस प्रकार तपश्चरण के द्वारा योगी और भी अधिक उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर अपने लक्ष्य के अधिकाधिक निकट पहुंच जाता है।

स्वाध्याय

स्वाध्याय आत्म ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास, तत्वों का सतत अनुशीलन और अबाध रूपेण आत्मानुचिन्तन ही स्वाध्याय है। जिनके द्वारा अपने कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का बोध, हिताहित विवेक और यथार्थ सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि हो ऐसे वेद, शास्त्र, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, महाभारत, रामायण, ज्ञानीजनों के अनुभव से परिपूर्ण लेख आदि का पठन पाठन 'स्वाध्याय' कहलाता है। स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य को जो ज्ञान लाभ होता है उससे उसके मानसिक विकारों का उपशम होता है, कषायों में मन्दता आती है तथा आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वाध्याय ही सर्वोत्तम साधन है।

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इस वाक्य के अनुसार ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। जब तक मनुष्य को ज्ञानोपलब्धि नहीं होती, तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान के बिना साधु, सन्यासी, त्यागी तथा अन्य सभी लोगों की समस्त क्रियाएँ व्यर्थ एवं निष्फल हैं। ज्ञान के साथ ही आचरण की पूर्णता है। अज्ञानी जन के क्रिया कलापों में ज्ञानाभाव के कारण पूर्णता नहीं आ पाती। ज्ञान का लाभ तब ही होता है जब मनुष्य निरन्तर शास्त्रों का अभ्यास करे। स्वाध्याय से ही विवेक जाग्रत होता है और ज्ञान की वृद्धि होती है।

रोगियों के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। जिस प्रकार योगाभ्यास उनके दैनिक जीवन का आवश्यक अंग है उसी प्रकार स्वाध्याय भी उनके दैनिक जीवन का आवश्यक अंग होना चाहिए। स्वाध्याय से धर्म में आस्था, व्रत उपवास आदि में दृढ़ता तथा ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा बलवती होती है। स्वाध्याय से ही शरीर और आत्मा में भेद विज्ञान की प्रतीति तथा तत्व ज्ञान की वृद्धि होती है। योग की सिद्धि ज्ञानी जन को ही होती है, अज्ञानी और मूर्ख लोगों को नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो बिना ज्ञान के कोई भी व्यक्ति योग से सिद्धि प्राप्त कर मुक्ति का अधिकारी बन जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता।

स्वाध्याय आत्मा के कल्मष को धोने वाला अज्ञानान्धकार का विनाश कर ज्ञान ज्योति पुंज का प्रसार करने वाला तथा चित्त की वृत्तियों को स्थिर करने वाला होता

है। निरन्तर स्वाध्याय करते रहने से जड़मति व्यक्ति भी ज्ञानवान् बन जाता है। उसे अच्छे और बुरे की समझ आ जाती है जिससे वह सत्कार्यों में प्रवृत्ति और असत्कार्यों से निवृत्ति करता है। जो उसके स्वात्महित के लिए होता है वही श्रेयस्कारी एवं सन्मार्ग पर अग्रसर करने वाला होता है। स्वाध्याय के द्वारा जब योगी का हिताहित विवेक जाग्रत होता है तो वह परम आत्म संतुष्टि का अनुभव करता है, क्योंकि उसमें उसके आत्मिक विकास की सहज अनुभूति निहित रहती है।'

निरन्तर स्वाध्याय करने से उत्साह और पुरुषार्थ की वृद्धि, धारणा ध्यान और समाधि की सिद्धि, ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान और इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है। योगी मूर्द्ध ज्योति में संयम कर ग्रन्थ के जिस विषय का स्वाध्याय करता है उस विषय के लिखने के समय ग्रन्थ कर्त्ता का जैसा ज्ञान, विचार और भाव था योगी वैसा ही जान लेता है और ग्रन्थकर्त्ता की आत्मा का दर्शन करता है। वेदों का स्वाध्याय करने से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। स्वाध्याय के फल के विषय में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।" —योग दर्शन २/४४

अर्थात् स्वाध्याय से अभीष्ट देवता से साक्षात्कार हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्राभ्यास, मन्त्रजप और अपने जीवन का अध्ययन रूप स्वाध्याय करने से योगी जिस इष्ट देव का अध्ययन करना चाहता है उसी का दर्शन हो जाता है।

ईश्वर–प्राणिधान

सदैव ईश्वर की उपासना करना ईश्वर—प्राणिधान कहलाता है। ईश्वर की उपासना के लिए मन-वचन-काय से उसकी स्तुति करना, प्रार्थना करना तथा उसके ध्यान में ही निमग्न रहना आदि कार्य किए जाते हैं। ईश्वर के स्वरूप का सतत चिन्तवन करते रहना, उसके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापन करना तथा पतितोद्धारक के रूप में सदा उसका स्मरण करना उसकी उपासना का ही अंग है। ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वाधार, अन्तर्यामी, करुणानिधि, सकल दुख विनाशक और अधर्मोद्धारक होता है। वही ईश्वर परम पिता परमात्मा तथा निराकार परम ब्रह्म होता है। ईश्वर की उपासना करने से योगी की आत्मा के कल्मष धुल जाते हैं। कल्मष रहित आत्मा विशुद्ध चैतन्य रूप निज स्वभाव का अनुभव करने लगता है।

योग दर्शन के अनुसार ईश्वर के शरणापन्न हो जाना ही 'ईश्वर प्रणिधान' है। उसके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन और मनन करना, अपने समस्त कर्म भगवान को समर्पित कर देना, उसकी आज्ञानुसार ही

आचरण करना, उसी में अनन्य प्रेम, श्रद्धा और भक्ति रखना, ये सब ईश्वर प्रणिधान के ही अंग हैं। ईश्वर सर्वसिद्धि प्रदाता, सर्व समर्थ, करुणानिधान है, अतः वह शरणागत अपने भक्त पर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार उसे सब कुछ प्रदान कर सकता है। इसलिए योग शास्त्र में नियम-पालन के अन्तर्गत योगी को ईश्वर प्रणिधान का निर्देश दिया गया है।

ईश्वर प्रणिधान शरणागति या ईश्वर भक्ति का ही पर्याय है। जब योगी ईश्वर प्रणिधान में लीन होता है तो वह परमपिता का अनन्य भक्त बन जाता है और अपनी श्रद्धा व भक्ति के द्वारा अपने आराध्य से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। भक्त वत्सल जगत्प्रभु अपने शरणागत भक्त की श्रद्धा और भक्ति के वशीभूत हो जाते हैं तो वे भक्त के कल्याण की दृष्टि से उसे यथेष्ट और यथेच्छ वस्तु प्रदान करते हैं। अर्थात् उसे भव सागर से तार देते हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। यथा—

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।" —योग दर्शन २/४५

इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की शरणागति से योग साधन में आने वाले विघ्नों का नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है। योग दर्शन के समाधिपाद १ के सूत्र २३ में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

"ईश्वरप्रणिधानाद्वा।"

अर्थात् अथवा ईश्वर प्रणिधान से (निर्जीव की सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

ईश्वर पर निर्भर रहने वाला साधक तो केवल तत्परता से अपनी योग साधना करता है। उसे साधना के परिणाम की चिन्ता नहीं रहती। उसकी साधना में आने वाले विघ्नों को दूर करने का और उसकी साधना की सिद्धि का भार ईश्वर के जिम्मे पड़ जाता है। अतः अनायास और शीघ्रता से साधना की सिद्धि होना स्वाभाविक है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण यही कहते हैं—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"— गीता ४/११

अर्थात् जो मुझे जैसा भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसा ही फल देता हूँ।

ईश्वर प्रणिधान वस्तुतः ईश्वर के प्रति एक प्रकार का समर्पण भाव है जिसमें अपनी समस्त क्रियाएँ, क्रियाओं के फल तथा धन सम्पत्ति आदि सभी कुछ परम पिता परमेश्वर को समर्पित कर देना, उसके प्रति ममता या राग भाव का त्याग कर देना पड़ता है अर्थात् यह मेरा है—ऐसी भावना छोड़ देना पड़ता है। इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए समस्त कर्म, खाना-पीना, यज्ञ, दान, पुण्य, तपश्चर्या आदि सब कुछ अर्पित करने का निर्देश दिया। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ —भगवद् गीता ९/२७

अर्थात् हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ भी करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ यज्ञ करते हो जो कुछ दान करते हो और जो कुछ तप करते हो वह सब मुझे अर्पण कर दो।

यह समर्पण दो प्रकार से किया जा सकता है—(१) अपने कर्तृत्व भाव का परित्याग अर्थात् ऐसा मानना कि संसार में समस्त कार्य परमात्मा की प्रेरणा से हो रहे हैं और सब कुछ बलात् उसके द्वारा ही कराया जा रहा है—ऐसा मान कर उस परम ब्रह्म के कर्तृत्व को स्वीकार करना, जैसाकि प्रतिपादित है—

नाहं कर्ता सर्वमेतत् ब्रह्मैव कुरुते यथा।
एतत् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं ऋषिभिः तत्वदर्शिभिः ॥
—कूर्मपुराण २-१६

समर्पण का दूसरा प्रकार है सम्पूर्ण मनोयोग से कर्म करते हुए भी उसके फल की इच्छा का पूर्णरूप से परित्याग कर देना। जैसा कि बतलाया गया है—

यद्वा फलानां सन्यासं प्रकुर्यात्परमेश्वरे।
कर्मणामेतदप्याहुः ब्रह्मार्पणमनुत्तमम् ॥ —कूर्म पुराण २-१६

वस्तुतः यदि देखा जाय तो उपर्युक्त दोनों ही प्रकारों में मौलिक अन्तर नहीं है। अन्तर की प्रतीति केवल बाह्य रूप से है। क्योंकि किया गया कर्म और उससे प्राप्त होने वाले फलों में परस्पर कार्य-कारण भाव है। अर्थात् जहां कर्म होंगे वहाँ उसके कार्य के रूप में कालान्तर में फल अवश्य होंगे। इसी प्रकार जहां सुख दुःख रूप फल हैं वहाँ उनके कारण रूप में उनसे पूर्वकृत कर्म अवश्य रहे हैं। अतः इनका नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध स्पष्ट है। इसलिए एक (कारण) का त्याग होने पर दूसरे (कार्य) का त्याग स्वतः हो जाता है। यदि कर्मों का विसर्जन हो गया याने ईश्वर के प्रति समर्पण तो गया तो इसके फल रूप सुख और दुखों का समर्पण भी स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार कृत कर्म के बाद यदि प्राप्त होने वाले सुख और दुखों को प्रभु की इच्छा मान कर अनासक्त भाव से स्वीकार कर लिया जाय तो कर्म के परिणाम उसे प्रभावित या विचलित नहीं कर पाते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनों प्रकार का समर्पण भिन्न न होकर एक ही है।

ईश्वर प्रणिधान में वस्तुतः अनासक्ति का भाव निहित है। समस्त सुख-दुख के भोग को प्रभु की कृपा मान कर अनासक्त भाव से भोगना तथा मन-वचन काय से सम्पन्न होने वाली समस्त क्रियाओं को परम प्रभु ईश्वर को समर्पित कर देना, कर्तृत्व के अहंभाव का सम्पूर्ण रूप से विसर्जन कर देना ईश्वर प्रणिधान कर रहस्य है। यह साधना का अनुपम सोपान है जिसके मूल में श्रद्धा और भक्ति निहित है। इसके प्रभाव से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारों विकार भावों की निवृत्ति सहज भाव से जाती है। जिससे अविद्या का नाश होता होता है और योगी अनायास ही साधना के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो जाता है।

इस प्रकार समाधि की सिद्धि के लिए ईश्वर प्रणिधान एक महत्वपूर्ण साधन है। मुक्ति रूपी चरम लक्ष्य की प्राप्ति मात्र इसी से सम्भव है।

योगाङ्ग विवेचन—३ आसन

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। शरीर की स्वस्थता के कारण ही मनुष्य की धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में प्रवृत्ति होती है। स्वस्थ शरीर के द्वारा ही ईश्वर की आराधना और लौकिक कर्मों का सम्पादान होता है। शरीर की पुष्टि, अंगों की दृढ़ता, जाठराग्नि की प्रदीप्तता, मन और इन्द्रियों की प्रसन्नता तथा शरीर की निरोगता ये कुछ ऐसे लक्षण हैं जो स्वस्थ शरीर के परिचायक हैं। उन लक्षणों की संपूर्ति हेतु तथा इसके माध्यम से अन्त में परम ब्रह्म का साक्षात्कार कर उससे तादात्म्य भाव स्थापित करने हेतु महर्षि पतञ्जलि ने योगाङ्गों के अन्तर्गत 'आसन' का कथन किया है। उन्होंने यम और नियम के पश्चात् तीसरे अंग के रूप में आसन का कथन किया है, किन्तु कतिपय अन्य विद्वानों ने आसन को प्रथमाङ्ग के रूप में ही स्वीकार किया है। जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ —गोरक्ष शतक

यहां पर यद्यपि योग के आठ अंग न मान कर केवल छह अंग ही स्वीकार किए गए हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में योगाङ्गों की संख्या के विवाद में न पड़ कर कहने का मुख्य अभिप्राय यह है कि योगाङ्गों में प्रथमाङ्ग के रूप में आसन का कथन करना उसके महत्व का परिचायक है। हठयोग में भी आसन को प्रथमाङ्ग कहकर उसका प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् हठयोग का प्रथम अंग होने से आसन (के गुण और उसकी विधि) को प्रथम कहते हैं। आसन (शरीर तथा मन में) स्थैर्य, आरोग्य और शरीर के विभिन्न अंगों में लाघव उत्पन्न करते हैं।

इसके अतिरिक्त हठयोग के अभ्यास क्रम में भी आसन प्रथम ही होता है —

आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यकरणं तथा।
अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात् हठयोग में आसन, कुम्भक, चित्र, मुद्राख्यकरण, नाद और अनुसन्धान का क्रमानुसार अभ्यास करना चाहिए।

उपनिषदों में जहां पञ्चादशाङ्ग योग का वर्णन किया गया है वहां आसन को सातवां और जहां अष्टांग योग प्रतिपादित है वहां आसन को तीसरा अंग माना गया है। ध्यान बिन्दु और योग चूड़ामणि उपनिषदों में यम और नियम को आध्यात्मिक साधना की आधार शिला होने के कारण पूर्व गृहीत मानकर उनका स्वतन्त्र योगाङ्ग के रूप में उल्लेख न कर षडङ्ग योग का प्रतिपादन करते हुए आसन को प्रथम योगाङ्ग बतलाया गया है। अमृतनादोपनिषद् में यम नियम की ही भांति आसन को भी योग साधना के लिए आवश्यक मानने के कारण उसका स्वतन्त्र योगाङ्ग के रूप में उल्लेख न करते हुए भी पद्मासन, स्वस्तिकासन या भद्रासन में बैठकर षडङ्ग योग की साधना करने का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से आसन की उपयोगिता और महत्त्व सुस्पष्ट है। हठयोग के आचार्यों ने आसन का कथन प्रथमतः करके उसकी उपयोगिता को और अधिक बढ़ा दिया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आसनों का अभ्यास किए बिना योग में सिद्धि प्राप्त नहीं की जा सकती। यम और नियम योगी के आचरण की शुद्धि और मनोगत विकारों को निर्मूल करने के लिए उपयोगी हैं। किन्तु आसन का अभ्यास एक ऐसी क्रियाविधि है जो ब्रह्म-साक्षात्कार कराने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

आसन किसे कहते हैं ?

आसन शब्द का सामान्य अर्थ है बैठना। लोक व्यवहार में उस चौकोर या गोल वस्त्र खण्ड या कम्बल के टुकड़े को भी आसन कहा जाता है जो बैठने के काम आता है। इसके अतिरिक्त बैठने के लिए लकड़ी, चमड़ा, कुश या पत्तियों से बनाए गए चौकोर खण्ड की भी आसन संज्ञा है। अतः सामान्य व्यवहार में बैठने के लिए प्रयोग किया जाने वाला उपयोगी साधन आसन कहलाता है। शास्त्रीय सन्दर्भ विशेषतः योग के सन्दर्भ में शरीर और उसके षडंगों की विशिष्ट स्थिति को आसन कहते हैं। जब शरीर को सामान्य स्थिति की अपेक्षा हाथ-पैर को संकुचित कर उन्हें ऊपर या नीचे कर शरीर को झुकाकर या तानकर किसी विशेष स्थिति में रखा जाता है तो वह आसन कहलाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (२/८) में 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' इत्यादि कह कर योगासन का उल्लेख किया गया है। किन्तु वहां आसन की परिभाषा और उसके भेदों का निरूपण नहीं मिलता। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में आसन के निरूपण प्रसङ्ग में कहा गया है कि आसन ऐसा होना चाहिये कि जिसमें व्यक्ति सुख पूर्वक अधिक देर तक बैठ सके। यथा—

"सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति।"

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १/१/५

जो साधक या योगी अपनी योग्यता के अनुसार जिस रीति से बिना हिले डुले स्थिर भाव से सुख पूर्वक बिना किसी प्रकार की पीड़ा के देर तक बैठ सके वही आसन उसके लिए उपयुक्त है। अन्य शास्त्रों में भी आसन का यही भाव प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य उपनिषद् में प्राप्त विवरण के अनुसार आसन वस्तुतः वह स्थिति है जिसमें सुख पूर्व चिरकाल तक बैठकर निरन्तर ब्रह्म चिन्तन किया जा सके। ऐसी स्थिति से भिन्न अन्य स्थितियां केवल सुख का नाश करने की साधन मात्र हैं। यथा—

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम्॥

—तेजोबिन्दूपनिषत्

अर्थात् जिस स्थिति में बैठ कर सुखपूर्वक निरन्तर परब्रह्म का चिन्तन किया जा सके उसे ही आसन समझना चाहिए। सुख का विनाश करने वाली अन्य (आसन-तिरिक्त) स्थिति आसन नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी आसन की कुछ ऐसी ही परिभाषा बतलाई है जो निम्न है—

"स्थिरसुखमासनम्।" —योग सूत्र २/४६

अर्थात् स्थिर और सुख पूर्वक बैठना आसन कहलाता है।

इस प्रकार शरीर और उसके षडङ्गों की विशेष स्थिति चाहे वह बैठने की हो, खड़े होने की हो, शरीर को मोड़ने की या सीधा रखने की हो को 'आसन' कहा जाता है। कुछ लोग आसन का अर्थ केवल बैठना लगाते हैं। उनके अनुसार सुख-पूर्वक बैठना मात्र ही 'आसन' है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। योगशास्त्र में जो आसन बतलाए गए हैं उनमें अनेक ऐसे हैं जो खड़े होकर, विभिन्न प्रकार से लेटकर, सिर को नीचा और पैरों को ऊपर कर किए जाते हैं। अतः केवल बैठना ही आसन का ज्ञापक नहीं है।

आसन और व्यायाम

आसन योग का अङ्ग होने से उन्हें "यौगिक व्यायाम" भी कहा जाता है। वैद्यकीय दृष्टि से आसन और सूर्य नमस्कार आदर्श व्यायाम हैं। सूर्य नमस्कार में व्यायाम के अतिरिक्त भगवान सूर्य की आराधना, पूजा, नामस्मरण तीर्थसेवन इत्यादि दैवी कर्म होने से उसे "दैवी व्यायाम" कह सकते हैं। अधिक संख्य सामान्य व्यायाम केवल शरीर बलवर्धक होते हैं। अतः वे शारीरिक व्यायाम कहलाते हैं। शारीरिक व्यायामों की अपेक्षा यौगिक व्यायाम (आसन) और दैवी व्यायाम (सूर्य नमस्कार) अधिक श्रेयस्कर होते हैं, क्योंकि उनमें शरीर के साथ-साथ मन और आत्मा भी अनुबंधित रहते हैं।

आसन और व्यायाम का निकटतम सम्बन्ध है। आयुर्वेद शास्त्र में व्यायाम की परिभाषा निम्न प्रकार से बतलाई गई है—

शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था बलवर्धिनी।
देहव्यायाम संख्याता मात्रया तां समाचरेत्॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान ७/३१

अर्थात् शरीर की वह चेष्टा (क्रिया) जो शरीर की स्थिरता के लिए की जाती है और जो शरीर के बल को बढ़ाने वाली होती है, व्यायाम कहलाती है। उसे मात्रा-पूर्वक करना चाहिए।

इसके अनुसार आसन भी व्यायाम की परिधि में आ जाते हैं। क्योंकि योग शास्त्र में वर्णित सभी आसन शारीरिक चेष्टा हैं और उनसे शरीर की स्थिरता होती है तथा शरीर में बल की वृद्धि होती है। आसनों के द्वारा शरीर के अवयव पुष्ट, दृढ़ और स्थिर होते हैं। आसनों से शरीर में रक्त संचार व्यवस्थित होता है तथा शरीर के अनेक रोगों का उपशम होता है। आसनों का सतत अभ्यास करते रहने से शरीर को वे गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं जो व्यायाम के द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः आसन व्यायाम की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं।

शारीरिक स्थिरता, बल, की वृद्धि शारीरिक आरोग्य तथा अन्य भौतिक दृष्टि से आसन और व्यायाम में जहाँ निकटता और समानता है वहाँ अनेक दृष्टि से दोनों में भिन्नता भी है। व्यायाम के द्वारा केवल देहसिद्धि ही होती है, जबकि आसन के द्वारा देह सिद्धि के अतिरिक्त मोक्षसिद्धि भी होती है। इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन का क्षेत्र अधिक व्यापक है। आसन जहाँ आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्ति का साधन हैं, व्यायाम वहाँ मात्र भौतिक उपलब्धि तक ही सीमित हैं। कुछ लोग आसनों का सम्बन्ध शक्तिशाली शारीरिक व्यायाम या शरीर को मांसल व पुष्ट बनाने वाली प्रक्रियाओं से जोड़ते हैं, किन्तु यह उचित नहीं है। आसनों का उपदेश न तो शरीर को झटके के साथ हिलाने

डुलाने के लिए किया गया है और न मांस पेशियों को अनावश्यक रूप से बढ़ाने व पुष्ट करने के लिए ही उनकी रचना है। 'आसन' तो वस्तुतः शरीर की वह स्थिति है जिसमें आसनाभ्यासी या योगी अपने शरीर और मन के साथ शांत, स्थिर और सुखपूर्वक स्थित हो सके। क्योंकि अपनी अन्तरात्मा के साथ एकाकार होने का अनुभव ही 'योग' है और इस अनुभव की उपलब्धि का एक महत्वपूर्ण साधन 'आसन' हैं।

आसन के द्वारा स्वास्थ्य लाभ तो अनायास ही हो जाता है। हां अनेक रोगों के उपचार के लिए भी विभिन्न आसनों का अभ्यास किया जा सकता है। अनेक रोगों में कतिपय आसन अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक सिद्ध हुए हैं। कई बार विभिन्न रोगों के उपचार के लिए योगासनों की उपयोगिता असंदिग्ध रूप से सिद्ध हुई है। जो व्यक्ति अपनी दैनिकचर्या में से प्रतिदिन नियमित रूप से थोड़ा सा समय भी आसनों के लिए निकालता है उसे कभी भी बीमारी के लिए अपना कीमती समय बर्बाद करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। स्वास्थ्य विज्ञान के वेत्ता एक प्रसिद्ध विद्वान का यह कथन—"जिसे व्यायाम के लिए समय नहीं मिलता उसे बीमारी के लिए समय निकालना पड़ेगा" कितना सार्थक, महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है? यह कथन यद्यपि व्यायाम के लिए किया गया है, तथापि आसन के लिए भी पूर्णतः चरितार्थ होता है।

चाहे धर्म का आचरण करना हो या अर्थ की प्राप्ति, चाहे काम के निमित्त मनुष्य प्रेरित हो या मोक्ष साधन में लगा हुआ हो, शारीरिक आरोग्य उसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। शारीरिक स्वास्थ्य के बिना चारों पुरुषार्थों में से किसी भी पुरुषार्थ की प्राप्ति या साधन सम्भव नहीं है। आसनों का अभ्यास करते हुए जब योगी आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है तो आसनों के अभ्यास के माध्यम से वह धार्मिक आचरण में तो तत्पर रहता ही है, उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर भी उन आसनों का अनुकूल प्रभाव पढ़ता है। प्रत्येक आसन किसी न किसी रूप से शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों और उनकी क्रियाओं को अवश्य ही प्रभावित करते हैं, जिससे सभी अवयवों की क्रियाएं प्राकृत रूप से सम्पन्न होती हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि शरीर पर अकस्मात् रोग का आक्रमण नहीं हो पाता और जो रोग पहले से शरीर में विद्यमान है उसका नाश हो जाता है। अतः शरीर स्वस्थ हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष साधन में सहायक आसन पहले ही आरोग्य लाभ उत्पन्न करा देते हैं, जिससे मूल उद्देश्य की प्राप्ति में कोई शारीरीक बाधा न हो। आसनों के द्वारा आध्यात्मिक साधना के मार्ग में आई हुई बाधाओं का निराकरण होता है और स्वस्थ शरीर उसके लिए पूर्ण सहायक एवं तत्पर रहता है।

आसन और व्यायामों में एक मौलिक अन्तर यह है कि मनुष्य के शारीरिक,

मानसिक और आध्यात्मिक व्यक्तित्व के विकास में आसनों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, जबकि व्यायामों का प्रभाव केवल शारीरिक स्वास्थ्य, शारीरिक संगठन, शरीर की मांस पेशियों की पुष्टता एवं अस्थियों की दृढ़ता तक ही सीमित रहता है। शारीरिक व्यायाम के द्वारा मनुष्य अपने शरीर को सुसंगठित बना सकता है, अधिकाधिक मांसोपचय कर सकता है तथा शरीर को सुदृढ़ और अत्यन्त बलशाली तो बना सकता है, किन्तु वह अपना मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास नहीं कर सकता। क्योंकि व्यायाम का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए भी व्यायाम उत्तरदायी नहीं हैं। इसके विपरीत आसनों में मनुष्य के चहुंमुखी व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलु को प्रभावित कर उसका विकास करने की अद्भुत क्षमता है। असनों के द्वारा प्रथम सीढ़ी के रूप में मनुष्य का नैतिक उत्थान होता है, तत्पश्चात क्रमशः उसकी मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता है जो उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा, चहुंमुखी व्यक्तित्व और विलक्षण कार्यक्षमता के निर्माण में सहायक होता है। मनुष्य शनैः शनैः सांसारिक बाह्य विषयों से पराङ्मुख होता हुआ आभ्यन्तर मुखापेक्षी होता जाता है और भौतिक पदार्थों से विरक्त होता हुआ मात्र स्वात्मानुभव में तत्पर रहता है।

व्यायाम और आसन की क्रिया विधि में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अधिकांश व्यायाम प्रायः भारी, शीघ्रता पूर्वक किए जाने वाले और अधिक या त्वरित् श्वास-प्रश्वास की क्रिया वाले होते हैं। इस प्रकार के श्रमसाध्य व्यायाम, भारी वजन उठाने वाले अभ्यास और शारीरिक गठन को लक्ष्य कर की जाने वाली विविध विधियां प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी होती हैं। कृशकाय दुर्बल व्यक्ति, किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति, वृद्ध पुरुष, बालक और स्त्रियां उन व्यायामों का अभ्यास करने में असमर्थ रहती हैं। इन लोगों के लिए व्यायाम का पूर्णतः निषेध किया गया है। इसके विपरीत आसन सरल होते हैं, उन्हें धीरे-धीरे किया जाता है, उनकी क्रियाविधि में कोई दुरूहता, श्रमसाध्यता और त्वरित या अधिक श्वास प्रश्वास की अपेक्षा नहीं रहती है। आसनों की क्रियाविधि की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इनके अभ्यास से चित्त में एकाग्रता आती है। यह एकाग्रता प्राणायाम और ध्यान के लिए अत्यन्त उपयोगी होती है। एकाग्रता के बिना ध्यान का कोई महत्व नहीं रहता। आसनों की बाह्य क्रियाविधि जहां शरीर के बाह्य अंगों को प्रभावित करती है वहां आभ्यन्तरिक संस्थान भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। अतः समग्र स्नायुमण्डल, सम्पूर्ण अन्तःस्रावी ग्रंथियां, आभ्यन्तरिक अन्यान्य अवयव और सभी संस्थान सुचारू रूप से अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। इससे आसनाभ्यासी को यथा सम्भव अनेक रोगों से छुटकारा मिल

जाता है। आसनों का सतत अभ्यास केवल शरीर को ही स्वस्थ नहीं बनाता, अपितु वह मन को भी स्वस्थ और प्रसन्न रखता है जिससे अनेक मानसिक दुर्बलताओं, कष्टों, व्याधियों तथा विभिन्न प्रकार के मानसिक तनाव, चिन्ता आदि से भी मुक्ति मिलती है। अतः आसनों का अभ्यास बालक, वृद्ध, युवा, स्वस्थ, अस्वस्थ स्त्रियों, रोगियों आदि सभी के लिए सामान रूप से हितावह, उपयोगी एवं लाभदायक है।

इस प्रकार व्यायाम की अपेक्षा आसन अधिक सरल और उपयोगी होते हैं। आसनों का क्षेत्र प्रत्येक दृष्टि से व्यायामों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। आसनों का प्रभाव व्यायाम की अपेक्षा चिरस्थायी और अधिक व्यापक होता है। आसनों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व है। वे व्यायाम की अपेक्षा अधिक उपयोगी और उत्कृष्ट होते हैं। मनुष्य मात्र के लिए उनकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

आसनों की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता

योगासनों की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता निर्विवाद है। योग शास्त्र में आसन का महत्वपूर्ण स्थान है, अतः भारतीय संस्कृति और साहित्य में जो स्थान योगशास्त्र का है वही स्थान आसान का है। इस आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि योगशास्त्र की भांति योगासनों का भी इतिहास समय की अनन्त गहराइयों में आवृत है। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति सदैव योगशास्त्र एवं योगदर्शन से अनुप्राणित रही है। अतः सांस्कृतिक दृष्टि से योगासनों की प्राचीनता और ऐतिहासिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मानव जाति, मानव संस्कृति, मानव सभ्यता, मानव ज्ञान और मानव धर्म की निधि के रूप में वेद विश्व के प्राचीनतम अपौरूषेय ग्रंथ हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान के अक्षय भण्डार हैं। उन वेदों में योगासनों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। अतः वेदों की भांति योगासनों का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों का स्थान है। ज्ञान की दृष्टि से उपनिषदों का स्थान महत्वपूर्ण है। उपनिषदों में योग सम्बन्धी सामग्री प्रचुर रूप से विद्यमान है। चाहे पञ्चादशाङ्ग योग का वर्णन हो या अष्टांग योग का अथवा षडंग योग का, उसमें आसन का प्रतिपादन अवश्य किया गया है। उपनिषदों में आसन सम्बन्धी कतिपय उद्धरणों का उल्लेख इसी प्रकरण के पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि औपनिषद् काल में योगाङ्ग के रूप में आसनों का प्रयोग एवं प्रचलन पर्याप्त रूप से था। इससे आसनों की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता सुस्पष्ट है।

भारतीय षड् दर्शन में योग दर्शन का भी परिगणन किया गया है। भारतीय शास्त्र के बीज उपनिषदों में निहित हैं और वे ही भारतीय दर्शन शास्त्र के मूलोद्गम

माने गए हैं । अतः योग दर्शन में प्रतिपादित आसनों का इतिहास भी न्यूनतम उपनिषद् काल से मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । इसके अतिरिक्त पुरातत्वीय दृष्टि से हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई विश्व में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जो विश्व की प्राचीनतम संस्कृति स्वीकृत की गई है । इस खुदाई में अनेक ऐसी मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनमें शिव और पार्वती की विभिन्न योगासनों में विभिन्न मुद्राएं अंकित हैं । शिव और पार्वती की विभिन्न मुद्राओं में प्राप्त हुई इन विभिन्न मूर्तियों से तत्कालीन योगासनों का आभास सहज ही मिल जाता है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस खुदाई में जो भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं वे उन लोगों के हैं जो वैदिक युग में थे और उनके निवास स्थान (हड़प्पा और मोहन जोदड़ो) वैदिक काल में पूर्ण विकसित रूप से विद्यमान थे ।

योगासनों के इतिहास में पुराण, धर्मशास्त्र एवं अन्य ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है । भारतीय पुरातन परम्परा भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है । हमारे धर्मग्रन्थों एवं अन्य शास्त्रों के अनुसार यह माना जाता है कि आसनों सहित योगविद्या का उपदेश सर्व प्रथम शिवजी ने दिया था । योग विद्या के अन्तर्गत उन्होंने सभी आसनों की रचना की और उसका ज्ञान उन्होंने सर्वप्रथम अपनी प्रथम शिष्या पार्वती जी को दिया । तत्पश्चात् उन आसनों का ज्ञान उत्तरोत्तर अन्य लोगों को मिलता रहा और वे उन्हें परम्परागत रूप से सीखते रहे । यह क्रम निरन्तर चलता रहा और कालान्तर में शताब्दियों से इन आसनों के स्वरूप में अपेक्षित परिवर्तन एवं सुधार होता रहा । कहा जाता है कि प्रारम्भ में जब शिव जी ने सर्वप्रथम आसनों का उपदेश दिया था, तब इनकी संख्या ८४,००००० थी । कालान्तर में ऋषि—महर्षियों और योगियों ने आवश्यकतानुसार इनकी संख्या कम कर दी, जिससे वह केवल कुछ सौ तक ही सीमित रह गई । वर्तमान में केवल चौरासी आसानों का विवरण विशेषतः मिलता है । इस प्रकार आसनों के विषय में कोई निश्चित समय नहीं बतलाया जा सकता कि वे कितने पुराने हैं और कितने समय से उनकी अनवरत परम्परा चली आ रही है । किन्तु इतना अवश्य है कि आसनों के आदि उपदेष्टा शिवजी होने के कारण उनकी प्राचीनता और ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं रह जाता । विद्वानों का यह मत भी समीचीन प्रतीत होता है कि योगशास्त्र अध्यात्म विद्या का प्रतिपादक होने से उसमें निहित आसन सम्बन्धी ज्ञान भी योग शास्त्र की भांति प्राचीनतम है ।

आसनों की प्राचीनता, ऐतिहासिकता और परम्परा के प्रसंग में कहा जाता है कि आसनों के ज्ञान का प्रसार करने वाले ऋषि-मुनि और योगियों में वैसे तो अनेक नाम उल्लेखनीय हैं, क्योंकि अपनी ज्ञान साधना, तपश्चरण और आत्मा सिद्धि के लिए उन्हें योगासनों का ही आश्रय लेना पड़ता था । किन्तु योगासनों के प्रथम व्याख्याकार

के रूप में ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर महान योगी गोरखानाथ का नाम ही विशेष उल्लेखीय है जिन्होंने अपने निकटतम शिष्यों को योगासन का उपदेश करते हुए उन्हें उनकी विधिवत् व्यावहारिक शिक्षा दी। उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से आसनों की विधि अपने शिष्यों को सिखलाई। अत: वर्तमान में हमारे सामने जो योगासन हैं उनके प्रथम व्याख्याकार गोरखनाथ जी थे। उनके पश्चात् यह क्रम निरन्तर चलता रहा। अनेक शिष्यों-प्रशिष्यों के माध्यम से यह परम्परा सतत चलती रही। हठयोग प्रदीपिका में विस्तार पूर्वक उन शिष्यों का नामोल्लेख किया गया है।

प्राचीन काल में ऋषि, मुनि, तपस्वी और योगीजन सामान्यतः नगरों और जन समुदाय से दूर जंगलों, पर्वतों ?ौर कन्दराओं में रहते हुए अपना जीवन व्यतीत किया करते थे। सांसारिक बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था, साधना और तपश्चरण ही उनका एक मात्र लक्ष्य था। उनका जीवन पूर्णत: प्रकृति पर आश्रित, सादा और सरल था। वे ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण एकनिष्ठ तपस्वी होते थे। सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त उनका जीवन उन्मुक्त प्रवाह की भांति अविरल रूप से प्रवाहित था। ऐसी स्थिति में उनके द्वा प्रयोगात्मक रूप से जो आसन अपनाए गए और जिन्हें उन्होंने जन सामान्य के लिए उपयोगी पाया उनका ही उपदेश उन्होंने अपने शिष्यों को दिया। कहा जाता है कि वन्य प्रान्त और पर्वत-कन्दराओं में विचरण करने वाले पशुओं का उनसे निकटतम सम्बन्ध था। वे उन वन्य पशुओं की प्रत्येक गतिविधि का बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया करते थे और आवश्यकतानुसार उसका अनुसरण करते थे। इस प्रकार वन्य जीव-जन्तुओं की गति विधियों के अध्ययन से आसन और योग की विभिन्न विधियों का विकास हुआ। यही कारण है कि योग को रोगों के उपचार की एक सरल, प्राकृतिक और प्रभावशाली प्रणाली माना जाता है। आसनों के प्रयोग से चिरकाल से विविध रोगों का उपचार किया जाता रहा है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आसनों की परम्परा अति प्राचीन काल से निर्बाध रूप से चली आ रही है। शास्त्रीय प्रमाणों और वैदिक साहित्य में मिलने वाले आसन सम्बन्धी उद्धरणों से आसनों की ऐतिहासिकता प्रमाणित एवं निर्विवाद है। यह एक महत्व पूर्ण तथ्य है कि योगविद्या या आसन सम्बन्धी ज्ञान का सम्बन्ध किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से नहीं रहा। सभी धर्मों ने समान रूप से उसे आत्मसात् किया। योगासनों की विभिन्न मुद्राओं में अंकित अनेक मूर्तियाँ इसके प्रमाण हैं जो पुरातत्वीय सर्वेक्षण के अन्तर्गत की गई भूगर्भीय खुदाई में उपलब्ध हुई हैं। आज भी ऐसी अनेक कलाकृतियाँ या मूर्तियां भूगर्भ से निकल रही हैं जो किसी विशिष्ट योगासन में अंकित रहती हैं। इसके अतिरिक्त क्या इस तथ्य से योगासनों की प्राचीनता

सिद्ध नहीं होती कि योगासन कोई कृत्रिम प्रक्रिया नहीं है, अपितु एक प्रकृति प्रदत्त सहज प्रक्रिया है जिसे प्राणि गर्भ से ही सीख कर आता है। अत: यह मानना अयुक्ति संगत नहीं होगा कि योगासन का इतिहास भी उतना प्राचीन है जितना प्राचीन प्राणि-सृष्टि का इतिहास है।

आधुनिक युग में आसन की उपयोगिता

आधुनिक भौतिकवादी प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में भारतवासियों का जीवन द्रुतगति से विलासिता की ओर बढ़ता जा रहा है। विभिन्न प्रकार के श्रम साधनों से हटकर मशीनों तथा अन्य भौतिक साधनों पर हमारा जीवन अधिक निर्भर होता जा रहा है। कृत्रिमता आज हमारे जीवन में इस तरह से व्याप्त हो गई है कि हमारे रहन-सहन का ढंग, हमारा आचरण, हमारा व्यवहार, हमारे खाने पीने की आदतें, सब कुछ कृत्रिम हो गई हैं। इस प्रकार वर्तमान युग में हमारा जीवन प्रकृति से हटकर कृत्रिम होता जा रहा है। जीवन का नैसार्गिक सौन्दर्य एक प्रकार से नष्ट हो गया है। हमारे दैनिक भोजन में प्राकृतिक तत्वों का स्थान कृत्रिम रसायनों और तज्जनित मिश्रणों ने ले लिया है जिसका दूषित और घातक प्रभाव हमारे शरीर मन और मस्तिष्क को प्रभावित किए बिना नहीं रहता। भौतिकवाद की चकाचोंध में हम अपने हिताहित के विवेक को भी खो वैठे हैं और आंख बंद कर मीठे जहर को आत्मसात् करते जा रहे हैं। इसके दूरगामी और कालान्तर भावी अनेक परिणाम आज हमारे सम्मुख विद्यमान है, किन्तु फिर भी विलसिता के क्षणिक सुखों में डूबा हुआ हमारा जीवन वेसुध है। श्रम विहीन आलस्य पूर्ण विभिन्न विधियां आज हमारे जीवन की मुख्य अंग बनी हुई हैं। ऐसी स्थिति में आसन की क्या उपयोगिता है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्या योगासनों के द्वारा हमारे आधुनिक विलासितापूर्ण जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है ? इस का सीधा सा उत्तर है कि योगासन हमारे शरीर, मन और मस्तिष्क को प्रत्यक्षत: प्रभावित करते हैं। अत: योगासनों के द्वारा निश्चित ही जीवन की वर्तमान धारा को बदला जा सकता है और जीवन में प्राकृतिक स्वास्थ्य और सौंदर्य का सुखमय प्रवाह प्रवाहित किया जा सकता है।

वर्तमान समय में अनेक प्रकार की सुख सुविधाएं, विभिन्न प्रकार की भौतिक साधन सामग्री होते हुए भी आज का मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक रोगग्रस्त है। आज मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक साधन एवं चिकित्सा सुविधा उपलब्ध है, फिर भी विभिन्न प्रकार के रोग उसे घेरे हुए हैं। इसका मूल कारण है हमारा आधुनिक विला-सिता पूर्ण जीवन और हमारे दैनिक भोजन में प्राकृतिक तत्वों का ह्रास या अभाव। यदि शास्त्र समस्त योगासनों का अभ्यास निरन्तर किया जाय तो उन दोनों ही कारणों

का निवारण स्वतः ही हो जाता है। आसनाभ्यासी मनुष्य को विलासिता पूर्ण जीवन का परित्याग करना होता है और अपने आहार में परिवर्तन कर उसे पूर्णतः शुद्ध, सात्विक, लघु और सुपाच्य आहार ग्रहण करना होता है। इसके अतिरिक्त स्वयं योगासनों में रोग नाशक विशेष क्षमता होने के कारण शरीर में रोगाक्रमण की संभावना नितान्ततः निर्मूल हो जाती है। योगासनों के द्वारा शरीरगत विजातीय दूषित पदार्थों का निष्क्रमण होता है और शरीर में लाघव एवं प्रसन्नता का अनुभव होता है। योगासन मानसिक तनाव को दूर करने का एक अपूर्व साधन है। कुण्ठा और निराश से आपूरित मानव जीवन के लिए योगासन अमूल्य वरदान की भांति हैं।

आधुनिकता आज हमारे जीवन का अनिवार्य अंग बन गई है। वह हमारे जीवन में दूध और पानी की तरह घुली मिली है। शारीरिक आराम और इन्द्रिय सुख में रत रहना उसी आधुनिकता की देन है। आज मनुष्य उसे अपने जीवन के लिए वरदान समझ रहा है, जबकि वस्तुतः हमारे जीवन के लिए वह अभिशाप बनी हुई है। आधुनिक जीवन के जो भयंकर दुष्परिणाम हमारे सामने आए हैं उनसे बचने और मानसिक तनाव को दूर करने के लिए उस तथाकथित आधुनिकता के पास कोई सुगम साधन नहीं हैं। जब मनुष्य उत्तेजनात्मक भावों और विकारों से पीड़ित रहता है, कुण्ठा और तनाव से उसका जीवन दूभर हो जाता है तब वह इन सब से छुटकारा पाने तथा शान्ति और सुख पूर्वक जीवन यापन एवं विश्रान्ति प्राप्ति के लिए बेचैन हो उठता है। आधुनिकता में इसके लिए नींद की गोलियां खाना ही एकमात्र उपाय है। किन्तु इससे भी उसकी समस्या का समाधान नहीं होता। ऐसी स्थिति में योगासनों का अभ्यास उसके लिए अत्यन्त लाभदायक एवं उपयोगी हो सकता है। योगासनों के सतत अभ्यास से आधुनिक सभ्य जीवन के कब्ज, गठिया, जकड़न, हृद्रोग, तनाव, दुश्चिन्ता, कुण्ठा, निराशा, स्नायु शैथिल्य वायु विकार (गैस) आदि अनेक रोगों से सहज ही मुक्ति पा सकता है वह अपने शरीर में अधिक शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव करता है। योगासनों का सतत अभ्यास करने वाला मनुष्य अधिक सतर्कता पूर्वक जीवन के प्रति अपने उत्तर-दायित्वों का निर्वाह करता है और अधिक सक्षमता पूर्वक शारारिक एवं मानसिक समस्या का सामना करने में समर्थ होता है।

वर्तमान समय वैज्ञानिक आविष्कारों का युग है। आधुनिक वैज्ञानिक अविष्कारों ने मनुष्य की सुख सुविधा के लिए अनेक महत्वपूर्ण साधनों को प्रसूत या विकसित किया है। किन्तु फिर भी मनुष्य की महत्वाकांक्षाएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन में जिस तीव्रता से मादक द्रव्यों का सेवन करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है वह भारी चिन्ता का का विषय है। मादक

द्रव्यों का प्रयोग जहां मानसिक संतुलन को बिगाड़ देता है वहाँ शरीर और मस्तिष्क के लिए भी उनकी हानिकर सम्भावाएं अत्यधिक हैं। मादक द्रव्यों का किसी भी रूप में प्रयोग मनुष्य के नैतिक पतन का मूलकारण है। कुछ लोग जो यह तर्क देते हैं कि जब अधिक काम करने से उनका मस्तिष्क थकावट का अनुभव करता है तो उसकी ताजगी और स्वस्थता के लिए वे अमुक द्रव्य का सेवन करते हैं। किन्तु यह एक थोथा तर्क है और इसमें कोई दम नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार तपाये हुए गरम लोहे को ठंडा करने के लिए यदि उस पर पानी डाला जाय तो इससे वह ठंडा तो हो जाता है, किन्तु साथ ही साथ वह कमजोर भी हो जाता है। यही स्थिति मस्तिष्क और मादक द्रव्यों की है। मस्तिष्क की थकावट दूर करने के लिए केवल विश्राम ही उपयुक्त उपाय है, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं। मस्तिष्क की शक्ति का विकास करने की दृष्टि से कतिपय योगासनों को अत्यन्त उपयोगी पाया गया है। कई बार मस्तिष्क में जो तनाव और शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है उसके निराकरण में योगासनों का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी होता है।

योगासनों के अभ्यास के द्वारा मानव जीवन की नीरसता को दूर कर उसे सरस बनाया जा सकता है। यौगिक क्रियाओं के परिणाम कई बार दैवी शक्ति की भाँति प्रतीत होते हैं। यौगिक आसनों के द्वारा शरीर-मन-आत्मा और मस्तिष्क में ऐसा संतुलन स्थापित होता है कि जीवन निर्वाह अबाधगति से होता जाता है। हृदय में सात्विक भावों का उदय होता है और ईर्ष्या, भय, द्वेष, क्रोध आदि वैकारिक भावों का क्रमश: शमन होकर मानसिक भावों में निर्मलता आती है। अत: आधुनिक युग के तनावपूर्ण वातावरण में मनुष्य को शान्ति और सुख प्रदान करने के लिए योगासनों का अभ्यास अपरिहार्य रूप से करना चाहिए। ये आसन जीवन की अनेक विषमताओं को दूर करने, अनेक प्रकार के रोगों से मुक्त करने और मानसिक उद्विग्नता को दूर करने के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। आसनों का अभ्यास करने वाले मनुष्य को जीवन की यथार्थता का अनुभव होता है और वह जीवन के वास्तविक आनन्द का उपभोग करने में समर्थ होता है।

आसनों का नियमित अभ्यास करने से मनुष्य दीर्घ आयु, निरोग जीवन तथा शान्त चित्तता तो प्राप्त करता ही है, उसके जीवन में आध्यामिकता एवं लोकोत्तर सुख शान्ति का ऐसा प्रवाह आता है कि जीवन की सार्थकता का आभास सहज ही होने लगता है। आसनों का सतत अभ्यास शरीर एवं मस्तिष्क को भी प्रभावित करता है, वह शरीर में स्थित कशेरुक दण्ड (सुषुम्ना काण्ड) को भी विशेष रूप से अनुकूल रूप में प्रभावित करता है। सुषुम्ना काण्ड में क्रियाशीलता रहने से वह लचीला बन जाता है जिससे वह प्राकृत रूप से अपनी क्रियाएं करता है। आसनों के सतत अभ्यास से पृष्ठ

वंश लचीला रहता है, क्योंकि पृष्टवंशीय कशेरुकाओं विशेषतः सम्पूर्ण सुषुम्ना काण्ड में क्रियाशीलता रहने से वह स्वयं लचीला बन जाता है जिससे वह प्राकृत रूप से अपनी क्रियाएं करता है। सुषुम्ना काण्ड की स्वस्थता एवं प्राकृत स्थिति मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। सामन्यितः यह देखा गया है कि जिस व्यक्ति का मस्तिष्क आर्द्रता युक्त होता है और सुषुम्ना काण्ड में लचीलापन होता है वह व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निश्चय ही स्वस्थ रहता है। साथ ही बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर भी उसे स्वस्थ पाया जाता है।

आसनों को प्राणायाम का पूरक माना जाता है, क्योंकि आसनाभ्यास में दक्ष व्यक्ति को प्राणायाम में होने वाली दुरुहता और कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता है। कतिपय विद्वानों का ऐसा भी मत है कि आसान और प्राणायाम दोनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं, क्योंकि दोनों के योग से जीवन में नव चेतना का संचार होता है, तथापि यह तो सन्देह से रहित है कि आसन और प्रणायाम का सुयोग मनुष्य के स्वस्थ सुखी-जीवन एवं दीर्घायुष्य के लिए परम हितावह है। अतः यदि दोनों की अनुपूरकता मान ली जाय तो आपत्तिजनक नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी एक सुस्पष्ट तथ्य है कि आसनों का अभ्यास शरीर में प्राणवायु के संचार को बढ़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि जब शरीर में प्राणवायु (आक्सीजन) की पूरी मात्रा पहुंचती है तब वह फुफ्फुसों में आने वाले रक्त का शोधन करती है, साथ ही कोशिकाओं को भी शक्ति निर्माण के लिये अपेक्षित तत्व प्राप्त होते हैं। इससे शरीर में प्राण शक्ति एवं ऊर्जा का संवर्धन होता है।

आज अनेक लोग ऐसे हैं जिनके पास धन-दौलत की कमी नहीं है और वे भौतिक विलासिता पूर्ण जीवन में डूबे हुए हैं। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो उनके जीवन में क्षण भर के लिए भी सुख और शान्ति नहीं है। शान्ति के लिए वे तरसते रहते हैं। सुरा सुन्दरी की उनके पास कोई कमी नहीं है। ऐसे लोग जीवन को वास्तविकता से काफी दूर रहते हैं। उनके पास सब कुछ होते हुए भी वे अपने नीरस जीवन की गाड़ी को खींचते जाते हैं। उनको होश तब आता है जब वे जीवन के सुनहरे क्षणों को कई बसन्तों के रूप में व्यतीत कर चुके होते हैं और तब ही वे जीवन की नीरसता का अनुभव करते हैं। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जीवन निर्वाह के इस नीरस और निर्जीव ढंग 'को आसनों के द्वारा ठीक किया जा सकता है। जीवन पद्धति को व्यवस्थित करने के लिए योगासन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है उसमें जीवन का वह वास्तविक आनन्द छुपा हुआ है जिसके लिए मनुष्य इधर उधर भटकता है। आध्यात्मिकता के सोपान के रूप में आसन जीवन निर्वाह के लिए सही मार्ग प्रशस्त करते हैं। अतः निःसन्देह वे आधुनिक युग में प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं।

कुछ लोग योगासनों की दुरूहता की शिकायत करते हैं। किन्तु यह बात सही नहीं है। कुछ प्रारम्भिक आसन तो इतने सरल हैं कि सहज ही उनका अभ्यास किया जा सकता है। अतः नवाभ्यासी को पहले सरल आसनों का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से कठिन आसन भी धीरे-धीरे सरल हो जाते हैं और मनुष्य उनका अभ्यस्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी नवीन वस्तु को नए ढंग से सीखने में कुछ कठिनता का अनुभव तो होता ही है। मनुष्य में यदि रुचि, लगन और उत्साह हो तो वह कठिन से कठिन कार्य को भी करने में समर्थ हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह आसनों का अभ्यास भी प्रयत्न पूर्वक करे। आसनों के अभ्यास से निश्चय ही उनके जीवन में सरसता और यथार्थता का संचार होगा। वह जीवन में सच्चे सुख और सफलता का अनुभव करेगा।

आसनों की संख्या एवं प्रकार

आसनों की संख्या और प्रकार (भेद) के विषय में शास्त्रों, शास्त्रकारों एवं विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उपनिषदों में इस विषय में भिन्न भिन्न मत देखने को मिलते हैं। योग चूड़ामण्युपनिषद् (३) में सिद्धासन और कमलासन बतलाए गए हैं, जबकि योगकुण्डल्युपनिषद् (१/४) में पद्म एवं वज्र इन दो आसनों का प्रतिपादन किया गया है। अमृतनादोपनिषद् (१८) में तीन आसनों पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रक का उल्लेख है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (४३) एवं योगतत्वोपनिषद् (२९) में सिद्ध, पद्म, सिंह एवं भद्र इन चार आसनों को सभी आसनों में मुख्य बतलाया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१/३) में आठ आसनों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार है—स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्रासन, मुक्तासन और मयूरासन। इसी उपनिषद् में एक अन्य स्थान (१/३-१३) पर इन आठ आसनों के अतिरिक्त नौवां सिद्धासन भी बतलाया गया है। दर्शनोपनिषद् के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में निम्न नौ आसनों का उल्लेख मिलता है-स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, और सुखासन। वराहोपनिषद् (५/१५-१७) में योगियों के लिए चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन इन आसनों का प्रतिपादन करते हुए चक्रासन का स्वरूप बतलाया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३४-५२) में सत्रह आसनों का उल्लेख विवरण सहित मिलता है जिनमें उपर्युक्त ग्यारह आसनों के अतिरिक्त योगासन, बद्धपद्मासन, उत्तानकूर्मासन, मयूरासन धनुरासन, और पश्चिमतानासन इन छह आसनों का विवरण अधिकता से प्रतिपादित किया गया है।

प्राचीनकाल में योगियों ने पशु पक्षियों के बैठने के ढंग तथा उनकी विशेषताओं का अध्ययन सूक्ष्मता से किया। उन्होंने देखा कि पशु पक्षियों के बैठने के ढंग अलग-

अलग प्रकार के हैं और वे किसी न किसी रूप में मनुष्य के लिए उपयोगी हैं। इसीलिये योगियों ने उन पशु पक्षियों के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए आसन के रूप में उन्हें अपनाया और उनसे लाभ उठाया। जिस पशु या पक्षी के बैठने के ढंग का अनुसरण करते हुए मनुष्य को विशेष लाभ या सुख का अनुभव हुआ, मनुष्य ने उसे अपनाकर बैठने के उस प्रकार विशेष का नामकरण उसी पशु या पक्षी विशेष के नाम के साथ जोड़ दिया। जैसे मयूरासन, कुक्कुटासन, मत्स्यासन, मकरासन आदि। इसके अतिरिक्त योगियों, ने पर्वत, वृक्ष, चक्र, धनुष आदि स्थावर द्रव्यों की स्थितियों के अनुकरण के आधार पर साधक के बैठने, खड़े होने आदि की स्थिति की कल्पना की। उस स्थिति में रह कर तज्जनित हानि-लाभ की विवेचना की तथा जिन स्थितियों में उसे अनुकूलता प्रतीत हुई और लाभ का अनुभव हुआ उस स्थिति को आसन के रूप में अपनाकर उसके आधार पर आसन का नामकरण किया। इससे आसन के अनेक प्रकार हो गए और संख्या अनन्त हो गई।

८४ आसनों के विषय में कोई सर्वसम्मत राय वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। योगीजन या विद्वज्जन अपनी इच्छानुसार भिन्न भिन्न आसनों का निर्धारण स्वतः ही कर लेते हैं जिससे आसनों में तो भिन्नता प्रतीत होती ही है, उनकी संख्या में भी पर्याप्त भिन्नता लक्षित होती है। वर्तमान में विभिन्न योगियों, योगशास्त्र के ज्ञाताओं और विद्वानों के जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें अनेक आसनों के नामों और उनकी संख्या में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। अतः सर्वसम्मत ८४ आसनों के नाम यहाँ लिखना सम्भव नहीं है। फिर भी प्रचलित सभी आसनों को संकलित कर उनमें से ८४ आसनों का नाम-निर्देश यहां किया जा रहा है जो सर्व सम्मत तो नहीं है, किन्तु अधिक संख्य-सम्मत हो सकता है। ८४ आसन निम्नलिखित हैं—

१- पद्मासन	२-सिद्धासन	३-स्वस्तिकासन
४-सुखासन	५-वीरासन	६-भद्रासन
७-वज्रासन	८-नौकासन	९-शवासन
१०-अद्धासन	११-ज्येष्टिकासन	१२-मकरासन
१३-सिद्धायोनि आसन	१४-उत्कटासन	१५-शशांकासन
१६-मार्जारि आसन	१७-मृगासन	१८-प्रणामासन
१९-सूर्यनमस्कार	२०-उष्ट्रासन	२१-सुमेरु आसन
२२-व्याघ्रासन	२३-नाभि आसन	२४-कटिचक्रासन
२५-ताड़ासन	२६-लोलासन	२७-मेरुपृष्ठासन
२८-उत्तानासन	२९-कोणासन	३०-दोलासन

३१-मत्स्यासन	३२-पवनमुक्तासन	३३-हृदयस्तम्भासन
३४-कुक्कुटासन	३५-तोलांगुलासन	३६-भुजंगासन
३७-शलभासन	३८-धनुरासन	३९-ग्रीवासन
४०-कंधरासन	४१-सेतु आसन	४२-शीर्षपादासन
४३-अर्धचन्द्रासन	४४-पृष्ठासन	४५-गोमुखासन
४६-मेरुवक्रासन	४७-शीर्षासन	४८-कपालि आसन
४९-सर्वाङ्गासन	५०-गरुड़ासन	५१-वकासन
५२-पर्वतासन	५३-मेरुदण्डासन	५४-वशिष्ठासन
५५-नटवरासन	५६-नटराजासन	५७-पूर्णमत्स्येन्द्रासन
५८-कूर्मासन	५९-धनुराकर्षणासन	६०-वृश्चिकासन
६१-मयूरासन	६२-हनुमानासन	६३-ब्रह्मचर्यासन
६४-मूलबंधासन	६५-गोरक्षासन	६६-अष्टवक्रासन
६७-हलासन	६८-योगमुद्रासन	६९-खगासन
७०-ध्रुवासन	७१-तुलासन	७२-मण्डूकासन
७३-शुतुरमुर्गासन	७४-हंसासन	७५-हस्तपादगुप्तासन
७६-जानुशिरासन	७७-पादतलसंयुक्त मूर्द्धा स्पर्शासन	७८-योगासन
७९-लता आसन	८०-कन्दपीड़ासन	८१-नाभिपीड़ासन
८२-समकोणासन	८३-द्विकोणासन	८४-त्रिकोणासन

यहां चौरासी आसन गिनाए हैं। इनमें से कुछ आसन ऐसे भी हैं जिनके दो तीन या अधिक भेद होते हैं। सूर्य नमस्कार दस क्रियाओं में सम्पन्न होता है। इन चौरासी आसनों की संख्या सौ से भी अधिक हो सकती है। अतः यहां प्रमुख आसन ही गिनाए गए हैं, अन्य असनों को छोड़ दिया गया है। किन्तु अपनी आवश्यकता एवं सुविधा के अनुसार उनका भी अभ्यास किया जा सकता है।

हठयोग प्रदीपिकाकार श्री स्वात्माराम योगी ने अष्टांग कथन के अन्तर्गत आसन का कथन सर्वप्रथम किया है। आसन के अन्तर्गत उन्होंने कुछ प्रमुख निम्न आसनों का उल्लेख वर्णन पूर्वक भी किया है जैसे—स्वस्तिकासन, गोमुखासन, वीरासन, कूर्मासन कुक्कुटासन, उत्तान कूर्मासन, धनुरान, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमतान आसन, मयूरासन, शवासन, सिद्धासन, सिंहासन और भद्रासन। इन आसनों में से अंतिम चार आसनों को वे सर्वश्रेष्ट मानते हैं। यथा—

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा॥

—हठयोग प्रदीपिका १/३९

अर्थात्—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, और भद्रासन ये चार आसन सर्वश्रेष्ट हैं। इन में भी सिद्धासन में योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है।

हठयोग प्रदिपिका में यद्यपि केवल पन्द्रह आसनों का वर्णन किया गया है, किन्तु कुल आसनों की संख्या उन्हें भी चौरासी ही अभिष्ट है। वे ८४ आसनों में ही उपर्युत चार आसनों को श्रेष्ट मानते है, अतः वे लिखते हैं—

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च।
तेम्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्॥

—हठयोग प्रदीपिका १/३४

अर्थात्—भगवान शिवजी के द्वारा चौरासी आसन का कथन किया गया है। उनमें से सारभूत चार आसनों को लेकर मैं उन चार आसनों का कथन करता हूं।

इस प्रकार हठयोग में चार आसनों को सर्वश्रेष्ठ एंव विशेष उपयोगी बतलाया गया है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि इन चतुर्विध आसनों में योगी स्थिरता एवं सुखपूर्वक बैठ सकता है। योगियों को अभीष्ट सिद्धि अर्थात् परम ब्रह्म साक्षात्कार कराने में भी ये ही आसन अधिक उपयोगी होते हैं। योगियों के अतिरिक्त अन्य महा-पुरुष भी अधिकांशतः इन्हीं चार आसनों में से किसी एक आसन का आलम्बन लेकर अपनी साधना में तत्पर हुए और अन्त में कार्य सिद्धि में समर्थ हुए।

वर्तमान में सामान्यतः आसनों की संख्या ८४ है। योगशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों में आसनों की संख्या ८४ लाख बतलाई गई है। इस संख्या का आधार सम्भवतः शास्त्रोक्त यह परिकल्पना है कि संसार में प्रत्येक योनि के जीव का आसन भिन्न होने से और शास्त्रों में जीवयोनि की संख्या ८४ लक्ष होने से आसनों की कुल संख्या ८४ लाख होती है। ऐसा भी उल्लेख से मिलता है कि शिव जी ने प्रत्येक लक्ष योनि के आसनों में से एक एक आसन छांटकर अभ्यास के लिए उनकी संख्या ८४ निर्धारित की। अतः प्रत्येक आसन एक-एक लाख योनि के जीवों का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसा इनका इतिहास शास्त्रों में मिलता है। इस प्रकार आसनों की संख्या ८४ है।

इन आसनों के दो प्रकार हैं—शरीर संवर्धनात्मक और ध्यान धारणात्मक। इनमें शरीर संवर्धनात्मक आसन बैठने के नहीं होते। उनकी अंतिम स्थिति में पहुंचने के लिए पृष्ठवंश तथा शरीर के अंगों को मोड़ने और सीधा तानने की आवश्यकता होती है, इसलिए उनको सिद्ध करने में तथा सिद्ध करने पर दीर्घकाल तक धारण करने में बहुत कष्ट होता है। इस प्रकार के आसन के अन्तर्गत शीर्षासन, सर्वांगासन, भुजंगासन, मयूरासस, पश्चिमोत्तानासन, धनुरासन, हलासन, शलभासन, आदि आसनों का समावेश है। ये आसन शरीरसंवर्धनात्मक प्रकार के सुपरिचित उदाहरण है।

द्वितीय प्रकार के आसन ध्यानधारणात्मक होते हैं। ये आसन दीर्घकाल तक ध्यान धारण करने के लिए होने से सरल और सुखप्रद हुआ करते हैं। ये आसन थोड़े अभ्यास से ही दीर्घकाल तक धारण किये जा सकते हैं। सिद्धासन और स्वस्तिकासन प्रमुख ध्यान धारणात्मक शासन हैं।

कहीं कहीं तीन प्रकार से आसनों का अभ्यास किए जाने का उल्लेख मिलता है। यथा—(१) खड़े होकर, (२) बैठकर और (३) लेटकर। तदनुसार सभी चौरासी आसनों को इन तीन प्रकार में वर्गीकृत या विभाजित किया जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों अथवा तीनों ही प्रकार के आसनों में अतः स्पष्ट है कि हो जाता है जो लोग आसनों का अभ्यास व्यायाम के रूप में केवल शरीर के संवर्धन और पुष्टि के लिए तथा बलाधानार्थ करना चाहते हैं इन्हें शरीरसंर्धनात्मक आसनों का ही अभ्यास करना चाहिए। ये आसन शरीर के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

आसनाभ्यास से पूर्व ज्ञातव्य

आसनों का अभ्यास करने से पूर्व कुछ आचणीय बातों का ध्यान रखना भी आवश्यक है, अन्यथा आसनों का पूर्ण लाभ और फल प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में आसनों का अभ्यास निरर्थक एवं अनुपयोगी प्रतीत हो सकता है। वस्तुतः आसन हमारे लिए उपयोगी, प्रभावशाली और लाभकारी तब ही हो सकते हैं जब उनका विधि पूर्वक, समुचित ढंग से यथावश्यक निर्देशों को ध्यान में रखते हुए और तत्सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए अभ्यास किया जाय। आसनों का अभ्यास चाहे योग साधना के लिए किया जाय अथवा स्वास्थ्य लाभ एवं रोग-मुक्ति के लिए किया जाय आवश्यक निर्देशों और सम्बन्धी नियमों का पालन करना आवश्यक है। आसनाभ्यास करने से पूर्व एवं अभ्यास करते समय कुछ मुख्य बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए जो निम्न हैं—

१ – आसनों का अभ्यास करने से पूर्व मूत्राशय, मलाशय और आंतों को खाली कर लेना आवश्यक है। आसनाभ्यास के समय विबन्ध (कब्ज) की स्थिति होना ठीक नहीं है। प्रतिदिन आसनाभ्यास से पूर्व मलत्याग का एक निश्चित समय निर्धारित कर लेना चाहिए। ऐसा करने से कुछ दिनों बाद निर्धारित समय पर स्वतः ही मल त्याग की इच्छा होने लगेगी। मल प्रवृत्ति के लिए यथा सम्भव आंतों पर जोर न डाला जाय अपितु सम्पूर्ण शरीर को यूं ही ढीला छोड़ देना चाहिए। शरीर को शिथिल करने से आंतों में स्वभावतः आकुञ्चन-प्रसारण की क्रिया होने लगेगी और कुछ सप्ताह पश्चात् आंतें स्वयं ही प्रतिदिन निश्चित समय पर मलप्रवृति करने लगेंगीं।

२—विबन्ध (मलावरोध या कब्ज) की स्थिति होने पर तीक्ष्ण विरेचक

औषधियों के प्रयोग (जुलाब) से बचना चाहिए। आसनों के अभ्यास के द्वारा ही विबन्ध को दूर करना चाहिए। इसके लिए दो तीन गिलास हल्का नमकीन पानी पीकर तिर्यक् ताड़ासन, कटि चक्रासन, तिर्यक्-भुजंगासन, उदराकर्षणासन आदि का अभ्यास अपनी सुविधानुसार करना चाहिए। इससे निश्चय ही कब्ज में राहत मिलेगी। इन आसनों के अभ्यास से यदि कोई विशेष लाभ लक्षित न हो तो पवनमुक्तासनों के अभ्यास का क्रम अपनाना चाहिए। यह अवश्य ही विबन्ध को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा।

३—आसनाभ्यास करते समय पेट (आमाशय) का खाली रहना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि भोजन करने के लगभग चार घंटे बाद तकआस नाभ्यास नहीं करना चाहिए। प्रात: काल शौच आदि आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होने के बाद आसनाभ्यास करना सबसे अधिक अच्छा माना गया है। क्योंकि उस समय पेट भी खाली रहता है और आंते भी खाली हो जाती हैं।

४—आसनाभ्यास के समय केवल नासिका के द्वारा ही श्वासोच्छ्वास किया जाना चाहिए। यदि किसी आसन विशेष में इसके विपरित निर्देश दिया गया हो तो तदनुसार ही अभ्यास करना चाहिए।

५—आसनों का अभ्यास ऐसे खुले हुए हवादार कमरे में करना चाहिए जहां का वातावरण स्वच्छ, शांत और उपयुक्त हो। कमरे में निर्बाध रूप से शुद्ध और ताजी वायु का आवागमन रहना चाहिए, ताकि श्वास के लिए पर्याप्त रूप से प्राणवायु प्राप्त हो सके। कमरे में यथावश्यक प्रकाश-किरणें भी पड़ती हुई होनी चाहिए, ताकि वहां के वातावरण में जीवाणु-संक्रमण की सम्भावना न हो। साथ ही, यथा सम्भव कमरा पूर्णत: खाली होना चाहिए या कमरे में बहुत कम सामान होना चाहिए जिससे अभ्यास करने में असुविधा या बाधा उत्पन्न न हो।

६—अभ्यास के समय कमरे में एकान्त होना आवश्यक है। ऐसा होने से अभ्यासी या योगी व्यक्ति दत्त चित्त हो कर आसनों का अभ्यास कर सकता है।

७—आसनों का अभ्यास घर से बाहर किसी खुले हुए स्थान में भी किया जा सकता है। किन्तु वह स्थान ऐसा होना चाहिए जहां किसी प्रकार की गन्दगी, धुआं या दूषित वायु का प्रवेश न हो। वह स्थान कोलाहल से रहित पूर्णत: एकान्त और शान्त होना चाहिए। इस दृष्टि से कोई सुन्दर बाग-बगीचा एक उपयुक्त स्थान है।

८—अभ्यास के समय भूमि पर अच्छा सा आसन बिछा लेना चाहिए जो पर्याप्त लम्बा-चौड़ा हो। अथवा कम्बल को चार पर्तों में मोड़ कर भी आसन की जगह बिछाकर प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु मुलायम गद्देदार या हवा भरे हुए बिछावन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

९—अभ्यास करते समय किसी भी आसन के लिए जोर लगाना उचित नहीं है। सदैव तनाव की स्थिति से बचना चाहिए और मस्तिष्क चिन्ता से मुक्त होना चाहिये। अभ्यास के समय मानसिक शांति एवं स्थिरता भी अत्यन्त आवश्यक है।

१०—आसनाभ्यास करने के लिए 'ब्राह्म मुहूर्त' का समय सर्वाधिक उपयोगी होता है। जो व्यक्ति किसी कारणवश ब्राह्म मुहूर्त (प्रातः ४ से ६ बजे तक) में आसनाभ्यास न कर सकें उन्हें प्रातः ६ बजे से ७ बजे तक अभ्यास करना उपयोगी होगा। अन्यथा भोजन करने के बाद चार घंटे छोड़ कर किसी भी समय अभ्यास किया जा सकता है।

अंगलाघवार्थ जिन आसनों का अभ्यास किया जाय उन्हें दीर्घकाल तक प्रतिदिन एक आसन का अभ्यास करने की अपेक्षा अनेक आसन थोड़ी-थोड़ी देर तक करना, प्रतिदिन कुछ नए आसनों को बदलते रहना और इस प्रकार परिवर्तन के साथ अधिक आसनों को करने का अभ्यास करना अधिक श्रेयस्कर एवं सुखप्रद है।

आसन से लाभ

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यौगिक आसन शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी, महत्वपूर्ण एवं लाभदायक हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आसनों का निरन्तर अभ्यास करने से उसका प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। शारीरिक आसन मुख्य रूप से शरीर और उसके समस्त बाह्य-आभ्यन्तरिक अवयवों को प्रभावित करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर के रुग्ण अवयव भी क्रियाशील हो जाते हैं और प्राकृत रूप से अपना कार्य करने लगते हैं। शारीरिक आसनों का एक प्रभाव यह होता है कि शरीर में स्थित अन्तःस्रावी ग्रन्थियां अपना कार्य सुचारू रूप से करने लगती हैं और सम्पूर्ण अन्तःस्रावी ग्रन्थि प्रणाली नियन्त्रित व सुव्यवस्थित हो जाती है। फल स्वरूप सभी ग्रंथियों से उचित मात्रा में रस का स्राव होता है जो विभिन्न दृष्टि से शारीरिक विकास के लिए उपयोगी एवं आवश्यक है।

आसनों का नियमित अभ्यास सभी आन्तरिक अवयवों को क्रियाशील बनाने में सहायक होता है। शरीर की मांस पेशियां स्वस्थ और क्रियाशील हो जाती हैं। आमाशय, ग्रहणी, आंत, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, हृदय आदि अवयव अपना कार्य सुचारू रूप से करते हैं। आसन के द्वारा श्वासोच्छ्वास की नियन्त्रित गति और सतत रूप से प्राणावायु का ग्रहण होते रहने से फुफ्फुस स्वस्थ एवं क्रियाशील रहते हैं। शरीर में रक्त शुद्धि और रक्त प्रवाह यथोचित रूप से होता है। इससे हृदय को शक्ति एवं गति प्राप्त होती है। शरीर में रक्त संचार ठीक रहने से अनेक रक्त सम्बन्धी व्याधियां नहीं हो पातीं और रक्तचाप भी सामान्य और नियन्त्रित रहता है। रक्त के द्वारा सभी अवयवों

को सामान्य रूप से पोषण प्राप्त होता रहता है। शरीर के सभी संस्थान,जैसे रक्तवह संस्थान, श्वासवह संस्थान, आदि प्राकृत रूप से अपना कार्य सम्पादित करते हैं और शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाए रखते हैं। सभी संस्थानों, अवयवों आदि के द्वारा प्राकृत रूप से अपना कार्य करने के कारण शरीर की रोग प्रतिरोध क्षमता में वृद्धि होती है जिससे शरीर पर अकस्मात् रोगाक्रमण नहीं होता और शरीर रोगों से बचा रहता है। इस प्रकार आसनों के अभ्यास का प्रभाव शरीर के बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों संस्थानों एवं सम्बन्धित अवयवों पर पड़ता है, जिससे स्नायुमण्डल, अंतःस्रावी ग्रंथियाँ, मांस पेशियां, संधियां और अन्यान्य आन्तरिक अंग सुचारू रूप से अपना कार्य करते हैं।

आसनों के अभ्यास का जितना प्रभाव शरीर पर पड़ता है उतना ही प्रभाव मन पर भी पड़ता है। आसनों के अभ्यास से मन की चञ्चलता शनैः शनैः दूर होकर मन में स्थिरता और शांति आती है। आसनों के दीर्घकालीन अभ्यास के आधार पर यह अनुभव किया गया है कि इससे अनेक प्रकार के मानसिक विकारों और व्याधियों के उपशमन में बड़ी सहायता मिलती है। आसनों का प्रत्यक्ष प्रभाव स्नायुमण्डल पर पड़ता है जिससे तनाव और उत्तेजना की स्थिति का निर्माण नहीं हो पाता और मानसिक सन्तुलन बना रहता है। मन में उत्पन्न होने वाले विविध भावों पर आसनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ऐसे भाव जो मानसिक विकृति को उत्पन्न करने वाले होते हैं भी आसनों के द्वारा प्रभावित और नियन्त्रित होते हैं। आसनों से मन की दृढ़ता और एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है। अन्य मानसिक शक्तियां भी विकसित होती हैं। अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं, समस्याओं और कुण्ठापूर्ण स्थितियों से मुक्ति प्राप्त होती है। स्नायुमण्डल की शिथिलता से होने वाले विकारों के होने की सम्भावना भी निर्मूल हो जाती है। इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिए आसनों का अभ्यास निश्चय ही उपयोगी है।

आसनों के द्वारा मस्तिष्क सम्बन्धी विभिन्न शक्तियां भी विकसित होती हैं। मस्तिष्क शक्तिशाली बनता है और उससे सम्बन्धित अन्यान्य प्रवृत्तियां निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। मस्तिष्क का संतुलन बना रहता है, जिससे वह सदैव स्फूर्त, क्रियाशील, सजग और स्वस्थ बना रहता है। कुछ विशिष्ट आसन ऐसे भी हैं जो केवल मष्तिष्क को प्रभावित कर उसे न केवल स्वस्थ बनाते हैं अपितु उसकी अन्यान्य शक्तियों का विकास भी करते हैं। आसनों के प्रभाव से रक्तप्रवाह सुचारू एवं सुव्यवस्थित होकर मस्तिष्क को यथावश्यक पोषण प्रदान करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मस्तिष्क को पोषण प्रदान करने में रक्त और उसके व्यवस्थित प्रवाह की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

यद्यपि आसन और व्यायाम में पर्याप्त अन्तर है, फिर भी आसनों को एक विशिष्ट मांस पेशी का व्यायाम कहा जा सकता है। हमारे दैनिक जीवन में सामान्य क्रिया कलापों के द्वारा शरीर की सभी माँस पेशियों को पूर्ण व्यायाम नहीं मिल पाता, जिससे वे प्राय: शिथिल बनी रहती हैं। योगासनों के द्वारा शरीर की लगभग सभी मांस पेशियों को समुचित व्यायाम मिलता है, शरीर में समुचित रूप से रुधिराभिसरण होकर उनके दोष दूर होते हैं, जिससे उन्हें पर्याप्त पोषण प्राप्त होता है। आसनों के द्वारा अंग लाघव और स्वस्थता का जो अनुभव होता है वह आसनों से होने वाले मांसपेशियों के विशिष्ट व्यायाम का ही सुपरिणाम है।

आसनों में कुछ आसन ऐसे भी हैं जो आध्यात्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। ऐसे आसन राजयोग के लिए साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस दृष्टि से उन आसनों का कार्य समाधि की ओर अग्रसर करने वाले उच्च यौगिक अभ्यास. प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के लिए शरीर को स्थिर बनाना है। हठयोग में आसनों का वही स्थान है जो अन्य अंगों का है। कुछ विद्वानों के अनुसार हठयोग में आसनों का विशेष स्थान है, इसीलिए उसका कथन सर्वप्रथम किया गया है। एक प्रकार से हठयोग और उसके पश्चात् राजयोग का मूल आधार आसन ही है। वस्तुतः हठयोग का गहन सम्बन्ध शरीर को उच्च आध्यात्मिक प्रक्रिया के लिए तैयार करने वाले साधन विशेष से है। इसीलिए इस (हठयोग) में आसनों के द्वारा शरीर और मन की स्थिरता, दृढ़ता एवं शुद्धि को विशेष महत्व दिया गया है। आसान स्वयं आध्यात्मिक अनुभव भले ही नहीं करा सकें किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आध्यात्मिक मार्ग के वे एक महत्वपूर्ण सोपान हैं और किसी भी आध्यात्मिक जिज्ञासु का काम आसन के बिना चलना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से आसान की उपयोगिता निर्विवाद है। वे सभी वर्ग के सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से हितकारी हैं। हठयोग प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता जैसे प्राचीन ग्रथों में इनका विस्तृत विवरण मिलता है। अत: हमारे लिए आवश्यक है कि इन का अध्ययन कर समुचित रूप से ज्ञान प्राप्त करें और योग्य गुरु के मार्ग निर्देशन में इनका विधि पूर्वक अभ्यास करते हुए इनसे होने वाले लाभ अर्जित करें।

योगासन और आयुर्वेद

योग शास्त्र में जिस प्रकार आसनों का वर्णन किया गया है उस प्रकार का वर्णन या उल्लेख यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र में नहीं है, किन्तु योगासनों का आयुर्वेद के साथ निकटतम सम्बन्ध है-इसमें दो मत नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और व्याधि पीड़ित मनुष्य के रोग का निवारण करना है। जैसा कि महर्षि चरक ने स्वयं ही प्रतिपादन किया है— "स्वस्थ स्यस्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य च विकार प्रशमनम्।" इस प्रयोजन की सिद्धि के द्वारा ही वह मनुष्य को दीर्घायुष्य का लाभ कराता है। योगसनों के सतत अभ्यास से प्रथमतः मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा होती है और यदि वह किसी रोग से पीड़ित होता है तो उसके रोग का प्रतिकार होता है। योगासनों के निरन्तर अभ्यास से शरीर के मुख्य संस्थान जैसे रुधिराभिरण संस्थान (Circulatory System) स्नायु संस्थान (Nervous System), श्वसन संस्थान (Respiratory System), मांस संस्थान (Muscular System), पाचन संस्थान (Digestive Sytem) आदि प्रभावित होते हैं। ये व्यवस्थित होकर सुचारु रूप से इनके कार्य का सम्पादन होता है, जिससे मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा होती है, रोग का निवारण होता है और शरीर एवं उसकी शक्तियों का विकास होता है। इसका व्यापक प्रभाव शरीर, मन और आत्मा पर पड़ता है। शरीर में बलाधान होता है, अंगों में सौष्ठव और कार्यक्षमता आती है, आभ्यन्तरिक अवयव और अन्तःस्रावी ग्रंथियों की क्रियाशीलता सुनियोजित एवं नियन्त्रित होती है, आरोग्य लाभ होता है, यौवन में स्थिरता आती है, शरीर में दृढ़ता और स्थिरता के साथ स्फूर्ति का संचार होता है जिससे दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इस प्रकार योगासनों से दीर्घायु प्राप्ति रूप जो फल मिलता है, आयुर्वेद के द्वारा भी अन्ततः वही फल प्राप्त किया जाता है।

योगासन वस्तुतः मानसिक शान्ति प्राप्त करने के अपूर्व साधन हैं। योगासनों से जहाँ चित्त में स्थिरता एवं एकाग्रता आती है वहाँ उसके द्वारा अनेक मानसिक विकारों

का उपशम होता है, जिससे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। योगासनों की यह एक विशेषता है कि ये आसन शरीर को जितना स्वस्थ रख सकते हैं उससे कहीं अधिक अंशों में ये मन की एकाग्रता और शक्ति को बढ़ाते हैं। मन की एकाग्रता से विकसित होने वाली धी (बुद्धि), स्मृति (स्मरण शक्ति या मेधा) आदि बौद्धिक शक्तियों का विकास करते हैं। अतः सहज ही मानसिक एवं बौद्धिक विकास में योगासन सहायक होते हैं। आयुर्वेद में भी इनके विकास हेतु किए जाने वाले उपायों की पर्याप्त रूप से चर्चा की गई है।

आयुर्वेद में जिस प्रकार अनेक रोगों का शमन औषधोपचार के द्वारा किया जाता है उसी प्रकार योग शास्त्र में आसनों के द्वारा अन्यान्य रोगों का प्रतिकार वर्णित है। योगासन वस्तुतः प्रत्यक्ष रूप से किसी रोग को प्रभावित नहीं करते, अपितु वे विभिन्न संस्थानों (Systems) और आभ्यन्तरिक अवयवों को प्रभावित कर उनकी क्रियाओं को सुचारु एवं व्यवस्थित करते हैं जिससे उस संस्थान या अवयवगत विकृति का निराकरण होकर रोग का शमन होता है। अतः यहाँ शरीर में स्थित संस्थानों, अवयवों और ग्रंथियों को प्रभावित करने वाले आसनों का उल्लेख किया जा रहा है।

संस्थानों को प्रभावित करने वाले आसन

१. **श्वसन संस्थान**—एक नासिका घर्षण, कपालभाति, प्राणायाम, पद्मासन स्वास्तिकासन, सिद्धासन, मत्स्यासन और भुजंगासन।

२. **रुधिराभिसरण संस्थान**—शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन और उत्तानपादासन।

३. **पाचन संस्थान**—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, शलभासन, मत्स्येन्द्रासन और शीर्षासन।

४. **मांस संस्थान**—शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, कर्णपीडनासन, मत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रासन, भुजंगासन और प्राणयाम।

५. **स्नायु संस्थान**—सूर्यनमस्कार, उत्तानपादासन, वज्रासन, लोलासन शक्ति-आसन, कुक्कुटासन और धनुरासन।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों को प्रभावित करने वाले आसन

१. **पीनियल**— शीर्षासन
२. **पिट्युटरी**— शीर्षासन
३. **थाय राइड**— सर्वांगासन, हलासन

४. यकृत्—	मत्स्येन्द्रासन (दाहिनी ओर)
५. प्लीहा—	उड्डियान बंध, नौली क्रिया
६. क्लोम—	मत्स्येन्द्रासन (बाईं ओर)
७. एड्रीनाल—	मयूरासन
८. वृक्क—	भुजंगासन
९. अण्डकोष—	सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन, सुप्त वज्रासन और शीर्षासन

अवयवों को प्रभावित करने वाले आसन

पेट, जठर, यकृत, प्लीहा, आन्त्र, आमाशय—उपयुक्त पाचन संस्थान के आसन

हृदय— शीर्षासन, सर्वांगासन, शवासन और प्राणायाम।

फुफ्फुस— श्वसन संस्थानोक्त आसन।

मस्तिष्क— शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पद्मासन, योगमुद्रासन और प्राणायाम।

आंख— शीर्षासन, मत्स्यासन, सूत्रनेति, जलनेति, और त्राटक कर्म

नासिका, दांत कान—नेति, मत्स्यासन, श्वसन क्रियाएं और सिंहासन।

विभिन्न व्याधियों में उपयोगी आसन-

मन्दाग्नि—उत्तानापादासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन और धनुरासन।

विबन्ध—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, धनुरासन, मयूरासन और शीर्षासन।

अजीर्ण—उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन धनुरासन, सुप्तवज्रासन और शीर्षासन

जठराग्नि—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन, मत्स्यासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन, मयूरासन और मत्स्येन्द्रासन।

पेट की बीमारियों में—उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, वज्रासन, योगमुद्रासन, भुजंगासन और मत्स्यासन।

गैस—पवनमुक्तासन, जानुशिरासन, खगासन, योगमुद्रासन और वज्रासन।

अर्श—उत्तानपादासन, सर्वांगासान मयूरासन, शीर्षासन और यानासन।

स्वप्न दोष—पादांगुष्ठासन, गोरक्षासन, लोलासन, कन्दपीडनासन, शीर्षासन, वज्रासन, सुप्तवज्रासन और सर्वांगासन।

आन्त्रपुच्छशोथ—उत्तानादापासन, सर्वांगासन और शीर्षासन।
शीत या श्लेष्म विकार—मत्स्यासन, सर्वांगासन, हलासन, कपाल भाति,
(प्रतिश्याय) उड्डियान बंध और गजकरणी।
फुफ्फुस विकृति—वज्रासन, मत्स्यासन और सर्वांगसन,
श्वास रोग (दमा)—एक नासिका घर्षण, मत्स्यासन सर्वांगासन, सुप्तवज्रासन, भुजंगासन, शीर्षासन, उड्डियान बंध, गजकरणी और धौति।
कुष्ठरोग—धौति, गजकरणी, शीर्षासन और महामुद्रा।
आन्त्र च्युति—शीर्षासन, सर्वांगासन और कपाल भाति।
रक्तविकार और त्वक् रोग—गजकरणी सर्वांगासन और कपालभाति।
आमवात (गठिया)—सर्वांगासन, पवनमुक्तासन, पद्मासन, मत्यासन, उष्ट्रासन वज्रासन, सुप्तवज्रासन, और पश्चिमोत्तानासन।
रजो विकृति—भुजंगासन, शलभासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तानासन (गर्भावस्था और ऋतुकाल में आसनाभ्यास वर्जित है)
योषापस्मार और अनिद्रा—शीर्षासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तानापादासन, पवनमुक्तासन, हलासन, भुजंगासन, शलभासन और मयूरासन।
मधुमेह—सर्वांगासन, मयूरासन, नौकासन, वज्रासन, भुजंगासन, हलासन, प्रश्चिमोत्तानासन, शीर्षासन और उड्डियानबंध।
वीर्य दोष—सर्वांगासन, वज्रासन योगमुद्रा।
सिर की बीमारियों में—सर्वांगासन, शीर्षासन और चन्द्रासन।
गले की बीमारियों में—सुप्तवज्रासन, भुजंगासन और चन्द्रासन।
आंख की बीमारी में—सर्वांगासन, शीर्षासन, और भुजंगासन।
नाभि विकृति—धनुरासन, नाभि-आसन और भुजंगासन।
गर्भाशय विकृति—उत्तानपादासन, भुजंगासन, सर्वांगासन, ताड़ासन और चन्द्रनमस्कारासन।
कटि शूल—हलासन, चक्रासन, धनुरासन और भुजंगासन।
यकृत् विकृति—लता आसन, पवनमुक्तासन और यानासन
भगंदर आदि में—उत्तानपादासन, सर्वांगासन, जानुशिरासन, यानासन और नमस्कारासन।
सभी रोगों में सामान्य आसन—पद्मासन, शीर्षासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तानासन।

स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष्य—पद्मासन शीर्षासन, सर्वांगासन और पश्चिमोत्तानासन।

यौवन रक्षा—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन पश्चिमोत्तानासन और मत्स्यासन

मेधाशक्ति—सर्वांगासन, शीर्षासन, मत्स्यासन, पद्मासन, प्राणायाम और ध्यान

ज्ञान तन्तुओं की क्षमता—सर्वांगासन, शीर्षासन, भुजंगासन शलभासन, और धनुरासन।

शिथिलीकरण— शवासन

त्रिदोष को प्रभावित करने वाले आसन

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। त्रिदोष ही इस सम्पूर्ण शरीर का मूल और शरीर में होने वाली प्रत्येक क्रिया का आधार है। जब ये दोष सम अवस्था में होते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है और इनमें विषमता होने पर शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य की प्रकृति का निर्माण भी दोषों पर ही आधारित है। अतः शरीर में दोषों का विशेष महत्व है।

योगासन अपनी क्रिया विशेष के द्वारा जब शरीर, उसके अवयवों और क्रियाओं को प्रभावित करते हैं तो त्रिदोष को प्रभावित करना भी स्वाभाविक है। अतः किस दोष की प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए कौन कौन से आसन उपयोगी एवं हितकारी हैं उनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है—

वात प्रकृति—पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, पूर्ण मत्स्येन्द्रासन, धनुरासन, बस्ति, उड्डियान बंध और नौली।

पित्त प्रकृति—भुजंगासन, अर्धशलभासन शलभासन और उड्डियान बंध।

कफ प्रकृति—कपाल भाति, उड्डियान बंध, उत्तानपादासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन और गजकरणी।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद में दोषानुसार जो प्रकृति बतलाई गई है वह सात प्रकार की है—वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति, वातपित्त प्रकृति, वात-कफ प्रकृति, पित्त-कफ प्रकृति और सन्निपातिक प्रकृति। इनमें प्रारम्भ की तीन प्रकृतियाँ एक दोषज प्रकृतियां हैं, उसके बाद की तीन द्विदोषज प्रकृतियां हैं और अंतिम त्रिदोषज प्रकृति है। एक दोषज प्रकृति वालों को कौन-कौन से आसन हितकारी हैं यह ऊपर बतलाया जा चुका है। द्विदोषज प्रकृति वालों को दोनों दोषों के आसनों का और त्रिदोषज प्रकृति वालों को तीनों दोषों के आसनों का अभ्यास अपनी आयु, सामर्थ्य और सुविधा के अनुसार करना चाहिए।

यौगिक षट् कर्म

□

आयुर्वेद के अनुसार मानव शरीर में वात-पित्त-कफ ये तीन दोष होते हैं। यद्यपि इनका नाम 'दोष' है, किन्तु जब ये तीनों दोष शरीर में सम प्रमाण में होते हैं अर्थात् किसी दोष की न्यूनाधिकता नहीं होती तो ये दोष शरीर को धारण करते हैं और शरीर की समस्त क्रियाओं का प्राकृत रूप से सम्पादन करते हैं। ये तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहते हैं। इन दोषों की प्राकृत अवस्था से ही शरीर स्वस्थ, और निरोगी बना रहता है। जब ये दोष विषम (न्यूनाधिक) हो जाते हैं तो उसके परिणाम स्वरूप शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उन रोगों का उपशमन करने के लिए आयुर्वेदाचार्य गण औषधोपचार करते हैं तथा दोषों के शोधन-शमन के लिए स्नेहन, स्वेदन (दोनों पूर्व कर्म) वमन, विरेचन बस्ति, शिरोविरोचन रक्तमोक्षण आदि पञ्चकर्म करते हैं। इससे शरीर का शोधन होकर शरीर पूर्णतः शुद्ध हो जाता है।

शरीर में कफ की अधिकता, मेद की वृद्धि और तमोगुण की अधिकता के कारण योग साधना सम्भव नहीं है। मेदस्वी, कफज विकार वाले और कफ की अधिकता वाले लोगों को प्राणायाम की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः योगाचार्यों ने आयुर्वेद की भाँति कफादि मलों और मेद आदि विकारों को दूर करने के लिए यौगिक षटकर्म का निर्देश दिया है। इन षट्कर्मों से कफ का नाश और मेद का क्षय होता है। इससे नाड़ियों में प्राणावायु का प्रवाह निर्बाध रूप से होता है। अतः मेदस्वी और कफ की अधिकता वाले लोगों को प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व षट्कर्म के द्वारा शरीर का शोधन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा प्राणायाम की सिद्धि सम्भव नहीं है। योगशास्त्र में इसका स्पष्ट निर्देश दिया गया है—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२१

अर्थात् जिन लोगों को मेद और श्लेष्मा की अधिकता है वे पहले षट्कर्म का आचरण करें। जिन्हें मेद और श्लेष्मा की अधिकता नहीं है वे दोषों का समभाव होने से इनका आचरण न करें अर्थात् समदोष वालों के लिए षट्कर्म करना आवश्यक नहीं है।

षट्कर्म निम्न बतलाए गए हैं—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्ष्यते ॥

—हठ योग प्रदीपिका २/२२

अर्थात् धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये छः कर्म होते है।

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुङ्गवैः ॥

—हठ योग प्रदीपिका २/२३

अर्थात् ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं। ये छः कर्म शरीर का शोधन करने वाले विचित्र गुणों का संघात करने वाले हैं जिससे वह योगियों द्वारा पूज्य माना जाता है। यदि इन कर्मों को गोपनीय नहीं रखा जायेगा तो अन्य सामान्य जन भी इन्हें कर सकेंगे और योगियों की पूजनीयता कम हो जायेगी। अत: योगियों में श्रेष्ठता उत्पन्न करना ही इन षट् कर्मों का फल है।

१—धौति कर्म

'धौति' का सामान्य अर्थ होता है धोना या साफ करना। इसके द्वारा सामान्यत: आमाशय एवं अन्य प्रणाली का शोधन होता है। आमाशय में जो कफादि दोष संचित रहते हैं इस कर्म के द्वारा उनका निर्हरण हो जाता है। इस कर्म के अन्तर्गत सामान्यत: तीन क्रियाओं का समावेश है—

१—वस्त्र धौति, २—कुंजल या गजकरणी और ३—दण्डधौति।

वस्त्र धौति

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेतम् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

—हठ योग प्रदीपिका २/२४

अर्थात् गुरू के द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करते हुए चार अंगुल चौड़े और पन्द्रह हाथ लम्बे भीगे हुए वस्त्र को धीरे-धीरे ग्रसित करे और धीरे-धीरे उसका प्रत्याहरण करे अर्थात् बाहर निकाले—इसे धौतिकर्म कहते हैं।

प्रयोग विधि

लगभग पन्द्रह हाथ लम्बी और चार अंगुल चौड़ी महीन मलमल (कपड़े) की पट्टी लेकर उसे दो तीन बार गरम जल से अच्छी तरह धोकर शुद्ध कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् यथा नियम गुरू के निर्देशानुसार कपड़े का एक छोर मुंह में डालकर दूसरा छोर हाथों में पकड़े रहे। तत्पश्चात् पशुओं की भाँति धीरे धीरे उसे चबाते हुए वह पट्टी पेट में उतारना चाहिए। यह क्रिया क्रम पूर्वक करना चाहिए। अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ पट्टी पेट में उतारे, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, चौथे दिन चार हाथ, इस प्रकार एक-एक हाथ की वृद्धि से वस्त्र पट्टी गले से नीचे उदर में उतारने का अभ्यास करना चाहिए।

प्रारम्भ में धौति कर्म करते समय अर्थात् पट्टी को गले के नीचे उतारते समय हिचकी आने या उल्टी होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रातः काल कालीमिर्च का काढ़ा पी लेना चाहिए। कुछ दिनों के लिए धौति को दूध में भिगो कर दूध के साथ, फिर पानी में भिगो कर पानी के साथ और और अन्त में कोरी धौति को पेट में उतारना चाहिए। इसके बाद दो या तीन किलो नमकीन पानी व साधारण गर्म पानी पीकर धौति करके दोनों नल फिराएँ या केवल उदर को ही अच्छी तरह से हिलाएं। तत्पश्चात् शनैः शनै उस पट्टी को बाहर निकालें।

वस्त्र धौति को बाहर निकालने के लिए सावधानी अपेक्षित है। वस्त्र धौति के मुख में प्रवेश के अनन्तर जब उसे बाहर निकलना हो तो मुख को पूरा खोल कर धौती के बाहर बचे भाग या सिरे को पकड़ कर धीरे-धीरे खींचना चाहिए। जब तक धौति आसानी से बाहर निकलती आए, उसे निकालते रहें, किन्तु रुकने पर खींचना तुरन्त बन्द कर धौति को पुनः उसी प्रकार भीतर निगलें जैसे पहले निगल कर उसे भीतर प्रविष्ट किया था। दो तीन ग्रास निगलने के बाद पुनः मुख को खोलकर पूर्ववत् धौति को धीरे धीरे बाहर खींचना शुरू करें। ऐसा करने से गले से पेट तक की धौति सीधी हो जाती है, उसका रुकना या अटकना बन्द हो जाता है और सारी धौति बाहर निकल आती है।

यदि किसी कारणवश धौति बाहर नहीं आए तो जितना जल पिया जा सके पी लेना चाहिए। उसके बाद खड़े हो कर नाभि से ९० डिग्री का कोण बनाते हुए कमर झुका कर "कुंजल" की भाँति मुख में अंगुली डाल कर उलटी (वमन) करना चाहिए। इससे रुकी हुई धौति बाहर निकल आती है। यद्यपि इस प्रकार कुंजल द्वारा धौति को बाहर निकालने की आवश्यकता बिरले ही लोगों (हजारों में एक-आध) को ही होती है।

धौति सम्बन्धी ज्ञातव्य

चार अंगुल चोड़ी तथा पन्द्रह हाथ लम्बी महीन सूती कपड़े की पट्टी लेना चाहिए। पट्टी यदि किसी चौड़े कपड़े में से फाड़ी गई हो तो उसके किनारे के दो दो धागे निकाल लेना चाहिए। उसके बाद उसे साबुन से भली भांति साफ करके गरम पानी में कम से कम पांच मिनट उबालना चाहिए। फिर उसे निचोड़ कर साफ स्थान में सुखाया जाय जहां मक्खी आदि उस कपड़े पर न बैठने पावें। तत्पश्चात् उसे पट्टी की तरह गोल लपेट कर रख लेना चाहिए।

जिसे कफ की शिकायत हो उसे गरम पानी में धौति को भिगोकर निगलना चाहिए। जिसे कफ की शिकायत न हो, किन्तु जिसे पित्त की अधिकता हो या पित्त बिगड़ा हुआ हो उसे गरम पानी के बदले गरम दूध में धौति को भिगोकर निगलना चाहिए। यदि धौति को निगलने में अधिक उबकाई (मचली) आती हो तो धौती के अग्रभाग पर तथा बीच में थोड़ी शहद लगा कर निगला जा सकता है। पूरी धौति कभी नहीं निगलना चाहिए। लगभग एक बालिश्त (९ इंच) या एक फुट धौति मुख के बाहर अवश्य बची रहना चाहिए, ताकि पुन: निगल कर निकालने की गुंजाइश रहे।

कुछ सिद्धहस्त योगाभ्यासी लोग धौति को निगलने के पश्चात् खड़े होकर घुटनों पर हाथ रख कर नौलि क्रिया के समान (जिसकी विधि आगे बतलाई जायगी) साढ़े तीन चक्र बाएं और साढ़े तीन चक्र दाएं से देते हुए नौली को बार बार चलाते हैं और उसके बाद बैठ कर उपर्युक्त विधि से धौति को मुख के बाहर निकालते हैं।

धौति से लाभ

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२५

अर्थात् धौतिकर्म के प्रभाव से कास, श्वास, प्लीहा सम्बन्धी विकार, कुष्ठ रोग और बीस प्रकार के कफ रोगों का विनाश होता है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कहा है—

प्लीहागुल्मज्वरं कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने॥

इस क्रिया के सतत अभ्यास से प्लीहा सम्बन्धी विकार, गुल्मरोग, ज्वर, कुष्ठ, कफ और पित्त का नाश होता है। योगी को दिन प्रति दिन आरोग्य, बल और पुष्टि प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में 'भक्ति सागर' में शुक देव जी लिखते हैं—

काया होवे शुद्ध ही भजें पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहे धौति करम साधें योगी लोग ॥

कुंजल या गजकरणी

'कुंजल' शब्द सम्भवत: 'कुंजर' शब्द से निर्मित है जो 'गज' (हाथी) का पर्यायवाची है। इसीलिए इसे 'गजकरण' भी कहा गया है। 'भक्ति सागर' में गजकर्म के विषय में कहा गया है—

गज-कर्म याहि जानिए, पिये पेट भर नीर।
फेरि युक्ति सों [काढ़िये रोग न होय शरीर ॥

अर्थात् पहले पेट भर पानी पीकर फिर युक्ति पूर्वक उसे निकाल देना चाहिए। यह गजकर्म कहलाता है। इससे शरीर में रोग नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथी अपनी सूंड़ से जल पीकर उसे सूंड़ के द्वारा ही बाहर निकाल देता है और अपने को सदैव निरोग रखता है उसी प्रकार मनुष्य भी कुंजल क्रिया के द्वारा अपने को निरोग रख सकता है। जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी डाल कर और फिर वह पानी फेंक कर यानी उसे धोकर उसकी सफाई की जाती है उसी प्रकार केवल गर्म या गर्म और नमकीन पानी पीकर फिर उसे निकाल कर पेट या आमाशय साफ किया जाता है।

भोजन करने से पूर्व यह क्रिया करना चाहिए। किसी दिन दूषित या विषयुक्त भोजन कर लिया हो तो उसे पेट से बाहर निकालने के लिए इस क्रिया का उपयोग किया जा सकता है। श्लेष्म प्रधान व्याधियों के लिए यह क्रिया अत्युत्तम एवं हितकारी है।

प्रयोग विधि

पीने योग्य सुहाता हुआ चार-पांच सेर गर्म पानी कपड़े से छान कर अपने पास रखें। कुछ लोगों को साधारण पानी पीने से वमन (उल्टी) नहीं होता। इसलिए चिकित्सक की राय से कुंजल क्रिया में प्रयुक्त किये जाने वाले जल में यथावश्यक नमक मिला लेना चाहिए। इसके लिए साधारण नमक की अपेक्षा सेंधा नमक अधिक उपयुक्त रहता है। जितनी मात्रा में दाल में नमक मिलाया जाता है उससे कुछ अधिक मात्रा में ही कुंजल के लिए जल में नमक मिलाना चाहिए।

शौच आदि क्रियाओं से निवृत होने के पश्चात् एकान्त स्थान में कागासन या उत्कटासन में अर्थात् उकडूं बैठकर गिलास या कटोरे से वह सारा नमकीन और गर्म पानी जल्दी-जल्दी पी जाना चाहिए। जब तक पेट बिलकुल भर न जाय अथवा

गुनगुना पानी पीते-पीते उल्टी न होने लगे तब तक लगातार पानी पीते जाना चाहिए।

खूब डट कर पानी लेने के बाद जब और अधिक पानी पीना सम्भव न हो और उल्टी होने की इच्छा या मितली होने लगे तो सीधे खड़े होकर कमर से ऊपर के भाग को आगे की ओर नीचे झुका कर नाभि से ९० डिग्री का कोण बनाते हुए इस प्रकार खड़े होना चाहिये कि दोनों पैर आपस में मिले रहें। इसके बाद बाएँ हाथ को पेट पर रखे हुए दाहिने हाथ की तीन अंगुलियों (तर्जनी, मध्यमा और अनामिका) या दो अंगुलियों को मुख के भीतर गले में डालना चाहिये। गले में जो लटकता हुआ कौआ लक्षित होता है घण्टी नुमा इस कौए को लघु जिव्हा भी कहा जाता है। इस छोटी जिव्हा या कौआ पर सावधानी पूर्वक मध्यमा अंगुली के द्वारा स्पर्श करना चाहिये। मध्यमा अंगुली के स्पर्श मात्र से वमन होने लगेगा।

जब वमन होने लगे और पेट में स्थित पानी बाहर निकलने लगे तब मुख में से अंगुली निकाल लेना चाहिये ताकि आसानी से पानी बाहर निकल सके। वमन रुकने पर पुनः अंगुली मुख में डाल कर कौआ का स्पर्श करते हुए वमन करने का प्रयत्न करना चाहिये, ताकि उदर का शेष पानी बाहर निकल सके। बार बार ऐसा करने से उदर का सारा पानी बाहर निकल आयेगा। इस क्रिया में यह सावधानी रखना आवश्यक है कि मध्यमा अंगुली के द्वारा कौआ के स्पर्श के समय कौआ में अंगुली का नाखून न लगने पावे। अन्यथा क्षत हो सकता है और उससे रक्तस्राव सम्भावित है।

अंगुलियों को मुख में गले तक डालने पर भी जब उबकाई तो आवे किन्तु उल्टी न हो याने पानी बाहर न निकले तो समझना चाहिये कि पेट का सारा पानी निकल चुका है।

यदि ऐसा प्रतीत हो कि कुछ पानी पेट में शेष रह गया है, किन्तु बाहर नहीं निकल रहा है तो ऐसी स्थिति में पुनः गर्म या नमकीन गर्म पानी तीन चार गिलास पीकर पुनः उपर्युक्त क्रिया के द्वारा ही पानी निकालने का प्रयास करना चाहिये। यह क्रिया दोहराने पर निश्चय ही दुबारा पिये हुए पानी के साथ शेष पानी भी बाहर निकल आता है।

अन्त में यदि खट्टा या चरपरा पानी निकले तो यह समझना चाहिये कि आमाशय में अभी पित्त स्थित है और वह पूर्णतः नहीं निकला है। अतः पुनः दो तीन गिलास गर्म या सेंधा नमक युक्त गरम पानी पीकर उल्टी करना चाहिये, ताकि शेष पित्त भी बाहर निकल आवे।

कुंजल क्रिया की समाप्ति के अनन्तर कागासन या उत्कटासन में बैठ कर सिर पर ठंडा पानी डाल कर दो तीन मिनिट तक सिर अच्छी तरह धो लेना चाहिये। सिर पर पानी डालते समय ब्रह्मरन्ध्र (तालु) को विशेषतः थपथपाना चाहिये। इससे

सिर में ठंडक पहुंचती है। सिर धोने के बाद तीन चार घूंट ठंडा पानी पी लेना चाहिये। इससे फिर उबकाई या मितली नहीं आती है।

कुंजल से लाभ

कुंजल के द्वारा आमाशय की शुद्धि होती है, जिससे सभी प्रकार के उदर विकार विबन्ध (कब्ज), उदर शूल, आध्मान, अग्निमांद्य, अरुचि, हृल्लास, अम्लपित्त आदि विकार दूर होते हैं। कफ पित्त का निर्हरण होता है तथा वायु का शमन होता है। श्वास, कास, मन्दाग्नि आदि श्लेष्म जनित विकार निर्मूल होते हैं। हृदयरोग होने की सम्भावना निमूंल होती है, मुख मण्डल पर होने वाली फोड़े फुंसियाँ साफ होकर चेहरे की कान्ति और नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इस प्रकार कुंजल क्रिया से अनेक लाभ होते हैं।

दण्ड धौति

अनामिका अंगुलि के बराबर मोटी, तीन लड़ वाली कच्चे सूत की रस्सी बनाना चाहिये। यह रस्सी लगभग ३० इंच (तीन बालिश्त और ४ अंगुल) लम्बी हो। उसके सिरे पर अंतिम छोर से करीब चौथाई इन्च पहले एक धागा इस प्रकार बांधा जाय कि रस्सी का वह सिरा फूल की भांति खिल जाय। इसके बाद सारी रस्सी को गरम जल के पात्र में डुबा दिया जाय, जिससे रस्सी कीटाणु रहित शुद्ध हो जाय। यही रस्सी 'दण्ड धौति' कहलाती है।

इसके पश्चात् कुंजल की भांति यथा सम्भव अधिक से अधिक गरम पानी पिया जाय। गरम पानी उत्कटासन या कागासन की स्थिति में ही बैठ कर पीना चाहिये। भर पेट पानी पी लेने के बाद कुछ झुक कर (कुंजल की भांति न तो पूरा झुक कर और न ही सीधा तन कर खड़ा होना चाहिये) खड़े होकर उपर्युक्त गरम पानी में पड़ी हुई रस्सी (दण्ड धौति) को निकाल कर मुख में कण्ठ के पास बगल में धीरे धीरे भीतर डाल कर उसी प्रकार निगलना चाहिये जिस प्रकार भोजन करते समय मोटी रोटी का ग्रास या बड़ा ग्रास निगला जाता है।

ग्रास निगलते समय यदि भीतर से बार बार पानी निकले तो उसे निकलने देना चाहिये और उसकी कोई चिन्ता नहीं करना चाहिये। क्योंकि शुरू शुरू में ऐसा ही होता है। किन्तु कुछ ही दिनों के अभ्यास से तीन बालिश्त रस्सी निगल जाना सम्भव ही नहीं एकदम आसान हो जायगा। रस्सी का चार अंगुल सिरा बाहर ही रखना चाहिए, शेष बचे हुए भाग को पकड़ कर धीरे धीरे हिलाना चाहिए। इससे काफी मात्रा में भीतर का पानी बाहर निकलने लगेगा। निकलते हुए पानी के साथ ही

साथ रस्सी को भी धीरे धीरे खींचकर बाहर निकालना चाहिए। यदि साथ में पानी न निकलता हो तो रस्सी को खींचकर बाहर निकालना उपयुक्त नहीं है। ऐसी स्थिति में रस्सी को इस प्रकार हिलाना चाहिए कि वह बाहर न खिंचकर अन्दर ही पानी को आलोडित करे। इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि जब पेट में पर्याप्त पानी हो यानी खूब भरपेट पानी पिया गया हो तब ही रस्सी अन्दर डाली जाय, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार धीरे धीरे रस्सी खींचकर पेट का सारा पानी बाहर निकाल देना चाहिए। इससे आमाशय की शुद्धि हो जाती है और आमाशय की भित्ति से चिपका हुआ कफ या पित्त दोष अनायास ही बाहर निकल आता है।

कुंजल क्रिया और वस्त्र धौति की भांति दण्डधौति भी लाभदायक है। इसके द्वारा भी पित्त और कफ का निर्हरण होता है। यह क्रिया पित्त प्रकोप की स्थिति में विशेष लाभदायक है। पित्त प्रकृति वाले पुरुषों के द्वारा निरन्तर इस क्रिया का अभ्यास करते रहने से किसी प्रकार की पित्त बाधा या पित्त विकार उन्हें पीड़ित नहीं कर पाते। उनकी उदर शुद्धि और कफ का शमन होने से पाचन क्रिया तथा अन्य नैसर्गिक क्रियाएं यथोचित रूप से सम्पन्न होती हैं। शरीर स्वस्थ व निरोग होता है। अंगों में स्फूर्ति एवं मन में उत्साह का संचार होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा की दृष्टि से ये क्रियाएं अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। आंतों की निर्बलता, कष्टयुक्त संग्रहणी, हृदय की निर्बलता, उरःक्षत आदि रोग से पीड़ित व्यक्तियों को यह धौति कर्म नहीं करना चाहिए।

२-नेतिकर्म

षट् कर्मों के अन्तर्गत "नेति" कर्म विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। इस कर्म का सम्बन्ध मुख्यतः नासिका से है। इसे मातंगिनी भी कहा जाता है। योगशास्त्र में इस कर्म के कोई अवान्तर भेद या प्रकार प्रतिपादित नहीं हैं, किन्तु कुछ योगाचार्य साधन भेद से इसके अनेक प्रकार मान लेते हैं। जैसे नेति कर्म में सूत्र का प्रयोग किया जाता है, अतः वह सूत्र नेति, जिसमें जल का प्रयोग किया जाता है वह जल नेति, इसी प्रकार दुग्ध प्रयोग के कारण दुग्धनेति, घृत प्रयोग के कारण घृत नेति आदि। किन्तु मूलतः इसकी क्रिया विधि में कोई अन्तर नहीं है। योगशास्त्र में मुख्यतः सूत्रनेति ही प्रतिपादित की गई है। यथा—

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२९

अर्थात् बितस्ति परिमित सुस्निग्ध सूत्र को नासिका नाल में प्रविष्ट कर मुख मार्ग से बाहर निकालना—यह सिद्धों के द्वारा 'नेति' कहलाती है।

सूत्र नेति की निर्माण एवं प्रयोग विधि

चालीस नम्बर के देशी सूत्र की पन्द्रह तांतों को लेकर लगभग तीन बालिश्त लम्बी नेति बनाना चाहिए। उसे बीच में से मोड़कर आधी बांट ली जाय और आधी बिना बंटे ही छोड़ दी जाय। बंटे हुए भाग को मोम लगाकर चिकना कर लिया जाय। प्रातःकाल शौचादि दैनिक क्रियाओं से निवृत्त होकर दातून आदि करने के बाद पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख उत्कटासन में बैठ कर गर्दन ऊँची रखते हुए नासिका को शुद्ध कर नेति को पानी में भिगोकर मोम वाले भाग को अग्रभाग से थोड़ा झुका कर धीरे से नासिका के जिस छिद्र से वायु चलायमान हो उस छिद्र में डालना चाहिए। जब उसका अग्रभाग जिह्वा के पास आवे तब उसे दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुली से पकड़ कर धीरे धीरे मुख से नेति का अग्रभाग बाहर निकालना चाहिये। इसके बाद उसे स्वच्छ कर पुनः नासिका के दूसरे छिद्र से इसी प्रकार की विधि से नेति निकाल कर उसका शोधन करना चाहिए। इसका अभ्यास हो जाने के बाद नेति के दोनों छोर पकड़कर शनैः शनैः इस प्रकार घर्षण करना चाहिए कि अन्दर कोई क्षत न होने पावे। 'शक्ति सागर' में इसके विषय में लिखा है—

> मिट्टी जु सूत मंगाय के, मोटी बांटे डोर।
> ऊपर मोम रखाय के, साधै उठ कर भोर॥
> साधै उठकर भोर, डेढ़ बालिश्त की कीजै।
> ताको सीधी करै, हाथ अपने में लीजै॥
> नासारन्ध्र में मेलकर, खींचै अंगुली दोय
> फेरि विलोवन कीजिए नेति कहिये सोय॥

विशेष—सूत्र नेति समाप्त करने के करीब एक घंटे बाद गाय का शुद्ध घी हलका गरम करके दस-दस बूंद दोनों नासिका रन्ध्रों में डालना चाहिए। दिन या रात्रि में विश्राम के समय घृत डालने से अधिक लाभ होता है। इसलिए लगभग डेढ दो घंटे की फुर्सत के समय ही नेति करना अभीष्ट है। जल्दबाजी में नहीं। रात्रि में सोने से एक डेढ़ घंटे पहले करना भी ठीक रहेगा। वैसे इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त समय प्रातः काल (भोर) ही है, यथा सम्भव सूर्योदय से पूर्व।

नेति से लाभ

नेति कर्म से कपाल (सम्पूर्ण शिरः प्रदेश) में स्थित कफादि दोष दूर होकर कपाल का शोधन हो जाता है। इस कर्म से सर्दी से उत्पन्न होने वाला शिरः शूल,

कायमी सर्दी, कान का बहरापन या कर्ण विकार, नासिका के विविध रोग, नासिका की हड्डी बढ़ना, गले, मुख, दांत और जिह्वा गत अन्यान्य विकार दूर होते हैं। इस कर्म से नेत्र विशेषतः प्रभावित होते हैं और दृष्टि क्षीणता आदि विकार दूर होकर नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। शास्त्रों में इसके लाभ के विषय में लिखा है —

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् नेतिराशु निहन्ति च ॥

— हठयोग प्रदीपिका २/३०

अर्थात नेति क्रिया कपाल का शोधन करने वाली और दिव्य-दृष्टि प्रदान करने वाली होती है। यह ऊर्ध्वजत्रुगत (गले से ऊपर सम्पूर्ण मुख मण्डल गत) समस्त रोगों का शीघ्र ही नाश करती है। भक्ति सागर में भी लिखा है—

नाक, कान, अरू दांत को रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवे नैन ही, नित नेति कर सोय॥

जल नेति

लगभग आधा सेर या तीन पाव पानी भरने योग्य कोई ऐसा लोटा या पात्र लिया जाय जिसमें एक ओर रामझारे की भांति लम्बी टोटी लगी हो। टोटी का अग्र भाग ऐसा हो जो नासिका के छिद्र में फिट बैठता हो। करीब तीन पाव पानी लेकर गरम कर लिया जाय, फिर उसे गुनगुना होने तक ठंडा होने दिया जाय। किंचिदुष्ण ठंडा (सम शीतोष्ण) होने पर दाल में नमक की मात्रा के बराबर उसमें सेंधा नमक मिला लिया जाय और वह पानी नेति पात्र में भर लिया जाय।

उपर्युक्त तैयारी के पश्चात् उत्कटासन में बैठ कर सिर को कुछ मोड़ कर इस प्रकार झुकाना चाहिए कि उस ओर के कान का भाग नीचे की ओर हो जाय। अर्थात् जिस नासिका-रन्ध्र से श्वास का आवागमन हो रहा हो या जो स्वर चल रहा हो उस छिद्र को ऊपर की ओर रख कर नेति-पात्र (लोटे) को नीचे से पकड़ कर उस छिद्र में पात्र की टोटी का अग्रभाग लगा कर शनैः शनैः पात्र का पानी प्रवाहित किया जाय। इससे पानी एक रन्ध्र से जाकर दूसरे रन्ध्र से स्वतः निकलने लगेगा। इसी प्रकार दूसरे रन्ध्र से भी यही क्रिया करना चाहिए।

नासिका-रन्ध्र से पानी लेते और निकालते समय मुख को खुला रखना चाहिये और मुख के द्वारा श्वास लेना व छोड़ना चाहिये। नासिका से श्वास लेने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर पानी ऊपर चढ़ने लगेगा और घबड़ा कर नेति छोड़ देना पड़ेगा। यदि श्वास मुख से ही ली जायगी तो नासिका द्वारा नेति क्रिया स्वतः ही होती रहेगी।

जलनेति से लाभ

जल नेति का प्रयोग एवं अभ्यास करने से मस्तिष्क सम्बन्धी समस्त विकार और दोष दूर होते हैं। सभी प्रकार के शिरः शूल का शमन होकर अनिद्रा और अति निद्रा की विकृति दूर होती है। मेधा बुद्धि-स्मृति का विकास होता है और विस्मृति का दोष दूर होता है। बालों का सफेद होना, झड़ना तथा सिर के अन्य विकार दूर होते हैं। नासिका के अनेक विकार इसके निरन्तर अभ्यास से दूर हो जाते हैं। प्रतिश्याय नजला आदि रोग नहीं होते और यदि हुए हों तो दूर हो जाते हैं। नेत्रों के विकारों में इस क्रिया से बड़ा लाभ होता है। आंखों का आना, आँखों का लाल होना, आंखों का दुखना, आंखों में जलन होना, रतौंधी, धुंध, कीचड़ निकलना आदि नेत्र विकार इस क्रिया के प्रयोग से दूर हो जाते हैं और नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। कान से सम्बन्धित अनेक रोग जैसे कान का बहना, कान का दुखना, कम सुनाई पड़ना या बिल्कुल सुनाई नहीं पड़ना आदि विकार दूर हो जाते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में इस क्रिया से होने वाले अनेक लाभ प्रतिपादित किए गए हैं। आचार्य भाव मिश्र लिखते हैं—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं
पिबति खलु नरो यो वामरन्ध्रेण वारि।
सम्भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो
वलितपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः॥ —भावप्रकाश

अर्थात् रात्रि के व्यतीत हो जाने पर प्रातः काल उठकर जो मनुष्य नित्य बाएं नासारन्ध्र से जल पीता है वह पूर्ण बुद्धि वाला, गरुड़ की भाँति तीव्र दृष्टियुक्त, बलित और पलित (बालों का झड़ना और पकना) से रहित तथा समस्त रोगों से मुक्त होता है। उषः वारि पान से होने वाले लाभ निम्न प्रकार से बतलाए गए हैं—

अर्शः शोथग्रहण्यो ज्वरजठरजराकुष्ठमेदोविकाराः।
मूत्राघातास्रपित्तश्रवणगलशिरःश्रोणिशूलाक्षिरोगाः॥
ये चान्ये वातपित्तक्षतजकफकृता व्याधयो: सन्ति जन्तोः।
तांस्तानभ्यासयोगादपहरति पयः पीतमन्ते निशायाः॥

—भावप्रकाश

अर्थात् रात्रि के अन्त में (प्रातः काल) जल पीने (ऊषः पान करने) के सतत अभ्यास के योग से (अर्थात् प्रतिदिन प्रातः काल पानी पीने से) अर्श, शोथ ग्रहणी ज्वर, उदर रोग, बुढ़ापा, कुष्ठ, मेद सम्बन्धी विकार, मूत्राघात, रक्तपित्त, कान, गला, शिर, श्रोणि, का शूल, आंख के रोग तथा अन्य जो वात, पित्त, कफ और क्षत जनित व्याधियां हैं वे सब दूर होती हैं।

दुग्ध नेति—घृतनेति

उत्कटासन में बैठ कर जलनेति के समान ही टोटी वाले पात्र में गाय का ताजा धारोष्ण दूध डालकर मुख को सीधा रखते हुए एक नासारन्ध्र में टोटी का अग्रभाग लगा कर तथा अन्य नासारन्ध्र को अंगूठे या तर्जनी अंगुली से बन्द कर सिर को किंचित् उन्नत कर दूध डालना चाहिए। ऐसा करने से दूध मुख में जाने लगेगा तब धीरे धीरे उसे पीते जाना चाहिये। नेति-पात्र में दूध की मात्रा उतनी ही डाली जाय जितनी पीकर आसानी से पचाई जा सके। पाचन शक्ति से अधिक दुग्ध की मात्रा हानि कारक हो सकती है।

इसी प्रकार घृत नेति का भी विधान है। अपनी पाचन शक्ति की क्षमता के अनुसार गाय का शुद्ध ताजा घी हलका गरम (गुनगुना) कर उपर्युक्त विधि से पीना चाहिये। यह क्रिया दोनों नासिका रन्ध्रों से क्रमशः की जानी चाहिये।

०

३—बस्ति कर्म

मल शोधन की दृष्टि से इस कर्म का विशेष महत्व है। क्योंकि इस कर्म के द्वारा मनुष्य के मलाशय और आँतों में संचित सम्पूर्ण मल का निर्हरण हो कर शरीर की शुद्धि हो जाती है। योगशास्त्र में बस्ति के विषय में लिखा है—

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२६

अर्थात् नाभि प्रमाण जल में उत्कटासन पूर्वक बैठ कर गुदामार्ग में (बाँस की निर्मित छह अंगुल मृदु) नालिका लगाकर आधार (गुदा) का आकुञ्चन करना चाहिये। यह प्रक्षालन करने वाला बस्ति कर्म होता है।

प्रयोग विधि

बस्ति कर्म स्वच्छ और शुद्ध जलाशय में जाकर या किसी बड़े टब या टंकी में स्वच्छ ठंडा पानी भर कर किया जाना चाहिए। इसके लिए बाँस की छह अंगुल लम्बी एक नली जो अधिक मोटी न हो और जिसमें कनिष्ठिका (सब से छोटी) अंगुली जितने आकार का छिद्र हो लेना चाहिये। नली के ऊपर पतले हिस्से को पत्थर पर घिस कर चिकना बना लेना चाहिये ताकि उसका खुरदुरापन न रहे। तत्पश्चात् उस पर घी लगा कर यत्न पूर्वक किसी स्थान पर सुरक्षित रख दिया जाय।

इसके बाद उत्कटासन में (उकडू) बैठ कर मध्यमा अंगुली (अंगुली का नाखून

कटा हुआ हो) में घी लगाकर गणेश क्रिया करना चाहिये। अर्थात् घी लगी हुई मध्यमा अंगुली को गुदा के अन्दर दो-ढाई इंच तक अन्दर डाल कर चारों ओर इस तरह घुमाएं कि अंगुली का घी गुदा में लग जाय। यदि गुदा में उस स्थान पर मल हो तो उसे निकाल कर पानी से अच्छी तरह साफ कर लेना चाहिए। इसके बाद पुनः मध्यमा अंगुली में घी लगा कर उसे गुदा में प्रविष्ट कर स्निग्ध कर देना चाहिये। दो तीन बार ऐसा करने से वह स्थान साफ, मुलायम और चिकना हो जायगा, तब घी लगी हुई बांस की नली के पतले सिरे को गुदा के अन्दर लगभग चार अंगुल तक धीरे धीरे प्रविष्ट कराया जाय।

इतना कर लेने के उपरान्त जलाशय या टब में उत्कटासन बैठ कर दोनों हाथों की कोहनी को घुटनों पर रखे हुए दोनों हाथों की अंगुलियों को आपस में एक दूसरे के पंजे में कस कर बांध कर लेना चाहिये। जलाशय या टब में इस स्थिति में बैठे हुए नौलि कर्म की भाँति नाल को फुलाने से पानी गुदा मार्ग के द्वारा अपने आप ही ऊपर चढ़ने लगेगा। जब तक नाल या नौलि निकाले रहेंगे तब तक पानी बराबर ऊपर आंतों में चढ़ता जायगा। नाल को स्वाभाविक अवस्था में छोड़ते ही पानी बाहर निकलने लगेगा। इससे जलाशय या टब का पानी गन्दा हो जाने का भय रहेगा। अतः पर्याप्त पानी चढ़ जाने के बाद तुरन्त ही हाथ की अंगुली से बांस की नली का मुंह बन्द कर देना चाहिए।

इसके बाद धीरे-धीरे नली को गुदा से बाहर निकाल कर खड़े हो जाना चाहिये तब पानी से बाहर निकल कर नली को सुरक्षित स्थान में रख कर वार वार नौलि को घुमाना चाहिए। ऐसा करने से आंतों में संचित मल पानी के साथ मिल कर मलाशय में एकत्र हो जायगा। इसके बाद शौचालय या उपयुक्त शौच स्थान में बैठ कर मलोत्सर्जन करना चाहिये। तब पानी के साथ सारा मल बाहर निकल जायगा और आंतों व मलाशय की शुद्धि हो जायगी।

इस क्रिया को तीन चार बार करना चाहिये। चौथी बार यह अनुभव होगा कि केवल पानी ही गुदा से निकला है, उसमें मल मिश्रण नहीं है। तब मयूरासन करके शेष बचे हुए पानी, मल, वायु आदि को निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। बस्ति के मध्य और अन्त में मयूरासन न करने से वायु और जल का कुछ अंश अन्दर रह जाने की सम्भावना रहती है, जिससे हानि होना सम्भव है। अतः वस्ति कर्म के अन्त में मयूरासन अवश्य करना चाहिए।

भक्ति सागर में बस्तिकर्म का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

नीर गुदा सों खैंचकरि, थाम्भै उदर मंझार।
कछुक डोल अस बैठकरि, फिर दे ताहि निकार॥

याहि जु बस्ति कर्म है, गुरु बिन पावे नाहिं ।।
लिंग गुदा के रोग जो गर्मी के नशि जाहिं ।।

विशेष— जलाशयों में बस्ति कर्म करते समय सूक्ष्म जन्तुओं से बचने के लिए महीन कपड़ा नली के नीचे लगा लेना चाहिए। अधिक ठंडे पानी वाले जलाशयों में और नली के बिना बस्ति कर्म करने से हानि होने की सम्भावना रहती है। अतः इस प्रकार की सावधानी अपेक्षित है।

उपर्युक्त प्रक्रिया पूर्वक किया गया कर्म जल-बस्ति कर्म कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक शुष्क बस्ति और होती है, जिसमें जल या किसी अन्य द्रव पदार्थ का उपयोग नहीं किया जाता। शुष्क बस्ति के लिए प्रथम उत्कटासन की स्थिति में बैठकर सूर्य नाड़ी संचालित कर आधारचक्र को खोल गुदा के संकोच और विकास के साथ वायु को अन्दर खींच कर उदर को आपूरित कर लेना चाहिये, फिर अधोमार्ग के द्वारा ही वह वायु बाहर निकाल देना चाहिये।

बस्ति क्रिया भोजन से पूर्व करना चाहिए तथा बस्ति के उपरान्त लघु आहार लेना चाहिए।

बस्ति से लाभ

बस्ति कर्म शरीर की स्वास्थ्य रक्षा के लिए तो उपयुक्त है ही, उसके नियमित प्रयोग से अनेक रोगों का नाश होता है, विशेषतः वायु से उत्पन्न होने वाले रोगों का। योग शास्त्र में बस्ति कर्म के निम्न लाभ बतलाए गए हैं—

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्म प्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ।। —हठयोग प्रदीपिका २/२८

अर्थात् बस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहा सम्बन्धी विकार, उदर रोग तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाली समस्त व्याधियां नष्ट हो जाती हैं।

धात्विन्द्रियान्तः करणं प्रसादं दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ।।
—हठयोग प्रदीपिका २/२८

अर्थात् जलबस्ति की क्रिया धातुओं (रस-रक्तादि सप्त धातुओं), इन्द्रियों (चक्षु-घ्रणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा हस्तपाद आदि पांच कर्मेन्द्रियों) और अन्तःकरण (मन-बुद्धि-अहंकार) को प्रसन्नता (निर्मलता) प्रदान करती है। वह कान्ति को बढ़ाने वाली तथा जाठराग्नि को प्रदीप करने वाली होती है तथा वह समस्त दोषों के संचय को नष्ट करती है।

:भक्ति सागर' के अनुसार लिंग एव गुदा में होने वाले सभी रोग और गर्मी के रोग बस्ति कर्म द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यथा—

वह जु वस्ति कर्म है, गुरु बिन पावे नाहिं ।
लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नशि जाहिं ।।

४—त्राटक कर्म

यौगिक षट् कर्म का यह एक महत्व पूर्ण कर्म है । इसके अभ्यास से योगी अपने लक्ष्य साधन के और अधिक निकट पहुंचता है । हठयोग में इसकी विशेष उपयोगिता बतलाई गई है । इस कर्म की सिद्धि हो जाने पर योगी अपने चित्त की एकाग्रता करने में समर्थ हो जाता है जिससे उसके इतस्ततः चलायमान मन की वृत्तियों में स्थिरता आती है । हठयोग में त्राटक कर्म का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/३१

अर्थात् समाहित याने एकाग्र चित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य को अर्थात् लघु पदार्थ को तब तक देखे जब तक अश्रुपात न होवे । आचार्यों द्वारा इसे त्राटक कर्म कहा गया है ।

प्रयोग विधि

त्राटक कर्म में चित्त की एकाग्रता और लक्ष्याभिमुख दृष्टि की निश्चलता ये दो महत्वपूर्ण स्थितियाँ हैं । इनमें से किसी एक के भी बिना त्राटक कर्म की सिद्धि असम्भावित है । त्राटक कर्म में सामान्यतः किसी एकान्त स्थान में पद्मासन या सिद्धासन की स्थिति में बैठ कर लगभग डेढ़ मीटर की दूरी पर स्थित वस्तु विशेष को लक्ष्य या साध्य बनाकर निरन्तर उसी ओर देखा जाता है । निरन्तर (अपलक) देखने की क्रिया तब तक की जाती है जब तक नेत्र से अश्रुपात न होने लगे ।

इस क्रिया के लिए एक फुट लम्बे तथा उतने ही चौड़े एक सफेद कागज के बिल्कुल मध्य में एक अठन्नी या रुपये के बराबर बिल्कुल गोल काले या हरे रंग का बिन्दु बनाकर उसे अपने सामने की दीवार पर टांग देना चाहिए, अथवा किसी ऐसे दीयट (स्टैण्ड) पर या ताक (आला) जिसकी ऊँचाई लगभग ढाई-तीन फुट हो, में घी का एक दीपक जलाकर रख देना चाहिए । जिस स्थान पर दीपक रखा जाय वह स्थान निवात याने वेग युक्त वायु से रहित होना चाहिए । इसके पश्चात् उस कागज या दीपक से लगभग डेड़ मीटर की दूरी पर सिद्धासन या पद्मासन की स्थिति में बैठ कर उस कागज के गोल बिन्दु या दीपक की लौ (ज्योति) को तब तक निरन्तर अपलक

(बिना पलक झपकाए) देखते रहना चाहिए जब तक आंखों में आंसू न आ जावे। आंसू गिरने या टपकने से पूर्व ही आंखों को कस कर बन्द कर लेना चाहिए।

लगभग १५—२० मिनिट तक उसी लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु पर निरन्तर अविचल दृष्टि को स्थिर रखने पर उस पर एक विशेष प्रकाश सा प्रतीत होने लगेगा और उसके चारों ओर भी छोटी छोटी प्रकाश की किरणें दिखाई देने लगेंगी। किन्तु उस समय अपने लक्ष्य या केन्द्र बिन्दु को छोड़ कर केवल प्रकाश को देखने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को ही देखते रहना चाहिए। लक्ष्य को भूल कर या प्रकाश पुञ्ज के प्रलोभन में पड़कर लक्ष्य बिन्दु अथवा दीपक-ज्योति के आस-पास वाले कृत्रिम प्रकाश को देखने लगेंगे तो सारा प्रकाश ही लुप्त हो जायगा। कदाचित् भ्रमवश ऐसा हो जाय तो घबड़ाना नहीं चाहिए। क्षण भर में ही अपने लक्ष्य बिन्दु या दीपक ज्योति पर दृष्टि को केन्द्रित व स्थिर कर देने से पुनः पहले पहले की भांति प्रकाश आ जायेगा। इसकी सिद्धि तब होती है जबकि जिस दिशा में दृष्टि जमा कर अवस्थित हों तथा उस दिशा में प्रकाश ही प्रकाश दिखलाई पड़े, अन्य कोई वस्तु जैसे कागज, बिन्दु, दीपक, ज्योति आदि कुछ भी दिखलाई न पड़े। इसे ही त्राटक कर्म कहते हैं। इस त्राटक कर्म की पूर्णता इसी में है कि सामने का सम्पूर्ण प्रकाश अपने हृदय के मध्य ले आया जाय, यह विषय मात्र गुरूपदेशगम्य है और इसके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ साधना या अभ्यास की आवश्यकता होती है।

त्राटक कर्म के भेद

उपनिषद् में त्राटक कर्म के तीन भेद बतलाए गए हैं—बाह्य, मध्य और अन्तः। दूरस्थ प्रकाशित किसी बाह्य लक्ष्य पर दृष्टि को स्थिर रखना बाह्य त्राटक कर्म कहलाता है। वात प्रकृति वालों के लिये यह विशेषतः अनुकूल है। समीपस्थ किसी बिन्दु, देव मूर्ति, देवता का चित्र, दीपक की अचल ज्योति, नासिका का अग्रभाग या भ्रू मध्य में खुली आंखों से एकाग्रता करने की क्रिया मध्य त्राटक-कर्म कहलाती है। यह क्रिया श्लेष्म प्रकृति वाले और सम प्रकृति (वात-पित्त-कफ तीनों दोषों की समानता) वाले व्यक्ति के लिए अनुकूल है। दोनों नेत्र बन्द करके चक्षुवृत्ति की भावना हृदय या भ्रू मध्य में एकाग्र करना अन्तः त्राटक कर्म है। यह क्रिया ध्यान की भांति होती है। चक्षु विकार, मस्तिष्क, आंख, नाक और हृदय में दाह वाले और पित्त की प्रधानता वाले साधकों के लिए यह क्रिया विशेष उपयोगी एवं हितकारी है।

त्राटक कर्म का अभ्यास करने वाले साधक को भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग, वाष्प, अन्धकार, प्रकाश, विविध आकृतियों आदि का दिग्दर्शन होता है। अन्त में, जो

लक्ष्य निर्धारित किया जाता है वह आँख बन्द करके देखने से भ्रूमध्य में प्रत्यक्ष होकर थोड़ी देर स्थिर रहे अथवा दीवार आदि समतल प्रदेश में नेत्र द्वारा निकली अन्तःकरण की वृत्ति बढ़ते ही ध्येय दृष्टिगोचर होकर स्थित रहे तब जान लेना चाहिए कि त्राटक कर्म के अभ्यास में सिद्धि प्राप्त हो गई है।

विशेष—त्राटक कर्म का अभ्यास धीरे धीरे एक घंटे तक किया जा सकता है। भ्रूमध्य में त्राटक कर्म करने से दर्द होने की सम्भावना रहती है, किंतु थोड़े अभ्यास के पश्चात् दृष्टि में स्थिरता आ जाती है। आरम्भ में चूँकि अभ्यास नहीं होने से पलक झपकने की सम्भावना रहती है, अतः प्रयत्नपूर्वक नेत्र को खुला रखने की कोशिश करना चाहिए। प्रयत्न ऐसा हो कि कपाल के किनारे नाड़ियों में तनाव उत्पन्न नहीं होने पावे।

आँखों में आंसू आने के बाद पुनः उसी दिन त्राटक कर्म नहीं करना चाहिए। त्राटक कर्म दिन में केवल एक बार प्रातः काल ही करना चाहिये। ध्यान के लिए सब से अधिक उपयुक्त समय ब्राह्म मूहूर्त होता है, इस क्रिया के लिए भी यही समय सर्वाधिक श्रेष्ठ है। साधक को अभ्यास काल में पूर्णतः शम-दम का पालन करना चाहिए। दही, मिर्च, तेल इमली आदि द्रव्यों का सेवन सर्वथा वर्जित है।

अत्यधिक रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति के लिए इस क्रिया का निषेध किया गया है। व्यसनी पुरुषों को भी यह क्रिया नहीं करना चाहिए।

लाभ

त्राटक कर्म का निरन्तर अभ्यास करने से चित्तवृत्ति सूक्ष्म और अपने लक्ष्य में स्थिर होती है। अतः अन्तः बाह्य समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध और मन को एकाग्र करने के लिए यह अपूर्व साधन है। इसके द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। इस कर्म के सिद्ध होते ही साधक सिद्ध संकल्प वाला हो जाता है। उसमें दूसरों के हृदयगत भावों को जानने की अद्भुत शक्ति का विकास हो जाता है जिससे वह विशिष्ट प्रज्ञा के द्वारा दूरस्थ पदार्थों व घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

नियोजित रूप से त्राटक कर्म करने से नेत्र सम्बन्धी समस्त विकार निर्मूल हो जाते हैं। नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, आलस्य और तन्द्रा का नाश होता है। धी-धृति-स्मृति आदि विभिन्न भावों एवं मस्तिष्क की शक्ति का विकास होता है और बुद्धि में जागरूकता आती है।

—०—

५–नौलिकर्म

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यत: ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलि: सिद्धै: प्रचक्षते ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/३३

अर्थात् झुकाए है कंधे जिसने (नतांस:) ऐसा मनुष्य अत्यन्त तीव्र आवर्त (पानी की भौंर) के वेग से दाहिनी और बाईं ओर से अपने उदर को घुमावे। सिद्धों (योगियों) के द्वारा यह नौलि कहलाती है।

प्रयोग विधि

प्रथम स्वस्तिकासन या पद्मासन में बैठकर रीढ को थोड़ा आगे झुकाकर रीढ़ का आकार धनुष की भांति कर लेना चाहिए। दोनों हाथों के पंजों को घुटनों पर रखकर वक्षःस्थल को विकसित रखना चाहिए। तत्पश्चात् श्वास को दोनों नासापुट द्वारा बाहर निकालकर उड्डियान बंध करके हाथ से घुटनों के ऊपरी भाग पर भार देकर पेड़ू में ठीक मध्य की हड्डी (प्यूबिक बोन-विटपास्थि) और नल का मध्य स्नायु को नीचे की ओर आगे गति देना चाहिए। ऐसा करने से वह स्नायु संकुचित होगा और दूसरे स्नायु से अलग प्रतीत होगा। तत्पश्चात् गुरु द्वारा उपदेशित युक्ति से जठर को पानी की भौंर की भांति दाएँ बाएँ फिराना चाहिए। यही नौलि क्रिया कहलाती है। यह क्रिया खड़े होकर भी उड्डियान बंध की भाँति की जा सकती है।

भक्तिसागर में इस क्रिया का विवेचन निम्न प्रकार से किया गया है—

नौलिकर्म पद्मासनों करे, दोनों कर घुटनों पर धरें।
पेटरु पीठ बराबर होय, दाहिने बाएँ नले बिलोय।।

शास्त्रों में यद्यपि इस क्रिया के भेद या प्रकार नहीं बतलाए गए हैं, किन्तु क्रियाभेद से इसे तीन प्रकार का माना जा सकता है। यथा-मध्य नौलि, दक्षिण नौलि और वामनौलि। इनकी क्रिया विधि निम्न प्रकार समझना चाहिए—

मध्यनौलि

इस क्रिया के लिए दोनों पैरों के बीच एक फुट का अन्तर रखते हुए दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखकर खड़े होना चाहिये। 'रेचक' कर के याने श्वास को पूर्णतः बाहर निकालकर 'बाह्य कुम्भक' की स्थिति में अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया को रोके हुए पेट को पूर्णतः पिचका लेना चाहिए। फिर दोनों हाथों पर जोर देते हुए

पेट को थोड़ ढीला करने के साथ ही साथ छाती की ओर कुछ खिचाव देते हुए पेट के बीच का नल आगे को निकालना या फुलाना चाहिए। यह क्रिया करते समय पेट की ओर देखना भी चाहिए कि वस्तुतः नल निकलता है या नहीं। यदि नहीं निकले तो घबड़ाना नहीं चाहिए। प्रतिदिन पांच-दस मिनिट के अभ्यास से निकलने लगेगा और यह क्रिया आसन हो जायेगी।

वाम और दक्षिण नौलि

नल निकलने की स्थिति में बाएं हाथ पर जोर देने से दाहिनी नौलि बाहर निकलेगी और दाहिने हाथ पर जोर देने से बाईं नौलि बहार निकलेगी।

इतना कर लेने के बाद याने वाम और दक्षिण नौलि को साध लेने के बाद नौलि को घुमाना या चक्कर देना भी आसान हो जाता है। तब नौलियों को अतिवेग पूर्वक ३॥ चक्कर बाएं से और ३॥ चक्कर दाएं से बराबर घुमना चाहिए। यही सम्पूर्ण नौलि कर्म है, जिसके विषय में ऊपर बतलाया जा चुका है।

नौलि क्रिया से लाभ

नौलि क्रिया के निरन्तर अभ्यास से अनेक लाभ होते हैं। नौलि क्रिया मुख्य रूप से सम्पूर्ण जठर (उदर) प्रदेश को प्रभावित करती है जिससे जठर प्रदेश में स्थित समस्त अन्तः अवयवों की क्रिया प्रभावित होती है जिसका अनुकूल प्रभाव शरीर पर पड़ता है। योग शास्त्र में नौलिक्रिया से होने वाले निम्न लाभ बतलाए गए हैं :—

मन्दाग्नि संदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३४

अर्थात् हठक्रिया में सर्वोत्तम यह नौलिक्रिया मन्दाग्नि को दूर कर अग्नि का संदीपन करने वाली, पाचनादि क्रियाओं को करने वाली, सदैव आनन्द देने वाली, सभी दोषों और सभी रोगों को दूर करने वाली है।

'भक्तिसागर' के अनुसार—

मल पेट में रहन न पावे, अपानवायु तासो बश आवे।
जो गुरू करके ताहि दिखावें, न्यौलिकर्म सुगम कर पावे॥

विशेष—कुछ विद्वानों, योगाभ्यासियों एवं अनुभवी महात्माओं के मतानुसार धौति और बस्ति कर्म नौलक्रिया के बिना होना सम्भव नहीं हैं। कुंजल, शंख प्रक्षालन आदि कर्म भी नौलि के बिना अपूर्ण रह जाते हैं। वज्रौलि तो नौलि के सम्यक् अभ्यास के बिना ठीक तरह से होना कतई सम्भव नहीं है।

इस नौलि क्रिया के द्वारा आंतों में चिपका हुआ मल उखड़ कर दूर हो जाता है, जिससे कब्ज की शिकायत मिट जाती है और मन्दाग्नि दूर होकर पाचन क्रिया सम्यक्तया सम्पादित होने लगती है। यकृत्, प्लीहा और क्लोम की विकृतियां दूर होकर गुल्म (वायु-गोला) और शूल का शमन हो जाता है। अपानवायु वशीभूत हो जाती है और उदर सम्बन्धी सभी विकार दूर हो जाते हैं, जिससे योगाभ्यासी को आरोग्य एवं अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।

योगाभ्यासी की कुण्डलिनी के उत्थान में भी यह क्रिया सहायक है। मयूरासन और पश्चिमोत्तानासन सिद्ध करके आरम्भ में आठ दिन तक यदि पत्थरचटा की साग खाई जाय तथा घी-तेल आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन न हो किया जाय तो नल जल्दी छूटकर यह क्रिया सुगम हो जाती है।

आंतों मे क्षत या सूजन होने पर यह क्रिया निषिद्ध है।

—०—

६—कपालभाति कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३५

अर्थात् लोहार की भस्त्रा के समान संभ्रम से याने एक बार रेचक पूरक प्राणायाम को करना 'कपालभाति' कहलाता है। यह क्रिया कफ दोष का शोषण करने वाली है।

क्रियाविधि

सर्व प्रथम पद्मासन में बैठकर दाहिने हाथ की अनामिका और मध्यमा अंगुलि से नासिका के बाएं छिद्र को तथा अंगूठे से दाहिने स्वर को बन्द करना चाहिए। अब अंगूठा हटा कर बाएं स्वर को बन्द किये हुए ही दाहिने स्वर से यथासाध्य बलपूर्वक 'रेचक' प्राणायाम करना चाहिए। याने श्वास को सम्पूर्णतः बाहर निकाल देना चाहिए। फिर तत्काल दाहिने स्वर से 'पूरक' प्राणायाम करके याने श्वास को अन्दर खींच कर अंगूठे से दाहिना नासिका छिद्र दबा कर बन्द कर देना चाहिए। अंगूठे से दाहिना स्वर बन्द करके दोनों अंगुलियां हटाकर बाएं छिद्र से 'रेचक' करना चाहिए और उसी से पुनः तत्काल 'पूरक' करना चाहिए। इसके बाद दाएं छिद्र से 'रेचक' व 'पूरक' करना चाहिए। इस प्रकार दोनों छिद्रों से बारी बारी से यह क्रिया अनेक बार की जानी चाहिए। इसे करते समय रेचक के साथ पेट को पिचकाना और पूरक के साथ पेट को फुलाना आवश्यक है।

लाभ

इस क्रिया से अनेक लाभ होते हैं। शास्त्रीय वचनों के अनुसार इस क्रिया को निरन्तर करने से कफ दोष का शोषण होता है। आयुर्वेद के अनुसार कफ से उत्पन्न होने वाले रोगों की संख्या बीस है—"कफ रोगाश्च विंशतिः" इसका तात्पर्य यह हुआ कि कपाल भाति क्रिया के द्वारा बीस प्रकार के कफज रोगों का नाश होता है।

प्रतिश्याय (जुकाम) होने की स्थिति में जब श्वास नलिकाओं से प्रभूत मात्रा में श्लेष्मा का स्राव होता है तथा सूत्र नेति और धौति क्रिया से अभीष्ट लाभ नहीं होता है तब यह क्रिया (कपालभाति) बहुत ही लाभदायक होती है। इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करने से फुफ्फुस (फेफड़ों) में जमा हुआ कफ पिघल कर पसीने के द्वारा तथा श्वासनलिकाओं के द्वारा बाहर निकल जाता है। इससे फेफड़े शुद्ध हो जाते हैं और श्वास उच्छ्वास के समय उनका पर्याप्त विकास व संकोच होता है। कफ का शमन होने से मस्तिष्क और आमाशय भी स्वस्थ हो जाते हैं जिससे उनकी स्वाभाविक क्रिया निर्बाध हो जाती है। परिणामतः पाचन शक्ति ठीक हो जाती है, तथा श्वास कास आदि रोग निर्मूल हो जाते हैं। रक्त शुद्ध होता है और मुख पर कान्ति आ जाती है। कफ रहित शुद्ध हुई सुषुम्ना एवं अन्य नाड़ियां प्राकृतिक रूप में गतिशील हो जाती हैं। इससे योगाभ्यासी को मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।

आरम्भिक क्रम में प्रतिदिन २५ बार यह क्रिया की जानी चाहिए। योग्य गुरु के संरक्षण में यह क्रिया करने से यथेष्ट लाभ होता है।

निषेध

अति प्रमाण में यह क्रिया वर्जित है। अति प्रमाण में यह क्रिया करने से फेफड़ों की शिथिलता और जीवन शक्ति का ह्रास सम्भावित है। अधिक जोर से श्वासोच्छ्वास करने से नाड़ियों में आघात पहुंचना सम्भव है।

उरःक्षत, हृदय की निर्बलता, पीलिया, पाडुरोग, हिक्का, ज्वर, निद्रानाश, उर्ध्वंग रक्तपित्त तथा पित्त सम्बन्धी अन्य विकारों में यह क्रिया निषिद्ध है। यात्रा काल, वर्षाकाल, अतिशीतल वायु, वेगवान वायु (आंधी), आतप आदि में भी यह क्रिया नहीं करना चाहिए।

उपर्युक्त षट्कर्म का प्रयोजन

प्राणायाम की सिद्धि के लिए उपर्युक्त षट्कर्म का अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसके शरीर में मेद (चरबी) की अधिकता और श्लेष्मा की वृद्धि हो उसे प्राणायाम की सिद्धि के लिए षट्कर्म का नियमित अभ्यास अवश्य करना चाहिये।

जिसके शरीर में त्रिदोष (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उसे नेत्र-धौति आदि करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी वसन्त ऋतु और कफ प्रकोप के समय अभ्यास किया जा सकता है। योग्य गुरु के उपदेश का अनुसरण करते हुए उनके मार्ग निर्देशन में यथावश्यक रूप से हर ऋतु में षट्कर्म का अभ्यास किया जा सकता है। हठयोग में शरीर की शुद्धि का प्रथम सोपान रूप यह षट्कर्म शरीर को शुद्ध, स्वस्थ एवं हल्का बनाकर मन को निर्मल, स्वच्छ और प्रसन्न बनाता है। यह षट् कर्म शारीरिक और मानसिक स्वस्थता की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी एवं हितावह है।

आचार्यों का अभिमत है कि धौति आदि षट्कर्मों के प्रयोग एवं निरन्तर अभ्यास से शरीर के श्लेष्मा जन्य विकार, मेद तथा अन्य मलों का पूर्णतः संशोधन हो जाता है जिससे शरीर की स्थूलता दूर होती है। अतः इन षट्कर्म के पश्चात् यदि प्राणायाम किया जाय तो अनायास ही उसकी सिद्धि हो जाती है। आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र लिखते हैं—

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/३६

यद्यपि याज्ञवल्क्य आदि कतिपय आचार्यों का यह भी अभिमत है कि प्राणायाम के द्वारा ही सभी मल शुष्क हो जाते हैं तथा स्थूलता आदि विकारों का नाश हो जाता है। अतः षट्कर्म करने की आवश्यकता नहीं है। यथा—

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मलाः इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/३६

तथापि यदि प्राणायाम करने के पूर्व षट्कर्मों का अभ्यास करके शरीर का शोधन कर लिया जाता है। उसके उपरान्त यदि प्राणायाम किया किया जाय तो वह अधिक श्रमसाध्य नहीं होगा। जबकि बिना षट्कर्मों के यदि प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि हेतु अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। अतः षड्कर्मों की उपयोगिता असन्दिग्ध है। योगाभ्यासी को इन षट्कर्म का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

—०—

योगाङ्ग विवेचन ४--प्राणायाम

योगशास्त्र के अनुसार प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है। महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग में यम, नियम और आसन के पश्चात् प्राणायाम का परिगणन किया है। यम और नियम का सम्यक्तया परिपालन तथा आसनों का भली भांति अभ्यास करके इन्द्रियों की बाह्य प्रवृत्ति और मन की चञ्चलता का निरोध कर शांत चित्त पूर्वक नियमानुसार पथ्य, हितकारी और सम प्रमाणयुक्त आहार लेते हुए कृताभ्यासी सुयोग्य गुरु के सान्निध्य में प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम की उपयोगिता केवल योगीजनों के लिए ही नहीं है, अपितु सामान्य व्यक्तियों के लिए भी यह अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक है। योगियों के लिए प्राणाथाय का अभ्यास जहाँ साधना का मार्ग प्रशस्त कर उन्हें ईश्वर प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है वहां जन सामान्य के लिए प्राणायाम का अभ्यास शारीरिक व मानसिक आरोग्य एवं दीर्घायुष्य प्रदान करता है। प्राणायाम की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य अपने सम्पूर्ण आयुष्य का उपभोग निराबाध रूप से कर सकता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राणायाम के मूलभूत तत्त्व और उसकी प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझें तथा तदनुसार ही उसके प्रयोग व अभ्यास को गति दें।

यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राणायाम एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है ओ मानव जीवन को आध्यात्मिक मार्ग के द्वारा शाश्वत सुख की ओर ले जाती है। आयुर्वेद की दृष्टि से भी इस प्रक्रिया का अत्यधिक महत्त्व है। क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र का मूल प्रयो-जन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर मनुष्य के विकार का उपशमन करना है। प्राणायाम के द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा तो होती ही है, उसके शरीरगत विभिन्न विकारों का उपशमन भी होता है। दोषों की समस्थिति, धातु और मलों की सम क्रिया, जठराग्नि की दीप्ति, इन्द्रियों के विकारों की निवृत्ति, मनोविकारों का उपशमन, मन की चञ्चल वृत्ति का निरोध तथा आत्मा की निर्मलता भी प्राणायाम के द्वारा होती है। ये सब आयुर्वेद से सम्बन्धित विषय हैं। अतः आयुर्वेद के लक्ष्य साधन में प्राणायाम भी एक महत्वपूर्ण साधन है। यद्यपि प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य आध्या-त्मिक साधना का मार्ग प्रशस्त करना है, तथापि शारीरिक स्वास्थ्य एवं मानसिक

आरोग्य उसके द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अतः आयुर्वेद दृष्टि से भी प्राणायाम मनुष्य के लिए उपादेय है।

भारतीय संस्कृति और हमारे धर्मशास्त्र के अनुसार संसार में प्रत्येक प्राणी के द्वारा विहित अपने शुभाशुभ कर्म के आधार पर उसके आयुष्य की कालावधि निश्चित होती है। योगशास्त्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है— "संसार में प्रत्येक प्राणि को अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार एक जन्म में जो सुख-दुःख भोगना पड़ता है, उसके लिए एक नियत अवधि तक उसे जीवन (आयु) प्राप्त होता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त की कालावधि 'जीवन' या 'आयु' कहलाती है। इस कालावधि या जीवन यापन के लिए प्रत्येक प्राणि को 'श्वासोच्छ्वास' प्राप्त होता है। श्वासोच्छ्वास या जीवन यापन की इसी कालावधि को लौकिक भाषा में 'आयु' की संज्ञा दी गई है। अपने अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार किसी को ५० लाख, किसी को एक करोड़, किसी को दस करोड़, किसी को बीस, तीस या चालीस करोड़ या इससे भी अधिक श्वासोच्छ्वास लेने की शक्ति प्राप्त होती है। सभी प्राणि अपना निश्चित श्वासोच्छ्वास पूर्ण होते ही अपने उस जन्म से मुक्ति पा जाते हैं। अनेक प्राणियों की श्वासोच्छ्वास शक्ति अस्वस्थता, दीर्घकालीन रोग ग्रस्तता असंयमित जीवन यापन, इन्द्रिय लोलुपता, मानसिक विकृति आदि के कारण समय से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में असमय में ही उसे काल का ग्रास बनना पड़ता है। किन्तु प्राणायाम की वैज्ञानिक प्रक्रिया के सतत अभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने श्वासोच्छ्वास की गति का नियमन कर सुदीर्घ काल तक अपनी सम्पूर्ण आयु का निरोग रहते हुए निराबाध रूप से उपभोग कर सकता है। वस्तुतः श्वासोच्छ्वास का नियन्त्रण ही सुदीर्घ आयु और स्वस्थ जीवन का आधार है। योगशास्त्र के अनुसार प्राणायाम वह हेतुभूत प्रक्रिया है जो श्वासोच्छ्वास नियमन रूपी कार्य या परिणाम को जन्म देती है और जिससे निरोग दीर्घायुष्य रूप फल की प्राप्ति होती है।

प्राणायाम का लक्षण या परिभाषा

श्वासोच्छ्वास मनुष्य की एक जन्मजात स्वाभाविक प्रक्रिया है। यदि सामान्य अवस्था में इस प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हो जाता है या किसी कारणवश श्वासोच्छ्वास की क्रिया बन्द हो जाती है तो तत्काल ही मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है, किन्तु प्राणायाम की पद्धति इसके ठीक विपरीत है। अर्थात् श्वास प्रश्वास की गति को प्रयत्न और अभ्यास पूर्वक रोक लेना ही प्राणायाम का सामान्य लक्षण है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी प्राणायाम का इसी प्रकार का लक्षण प्रतिपादित किया है–

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।"

—योग दर्शन २/४९

अर्थात् उस आसन की सिद्धि होने पर श्वास और प्रश्वास की गति का अवरुद्ध हो जाना ही प्राणायाम है।

शरीर में नासा मार्ग के द्वारा जो प्राणवायु ग्रहण की जाती है वह **'श्वास'** कहलाती है और जो वायु नासारन्ध्रों से बाहर निकाली जाती है उसे **'प्रश्वास'** या **'उच्छ्वास'** कहते हैं। ग्रहण की गई शुद्ध प्राण वायु शरीर के लिए उपयोगी एवं हित-कर होती है, जबकि बाहर निकाली गई वायु शरीर के लिए अहितकर एवं अग्राह्य होती है। स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी सामान्य नियमानुसार मनुष्य को अपना निवास, आहार-विहार तथा सभी दैनिक कार्य शुद्ध व स्वच्छ वातावरण में ही करना चाहिए। शुद्ध वायु का सदैव शरीर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। अतः रात्रि को खुली हवा में शयन करना स्वास्थ्य के लिए उपयोगी एवं हितकर माना गया है।

श्री ब्रह्मानन्द के अनुसार भी प्राणवायु का निरोध करना **'प्राणायाम'** कहलाता है। यथा—"प्राणस्य शरीरान्तः संचारि यो आयमनं निरोधनमायामः प्राणायामः।"

गोरक्षनाथ के द्वारा प्राणायाम का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया गया है—**"प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति।"** अर्थात् अपनी देह के जीवन की अवस्था का नाम प्राण है और उस अवस्था के अवरोध को आयाम कहते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीवन की अवस्था के अवरोध का नाम प्राणायाम है।

भिन्न भिन्न शास्त्रों में विभिन्न स्थलों पर प्रयुक्त **'प्राण'** शब्द भिन्न भिन्न अर्थ का द्योतक है, तथापि 'योगसूत्र' में महर्षि पतञ्जलि ने प्राण शब्द का प्रयोग श्वास के अर्थ में किया है जो प्राण का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है। 'प्राण का आयाम' अर्थात् उच्छ्वसित या निःश्वसित वायु को वहीं रोककर उसके अन्तराल वा समय में वृद्धि करना। कुछ विद्वानों के अनुसार प्राणों में विराम अर्थात् श्वास को यथास्थान रोक लेना ही प्राणायाम है।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राणवायु ही मानव जीवन का मूल आधार है। उसी के द्वारा शरीर की सम्पूर्ण क्रियाएं सम्पादित होती हैं। श्री गोरक्षनाथ जी ने प्राण शब्द का अर्थ जो **"स्वदेहजीवायु"** किया है वह यथार्थ है और जीवन की आधार भूत **'प्राणवायु'** की ओर ही संकेत करता है। क्योंकि शरीर में जहां जहां भी जीवन वाहक के रूप में प्राण सन्निहित है वहां **'प्राणवायु'** ही उस प्राण का मूल आधार है।

इस प्रकार प्राणायाम एक ऐसी क्रिया विशेष है जिसमें 'प्राण' का अवरोध पूर्वक समस्त बाह्य-आभ्यन्तर शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को नियन्त्रित किया

जाता है। क्योंकि "**सर्वा हि चेष्टा वातेन**" के अनुसार शरीर की सम्पूर्ण अन्त: और बाह्य क्रियाएं प्राणवायु के द्वारा ही नियन्त्रित रहती हैं।

प्राणायाम में प्राण का महत्व

ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि प्राणायाम में 'प्राण' ही वह महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है जिस पर सम्पूर्ण प्राणायाम आधारित है। क्योंकि प्राणायाम के द्वारा 'प्राण' का अवरोध पूर्वक ही शारीरिक एवं मानसिक अन्यान्य चेष्टाओं को नियन्त्रित किया जाता है। अत: यह आवश्यक है कि प्राण के विषय में योगशास्त्र सम्मत व्यवहार्य अर्थ का निर्धारण किया जाय। योगशास्त्र की दृष्टि से 'प्राण' क्या है तथा इतर शास्त्रों में उसका क्या अर्थ लिया गया है उसका भी यहां विवेचन समीचीन प्रतीति होता है।

योगशास्त्र की दृष्टि से शरीर में व्याप्त वायु मात्र ही प्राण है। अर्थात् वायु के लिए प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है। हम सामान्यत: नासिका के बाएं और दाहिने छिद्र (मार्ग) से श्वासोच्छ्वास की क्रिया करते हैं। यह क्रिया दो भिन्न मार्गों के द्वारा सम्पन्न होती है। दाहिने नथुने का प्राण-प्रवाह '**सूर्यनाड़ी**' और बाएं नथुने का प्राण-प्रवाह '**चन्द्रनाड़ी**' के नाम से जाना जाता है। ये दोनों प्राण-प्रवाह जब अन्दर जाकर परस्पर संयुक्त हो जाते हैं तो दोनों के संयोग से जो तीसरा प्राण-प्रवाह निर्मित होता है और दोनों नथुनों से प्रवाहित होता है उसे '**सुषुम्ना नाड़ी**' की संज्ञा दी गई है।

हमारे सम्पूर्ण शरीर में जो प्राण अर्थात् वायु स्थित है और अपने प्राकृत कर्मों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का अनुग्रह करता है। वह पांच प्रकार का होता है। शरीर में उसके नाम और स्थान निम्न प्रकार हैं—

१. **प्राण**—यह हृदय प्रदेश में रहता है और मानव जीवन का आधार है।
२. **अपान**—यह नाभि के नीचे उदर प्रदेश के अधोभाग में स्थित रहता है।
३. **समान**—यह उदर के मध्य भाग में स्थित रहता है।
४. **उदान**—यह कण्ठ प्रदेश तथा उर्ध्व जत्रुगत भाग में स्थित रहता है।
५. **व्यान**—यह सम्पूर्ण शरीर चारी है।

आयुर्वेद के अनुसार भी शरीर में वायु का विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है। प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान ये वायु के ही पांच भेद बतलाए गए हैं तथा आयुर्वेद शास्त्र में उनके पृथक्-पृथक् कर्म एवं स्थान प्रतिपादित किए गए हैं। शरीरगत समस्त भावों में वायु की प्रधानता है यह महर्षि चरक के निम्न वचन द्वारा सुस्पष्ट है—

"**वायुस्तन्त्रयन्त्रधर: प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चाव-**

धानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्त्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः।"

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १२/७

अर्थात् वायु तन्त्र (शरीर) और यन्त्र (शरीरावयवों) को धारण करने वाला, प्राण—उदान—समान—व्यान—अपान इन पांच प्रकारों वाला, ऊँची और नीची सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं का प्रवर्तक, मन का नियन्त्रण और प्रेरण करने वाला, सभी इन्द्रयों को अपने अपने विषय को ग्रहण करने में प्रवृत्त कराने वाला, सभी इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) को स्वयं ग्रहण कर इन्द्रियों तक ले जाने वाला, शरीर की समस्त धातुओं का व्यूह करने वाला (स्वस्थान में नियत मात्रा में स्थिर करने वाला) शरीर का सन्धान करने (गर्भावस्था में अस्थि और पेशियों को यथास्थान जोड़ने) वाला है। वाणी का प्रवर्तक, स्पर्श और शब्द की प्रकृति, श्रोत्र और स्पर्शनेन्द्रिय का मूल, हर्ष और उत्साह की योनि, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, विकृत दोषों का शोषण करने वाला, स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि मलों को बाहर निकालने वाला, स्थूल या अणु स्रोतों का भेदन करने वाला, गर्भ की भिन्न-भिन्न आकृतियों का कर्त्ता है। इस प्रकार अकुपित (प्राकृत) वायु, आयु (जीवन) का अनुवृत्ति (निर्वाह में सहायक) है।

अथर्ववेद में वायु को ही 'प्राण' माना गया है। यथा—

प्राणमाहुर्मातरिश्वनं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूत भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

—प्राण को मातरिश्वा कहते हैं, वायु ही प्राण कहलाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्राण में ही अधिष्ठित है।

शरीर प्राण में का महत्व निम्न प्रकार बतलाय गया है—

"यावधस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायु:॥"

—कौषीतकी उपनिषद्

—जब तक शरीर में प्राण अवस्थित है तब तक जीवन होता है।

इसी प्रकार शरीर में प्राण की स्थिति स्पष्ट करते हुए वायु रूप में उसका संचार निम्न उद्धरण द्वारा प्रतिपादित है—

येन जीवति जीवोऽयं निर्जीवो यं बिना भवेत्।
स प्राण इति विख्यातो वायुः क्षेत्रचरः परः॥

—शार्ङ्गधर पद्धति

—जिससे यह प्राणी जीवित रहता है और जिसके बिना यह निर्जीव हो जाता है वह 'प्राण' कहलाता है। शरीर में विचरण करने वालों में यह 'प्राणवायु' सर्वश्रेष्ठ हैं।

प्राण की महत्ता के प्रतिपादन के सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् के निम्न उद्धरण विशेष महत्वपूर्ण एवं उपयोगी हैं—

"प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"

प्राण से ही संसार के ये सारे प्राणि उत्पन्न होते हैं, जीवित रहते हैं और प्राण में ही जाकर विलीन हो जाते हैं।

प्राणं देवा अनुप्रणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये।
प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥

—प्राण के अनुयायी होकर देव, मनुष्य और पशु-पक्षी प्राणन करते (जीवित रहते) हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु (जीवन) है। इसलिए वह 'सर्वायुष' (आयु प्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ) कहलाता है।

सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये ब्रह्मोपासते।
प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते॥

जो प्राण की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं वे पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। प्राण ही प्राणियों का जीवन है। इसलिए यह 'सर्वायुष' कहलाता है।

उपर्युक्त विभिन्न उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मानव शरीर में जीवन का आधार एकमात्र 'प्राण' है। वह प्राण शरीर में वायु या प्राणवायु से अतिरिक्त नहीं है। इसीलिए योग शास्त्र में प्राणायाम के अन्तर्गत वायु के निरोध का निर्देश किया गया है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/३

शरीर में जब तक वायु अवस्थित रहती है तब तक ही 'जीवन' कहलाता है। शरीर से वायु का बाहर निकल जाना 'मरण' कहलाता है। अतः उस वायु का निरोध करना चाहिए।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/२

—वायु के चलायमान रहने पर चित्त (मन) भी चलायमान रहता है। वायु के निश्चल हो जाने पर मन भी निश्चल हो जाता है और योगी स्थाणुत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् ठूंठ की भांति निश्चल या स्थिर देह वाला हो जाता है। अतः वायु का निरोध करना चाहिए।

प्राणायाम का अर्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य ब्रह्मानन्द जी लिखते हैं—

"प्राणस्य शरीरान्तः संचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः।"

प्राण अर्थात् शरीर के अन्दर संचरित वायु का आयमन अर्थात् निरोध करना ही **'प्राणायाम'** कहलाता है।

यहां पर भी प्राण शब्द से वायु का ही ग्रहण किया गया है। ऊपर जिस प्रकार **'प्राण'** को आयु या जीवन् कहा गया है। उसी प्रकार अन्यत्र वायु को ही जीवन प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥

—वायु जीवन है, वायु बल है, वायु प्राणियों के शरीर को धारण करने वाला है, वायु यह सम्पूर्ण विश्व है और वायु ही सबका प्रभु कहा गया है।

वायुरेव महाभूतं वदन्तु निखिला जनाः।
आयुरेवैव भूतानामिति मन्यामहे वयम्॥

—जगन्नाथ पण्डित

—वायु को लोग (पंचमहाभूतों में से एक) महाभूत भले ही कहें, हम तो उसे सभी भूतों (प्राणियों) का जीवन या प्राण मानते हैं।

रामायण में भी इसी प्रकार वायु को प्राण निरूपित करते हुए उसका महत्व प्रतिपादित किया गया है—

शरीरं हि बिना वायुः समतां याति दारुभिः।
वायुः प्राणः सुखं वायुर्वायुः सर्वमिदं जगत्॥

—वायु के बिना यह शरीर लकड़ियों के समान (निर्जीव या अचेतन) हो जाता है। इसलिए वायु ही शरीर का प्राण है, वायु ही सुख (स्वास्थ्य) है और वायु ही यह सारा विश्व है।

इस प्रकार इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि शरीर में प्राण की स्थिति वायु से अतिरिक्त नहीं है और प्राणवायु में जिस प्राण का आयमन याने निरोध किया जाता है वह वस्तुतः वायु का ही निरोध होता है। प्राणायाम में प्राण ही वह मुख्य वस्तु है जिस पर प्राणायाम का सारा आधार विद्यमान है।

प्राणायाम में 'त्रिबंध' का उपयोग

हठयोग के अनुसार प्राणायाम की क्रियाविधि में तीन प्रकार के बंधों का प्रयोग किया जाता है। इन बंधों के प्रयोग से प्राणायाम के अभ्यास में सहायता मिलती है। त्रिबंध निम्न प्रकार हैं—

२. **जालन्धर बंध—"कंठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधर बंधः"** अर्थात् ठोड़ी को कण्ठाकुञ्चन पूर्वक हृदय के पास स्थापित करना (ठोड़ी को हृदय से चार अंगुल ऊपर कण्ठकूप में लगाना) 'जालंधर बंध' कहलाता है।

२. **उड्डियान बंध—"प्रयत्नविशेषण नाभिप्रदेशस्य पृष्टत आकर्षणमुड्डियानबंधः ।।"** अर्थात् प्रयत्न विशेष के द्वारा नाभि प्रदेश (नाभि के ऊपर और नीचे चार अंगुल उदर) को पीठ की ओर खींचना "उड्डियान बंध" कहलाता है।

३. **मूलबंध—"अधः प्रदेशादाकुञ्चनमिति मूलबंधः।"** अर्थात् अधः प्रदेश (गुदा)का आकुञ्चन करना 'मूलबंध' कहलाता है।

उपर्युक्त तीनों बंधों सहित निम्न विधि पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए—उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन में बैठ कर शरीर को स्थिर कर गर्दन को सीधी और सरल रखकर अपने गुरू एवं इष्टदेव को प्रणाम करके दाहिने नथुने को दाहिने हाथ के अंगूठे से दबाकर बाएं नथुने के द्वारा उसका रेचन करके पेट खाली कर देना चाहिए। इससे पेट अंदर पृष्ठभाग की ओर दब जायगा। उसको उसी स्थिति में रख कर नासिका के बाएं नथुने से धीरे-धीरे बाहर से वायु अन्दर की ओर खींचना चाहिए। (जिस प्रकार कमलनाल से मुख के द्वारा पानी धीरे धीरे खींचा जाता है। उसी प्रकार बाएं नासामार्ग के द्वारा भी वायु धीरे धीरे अन्दर खींचना चाहिये।) बाएं नासामार्ग के द्वारा वायु अन्दर खींचते समय चार, आठ या सोलह मात्रा पूर्वक प्रणव का उच्चारण करना चाहिए। (चुटकी बजाने में जो समय लगता है उसे एक मात्रा कहते हैं।) इससे उदर अपने आप पूरित होकर अपनी स्वभाविक स्थिति में आ जायगा। इस समय नाभि में अपने इष्टदेव का स्मरण पूर्वक ध्यान करना चाहिए और मूलबंध का प्रयोग करना चाहिए।

इसके पश्चात् जालंधर बंध पूर्वक नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके क्रम पूर्वक सोलह, बत्तीस या चौसठ मात्रा तक श्वास का अवरोध करना चाहिए। तत्पश्चात् जालंधर बंध का विमोचन कर दाहिने नासामार्ग के द्वारा उदरगत प्राण वायु को

धीरे धीरे सम्पूर्णतः बाहर निकालना चाहिए। प्राण वायु के बाहर निकलने से उदर स्वतः ही अन्दर की ओर दबता चला जायगा। ज्यों ज्यों पेट अन्दर की ओर दबता जाय त्यों त्यों उड्डियान बंध करते जाना चाहिए। ऐसा करने से पेट अनायास ही अन्दर दब जायगा। कुछ काल तक ऐसी ही स्थिति बनाए रख कर स्तम्भ वृत्ति (बाह्य कुम्भक) का अभ्यास करते हुए नासिका के बाम रन्ध्र को अनामिका और कनिष्ठिका से रोक कर बन्द कर देना चाहिए। कुम्भक के अन्त में रेचक के समय उड्डियानबंध करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्य-नाडी के द्वारा पूरक करना चाहिए। फिर कुम्भक और उसके बाद चन्द्र-नाडी के द्वारा रेचन करना चाहिए। यह प्रक्रिया पुनः पुनः की जानी चाहिए।

जिस नासिका मार्ग से पूरक किया गया हो उसी से रेचक किया जाय तब एक प्राणायाम कहलाता है। पूरक के समय मूलबंध सहित जालंधर बंध करना चाहिये और रेचक के समय मूलबंध सहित उड्डियान बंध करना चाहिए। रेचक किए हुए नासारन्ध्र से पुनः पूरक नहीं किया जाना चाहिए। इस क्रिया को अनुलोम विलोम प्राणायाम कहते हैं। इस प्रकार आरम्भ में १० प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। उसके बाद यथा शक्ति उसे बढ़ा कर अस्सी प्राणयाम तक किए जा सकते हैं। निरन्तर तीन माह तक इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी नाड़ियाँ मल रहित हो जाती हैं और योगी के अन्तःकरण में निर्मलता का आभास होने लगता है।

प्राणायाम का अभ्यास काल और अवधि

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/११

प्रातः काल अर्थात् अरुणोदय से लेकर सूर्योदय से तीन घड़ी दिन चढ़े तक और मध्याह्न में अर्थात् पाँच भाग किए गए दिन के मध्य भाग में और सायं काल अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व और सूर्यास्त के अनन्तर तीन घड़ी रूप संध्या के समय में और अर्धरात्र में अर्थात् रात्रि के मध्य भाग के दो मुहूर्तों में इस प्रकार चार बार शनैः शनैः इन चार कालों में अस्सी प्राणायाम करे। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण अहोरात्र (२४ घंटे) में चार बार (प्रातः-मध्याह्न-सायं-अर्धरात्रि में) प्राणायम करना चाहिए। इस प्रकार चार बार में कुल ३६० प्राणायाम करना चाहिए। यदि किसी कारणवश अर्धरात्रि में प्राणायाम किया जाना सम्भव न हो तो दिन में तीन बार ही प्राणायाम करना चाहिए और उसकी कुल संख्या २४० हो।

त्रिविध प्राणायाम

परिणाम की दृष्टि से हठयोग में तीन प्रकार का प्राणायाम निरूपित किया गया है। यथा-कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। इन तीनों ही प्राणायामों में होने वाले लक्षणों का उल्लेख हठयोग में निम्न प्रकार से किया गया है—

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/१२

कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर पसीना आ जाय तो उसे कनिष्ठ प्राणायाम समझना चाहिये। मध्यम प्राणायाम में कम्प होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर शरीर में कम्पन होने लगे तो उसे मध्यम प्राणायाम जानना चाहिये। उत्तम प्राणायाम में योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थान को प्राप्त होता है, अर्थात् प्राणायाम करने पर प्राणवायु ब्रह्मरंध्र में पहुंच जाती है तो उत्तम प्राणायाम समझना चाहिये। उससे प्राणवायु का निरन्तर बंधन करना चाहिये याने प्राणवायु को रोकना चाहिये।

कनिष्ठ आदि त्रिविध प्राणयामों का लक्षण लिंगपुराण में निम्न प्रकार से प्रतिपादित है--

प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः॥
मध्यमस्तु यस्त्रिरुद्‌घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्‌घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते॥
प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्।
आनन्दो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च॥
रोमाञ्चो ध्वनिसंविज्ञिरंगमोटनकम्पनम्।
श्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा॥
तदुत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।

अर्थात् प्राणयाम का प्रमाण द्वादश मात्रा का होता है। प्राण वायु का एक बार उद्‌घात वाला द्वादशमात्रा का प्राणायाम नीच (कनिष्ठ या अवर) होता है; दो उद्‌घात वाला चौबीस मात्रा का प्राणायाम मध्यम रोता है तथा तीन उद्‌घात वाला छत्तीस मात्रा का प्राणायाम मुख्य (उत्तम) होता है। इनमें क्रमशः प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान लक्षण होता है। इन प्राणायामों में आनन्द, निद्रा और धूम (चित्त का आन्दोलन) होता है। जब योगी रोमान्च, ध्वनि का ज्ञान, अंगों का मोटन, कम्पन, श्रम,

स्वेद, जल्पादि की संवित् (कथन परिज्ञान) मूर्च्छा आदि को जीत लेता है तो वह सुशोभन प्राणायाम उत्तम बतलाया गया है।

गोरक्ष ने भी तीनों प्राणायामों को क्रमशः द्वादश, चतुर्विशति और षट्त्रिंशत मात्रा वाला निरूपित किया है। यथा—

अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः ।
उत्तमे त्रिगुणाः मात्रा प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥

ऊपर त्रिविध प्राणायाय के जो लक्षण बतलाए गए हैं उनमें 'उद्घात' और 'मात्रा' ये दो शब्द विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। क्योंकि इनके ज्ञान के बिना लिंग पुराणोक्त प्राणायाम को समझ पाना अत्यन्त दुःसह होगा। उद्घात का लक्षण निम्न प्रकार से बतलाया गया है—

प्राणेनोत्सर्पमाणेनापानः पीड्यते यदा ।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥

अर्थात् ऊपर की ओर गए हुए प्राण के द्वारा जब अपान पीड़ित होता है और ऊर्ध्वगत प्राण जब पुनः वापिस लौटता है—यह 'उद्घात' का लक्षण है।

मात्रा के विषय में याज्ञवल्क्य का कथन है—

अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिभिर्जानुपरिमार्जनम् ।
तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥

अर्थात् अंगुष्ठ और अंगुलि का तीन बार मोक्ष (तीन बार चुटकी बजाना), तीन बार घुठने पर हाथ फेरना और तीन बार ताली बजाना इसे बुद्धिमान लोग मात्रा कहते हैं।

स्कन्द पुराण में भी इसी प्रकार मात्रा निरूपित की गई है—

"जानुप्रदक्षिणी कुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते"

अर्थात् न शीघ्रता से और न विलम्ब से जानु का प्रदक्षिण करके चुटकी बजाने में जितना समय लगे वही समय मात्रा कहलाता है।

पुनः स्कन्द पुराण में बतलाया गया है—

"एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते ।"

अर्थात् एक श्वास की जो मात्रा है वह प्राणायाम कहलाती है।

योग चिन्तामणि में इसकी व्याख्या की गई है—**"निद्रावशंगतस्य पुंसो यावत् कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ।"**

अर्थात् निद्रागत (शयन करते हुए) मनुष्य की एक श्वास जितने समय में आती है और जाती है उतना समय प्राणायाम की एक मात्रा होती है।

इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्रीयुत् ब्रह्मानन्द जी लिखते हैं—"अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नकाल: प्राणायाम काल: । सड्भि: श्वसैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मक: काल: प्राणायामकाल: सिद्ध: ।"

अर्थात् अर्धश्वास सहित द्वादश श्वास (साढ़े बारह श्वास) के काल को प्राणायाम का काल कहते हैं। छ: श्वास का एक पल होता है। इससे अर्ध श्वास सहित जो काल है वही प्राणायाम का काल हुआ।

प्राणायाम-अभ्यासोपरान्त

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ।।

परिश्रम पूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से जो श्रम-जल (स्वेद) उत्पन्न होता है उससे योगी अपने शरीर का मर्दन करे। ऐसा करने से शरीर की दृढ़ता और लघुता होती है। अभिप्राय यह कि ऐसा करने से शरीर में जड़ता नहीं आ पाती।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढि भूते न तादृङ् नियमग्रह: ।।

अर्थात् प्रथम अभ्यास काल में दूध और घी सहित भोजन श्रेष्ठ होता है। अभ्यास के दृढ़ीभूत होने पर (प्राणायाम की सिद्धि होने पर) उक्त नियम का आग्रह नहीं है।

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास काल में प्राणायाम की विधि करने के उपरान्त योगी को सावधानी पूर्वक आचारण, आहार आदि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ताकि शरीर में कोई बाधा उत्पन्न न हो और शरीर में दृढ़ता व लघुता बनी रहे। अन्यथा शरीर की हानि की सम्भावना रहती है।

युक्तायुक्त प्राणायाम

अभ्यास विधि की दृष्टि से युक्त और अयुक्त दो प्रकार का प्राणायाम होता है। आहारादि का विधिवत् सेवन करना तथा जालंधर आदि बंध की युक्तिपूर्वक विधि से जो प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है वह युक्त प्राणायाम होता है और इसके विपरीत अयुक्त प्राणयाम होता है। युक्तायुक्त प्राणायाम का फल 'हठयोग प्रदीपिका' में निम्नप्रकार से प्रतिपादित है—

प्राणायामादियुक्तेनसर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोग समुद्भव: ।

अर्थात् विधिपूर्वक युक्त प्राणायाम का अभ्यास करने से सम्पूर्ण दोषों का क्षय हो जाता है और अयुक्त प्राणायाम के अभ्यास से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास नहीं करने से वायु का प्रकोप हो जाता हैं, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥

अर्थात् अयुक्त प्राणायाम का अभ्यास करने पर वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिर-कर्ण-अक्षि की वेदना आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

प्राणवायु के प्रकोप से अनेक रोग होते हैं, अतः प्राणायास का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिए कि वायु का प्रकोप न होने पावे। इसके लिए—

युक्तं-युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

अर्थात् प्राणायाम के अभ्यास काल में योगी युक्तिपूर्वक वायु का त्याग (उत्सर्ग) करे अर्थात् रेचन के समय शनैः शनैः ही प्राणावायु का रेचन करे, शीघ्रता पूर्वक नहीं। युक्तिपूर्वक ही उसका पूरण करे अर्थात् प्राणवायु के ग्रहण के समय भी युक्तियुक्त ही ग्रहण करे, न तो अल्प और न ही अधिक ग्रहण करें और युक्ति पूर्वक ही जालंधर बंध आदि के विधिपूर्वक प्रयोग से प्राणवायु को बांधे। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगी सिद्धि को प्राप्त होता है।

इस प्रकार युक्त प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि होती है जिसके निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायते निश्चितम् ॥
यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनात् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/१९-२०

अर्थात् जब नाड़ी शुद्धि होती है तब बाहरी रूप से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनमें शरीर की कृशता और शरीर की कान्ति (तेज) निश्चित रूप से होती है। इसके अतिरिक्त नाड़ी के शोधन से वायु का यथेष्ठ धारण, अग्नि (जठराग्नि) की प्रदीप्ति ध्वनि की अभिव्यक्ति और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

□

प्राणायाम के भेद

हठयोग में श्री स्वात्माराम जी सूरि ने तीन प्रकार का प्राणायाम बतलाया है जो निम्न प्रकार है—

> प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
> सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/७१

अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का बतलाया गया है । पुनः कुम्भक दो प्रकार का बतलाया गया है—१. रेचक—पूरक सहित और २. केवल कुम्भक ।

पुनः कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार का बतलाया गया है जिसका वर्णन आगे किया जायगा ।

यहां यह ज्ञातव्य है कि प्राणायाम के प्रकरण में कहीं भी महर्षि पतञ्जलि ने पूरक, रेचक और कुम्भक शब्दों का प्रयोग नहीं किया है । योग सूत्र (योग दर्शन) के टीकाकार श्री व्यास जी ने भी इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है । हठयोग में तीनों शब्दों का प्रयोग प्राणायाम के प्रसंग में व्यापक रूप से मिलता है ।

योगसूत्र में भी मुख्यतः तीन प्रकार का प्राणायाम प्रतिपादित किया गया है । यथा—

> "बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।"

—पातञ्जल योगदर्शन २/५०

अर्थात् बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति वाला यह प्राणायाम देश काल और संख्या के द्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ लम्बा और हल्का होता है ।

इस सूत्र में यद्यपि तीन प्रकार का प्राणायाम ही प्रतिपादित किया गया है, किन्तु इसके आगे एक सूत्र में चौथे प्रकार का प्राणायाम भी प्रतिपादित है । यह अनायास साध्य होने वाला राजयोग का प्राणायाम है । इसमें प्रयत्न के द्वारा प्राण की गति का अवरोध अपेक्षित नहीं होने से पूर्वोक्त तीनों प्राणायाम के साथ इसका परिगणन न कर पृथक् से

इसका कथन किया गया है। तथापि यह स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि ने प्राणायाम के कुल चार भेद बतलाए हैं। उनका क्रमशः विवेचन निम्न प्रकार है—

१—बाह्यवृत्ति—जो वायु नासारन्ध्रों से शरीर के बाहर निकाली जाती है और उसे बाहर निकाल कर बाहर ही वह जितने समय तक सुखपूर्वक रुक सके उसे रोके रखना और साथ ही साथ इस बात की भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहां अवस्थित है? कितने समय ठहरा है और उतने समय में स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी संख्या होती है? यह बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहलाता है। इसमें प्राणवायु का रेचन होने के कारण तथा रेचन पूर्वक प्राण का अवरोध होने के कारण हठयोग में इसे रेचक प्राणायाम की संज्ञा दी गई है अर्थात् हठयोग में जो रेचक प्राणायाम प्रतिपादित है वह इससे भिन्न नहीं है। इस प्रवृत्ति का निरन्तर अभ्यास करते रहने से यह सुदीर्घ काल तक रुका रहने वाला और सूक्ष्म अर्थात् हल्का (अनायास साध्य) हो जाता है। इस प्रकार बाहर निकाले हुए प्राण की गति का अवरोध और प्राण की बहिः स्थिति को कतिपय विद्वान 'बाह्य कुम्भक' की संज्ञा भी देते हैं।

२. आभ्यन्तरवृत्ति— नासामार्ग के द्वारा प्राणवायु को शरीर के अन्दर ले जाकर जितने समय तक सुखपूर्वक उसका अवरोध हो सके उतने समय तक उसे अन्दर ही रोके रखना और साथ ही यह भी देखते रहना कि आभ्यन्तर प्रदेश में प्राण कहां तक जाकर रुकता है। वहाँ कितने समय तक सुखपूर्वक स्थित रहता है और उतने समय में प्राण की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है? यह आभ्यन्तर प्राणायाम है, इसे पूरक प्राणायाम भी कहते हैं। क्योंकि इसमें प्राण को शरीर के अन्दर ले जाकर रोका जाता है। प्रयत्न और अभ्यास बल से यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से अन्दर रुके हुए प्राण को अन्तः कुम्भक कहा जाता है— ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है।

३—स्तम्भवृत्ति—शरीर के भीतर जाने और बाहर निकलने वाली जो प्राणों की स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकालने या ले जाने का अभ्यास न करके जो प्राणवायु स्वभाव से बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहां हो वहीं उसकी गति को स्तम्भित कर देना और यह देखते रहना कि प्राण किस देश में रुके हैं? कितने समय तक सुखपूर्वक रुके रहते हैं? इस समय में स्वाभाविक गति की संख्या कितनी होती है? यह 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है; इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यास बल से यह भी दीर्घ सूक्ष्म होता है। पातञ्जल योगसूत्र के कतिपय टीकाकार इसे 'केवल कुम्भक' भी कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा भलीभांति देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

इन तीनों ही प्राणयाम के द्वारा साधक क्रमशः उन्नत दशा को पहुंचता आता है। अर्थात् साधक इन तीनों ही प्रकार के प्राणायामों को देश, काल और संख्या के द्वारा देखता रहता है कि वे किस अवस्था तक पहुंच चुके हैं? इस प्रकार परीक्षा करते करते वे प्राणायाम जैसे जैसे उन्नत होते जाते हैं वैसे वैसे उनमें लम्बाई और हल्का पन बढ़ता जाता है। इन तीनों प्राणायाम की सिद्धि के पश्चात् साधक को स्वतः सिद्ध चतुर्थ प्राणायाम की अनुभूति होती है। अर्थात् इसके लिए साधक को अभ्यास बल या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। महर्षि पतंञ्जलि ने चतुर्थ प्राणायाम के विषय में कहा है—

"बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। —योग दर्शन २/५१

अर्थात् बाहरी और भीतरी विषयों का परित्याग कर देने से स्वतः होने वाला चतुर्थ प्राणायाम है।

उपर्युक्त तीनों प्राणायामों की सिद्धि हो जाने के अनन्तर साधक जब बाहर और भीतर के समस्त विषयों के चिन्तन का परित्याग कर देता है अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं, चल रहे हैं या ठहरे हुए हैं इन जानकारी का त्याग करके मन को इष्ट चिन्तन में लगा देता है तो देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही प्राणों की गति अपने आप जिस किसी देश में रुक जाती है वह चतुर्थ प्राणायाम है। उपर्युक्त तीन प्रकार के प्राणायामों से यह सर्वथा भिन्न है -यह बतलाने के लिए सूत्र में चतुर्थ शब्द का प्रयोग किया गया।

यह अनायास होने वाला राजयोग का प्राणायाम है। इसमें मन की चञ्चलता शान्त हो जाने के कारण स्वतः ही प्राणों की गति रुकती है, जबकि पूर्वोक्त प्राणायामों में प्रयत्न के द्वारा प्राणों की गति का निरोध होता है। यही इस चतुर्थ प्राणायाम की विशेषता है।

ये चारों ही क्रियाएं मिलकर एक प्राणायाम होता है। जब चारों क्रियाओं का सम्यक्तया अभ्यास हो जाता है तब योगाभ्यासी अपनी इच्छा और किंचित् प्रयास मात्र से ही बाहर की वायु को बाहर और भीतर की वायु को भीतर ही जहां की तहां एक साथ रोक सकता है। जैसे जैसे योगाभ्यासी का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे वैसे प्राणायाम की स्थिति देश, काल और संख्या के परिणाम से दीर्घ और सूक्ष्म हो जाती है। इसके साथ ही जैसे जैसे मनुष्य प्राणायाम का अभ्यास करता है वैसे-वैसे उसके संचित कर्म संस्कार और अविद्यादि क्लेश दुर्बल होते चले जाते हैं। ये कर्म-संस्कार और अविद्यादि क्लेश ही ज्ञान का आवरण करने वाले हैं। इस आवरण के कारण ही मनुष्य का ज्ञान आवृत (ढका) रहता है, अतः वह मोहित हुआ रहता है। प्राणायाम के सतत अभ्यास से जब कर्म-संस्कार और अविद्यादि क्लेश शनैः शनैः क्षीण

होते जाते हैं तो यह आवरण भी धीरे धीरे दुर्बल होता हुआ अन्ततः सर्वथा क्षीण हो जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।" —योगदर्शन २/५२

अर्थात् उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है। तब साधक का ज्ञान सूर्य की भांति प्रकाशित हो जाता है। इसके अतिरिक्त धारणा आदि योगाङ्गों में मनः सन्निधि-योग्यता आदि हो जाती है, जैसा कि योग दर्शन के निम्न सूत्र से स्पष्ट है—

"किं च धारणासु च योग्यता मनसः।" —योगदर्शन २/५३

इस प्रकार प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करने से प्राणापानादि पञ्च वायु, रस-रक्तादि सप्त धातुओं, मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय और श्रोत्र-नेत्र आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की स्थूलता और समस्त विकार दूर हो जाते हैं, जिससे 'विशिष्ट ज्ञान' और 'अलौकिक आनन्द' की प्राप्ति के बाधक आवरणों का विनाश हो जाता है तब परमात्मा के ध्यान में मन की एकाग्रता स्थापित होती है तथा निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि होती है।

जिस प्रकार शारीरिक शौच (शुद्धि) के लिए स्नान परमोपयोगी एवं आवश्यक है उसी प्रकार मानसिक शुद्धि के लिए प्राणायाम परमोपयोगी एवं आवश्यक है। प्राणायाम के द्वारा समस्त मनो विकारों का नाश और दोषों का शमन होता है। इसी लिए मनु ने मानसिक दोषों के विनाश के लिए प्राणायाम की आवश्यकता प्रतिपादित की है। उनका निर्देश है — "प्राणायामैर्दहेत् दोषान्।"

इससे निश्चय ही मन के दोषों का विनाश होकर मन में शुद्धि और शान्ति प्रतिष्ठापित होती है।

प्राणायाम के द्वारा जब अन्तःकरण की निर्मलता होती है तो उस अन्तःकरण में आवरण रूप अज्ञानान्धकार का विनाश होकर ज्ञान ज्योति उद्भासित होती है। जिससे सम्पूर्ण अन्तःकरण प्रकाशमान होता है। भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

— श्री मद्भगवद्गीता, ६/१६

अर्थात् जिनके अन्तःकरण का वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान के द्वारा नाशित हो गया है उनका ज्ञान सूर्य की भाँति उस सच्चिदानन्दघन रूप परमात्मा को प्रकाशित करता है। अर्थात् वह परमात्मा के स्वरूप को जानने लगता है।

इस प्रकार योगीजन का उद्देश्य ज्ञान के आवरण को दूर करना है जो केवल

कर्म-संस्कार के क्षय होने से ही सम्भव है। ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि कर्म संस्कारों का क्षय प्राणायाम के द्वारा होता है। अतः मनुष्य को प्राणयाम के सतत अभ्यास पूर्वक अन्तः करण की शुद्धि हेतु प्रयास करना चाहिए।

ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हठयोग में श्री स्वात्माराम जी सूरि ने तीन प्रकार का प्राणायाम बतलाया है—रेचक प्राणायाम, पूरक प्राणायाम और कुम्भक प्राणायाम। इसमें पुनः कुम्भक एक ही प्रकार होता है।

प्राणायाम के उपर्युक्त भेद वस्तुतः महर्षि पतञ्जलि द्वारा कथित प्राणायाम से भिन्न नहीं हैं। उनमें वस्तुतः कोई मौलिक भिन्नता न होकर केवल शब्दों और कथन की भिन्नता है। तथापि उनके जो लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं उन्हें जान लेना आवश्यक है। इसी दृष्टि से यहां उनका वर्णन किया जा रहा है।

रेचक - महर्षि याज्ञवल्क्य ने रेचक प्राणायाम का निम्न लक्षण बतलाया है—

"बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः।"

अर्थात् उदर से बाहर की ओर वायु का जो रेचन किया जाता है वह 'रेचक' प्राणायाम कहलाता है।

रेचक प्राणायाम का एक अन्य लक्षण निम्न प्रकार है—

निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन।
निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महा निरोधः॥

अर्थात् सम्पूर्ण प्राण (वायु) को नासिका मार्ग से बाहर निकाल कर उसका इस प्रकार अवरोध करे कि शरीर वायु से शून्य (रहित) की भांति प्रतीत हो। यह महान निरोध 'रेचक' प्राणायाम कहलाता है।

पूरक— महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार पूरक प्राणायाम का लक्षण निम्न प्रकार है—

"बाह्याबापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः।"

अर्थात् बाहर से ग्रहण कर वायु के द्वारा उदर को आपूरित करना 'पूरक' प्राणायाम कहलाता है।

अन्यत्र पूरक प्राणायाम का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।
नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महा निरोधः॥

अर्थात् बाहर स्थित वायु को नासिका पुट (नथुनों) के द्वारा भीतर खींच कर उसी नासापुट के द्वारा धीरे धीरे चारों ओर व्याप्त सभी नाड़ियों को पूरित कर दे। यह महान् निरोध 'पूरक' प्राणायाम कहलाता है।

कुम्भक—महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'कुम्भक' का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

"सम्पूर्य कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्।"

अर्थात् कुम्भ (घट) की भांति वायु को पूरित करके उसका धारण करना याने अपनी सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक देर तक उसे रोके रखना यह कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्री ब्रह्मानन्द के अनुसार यह कुम्भक तो पूरक प्राणायाम से भिन्न नहीं है—"अयं कुम्भकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः। भिन्नस्तु—

न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्।
सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥

अर्थात् न रेचक किया जाय और न पूरक किया जाय। अपितु नासापुट में स्थित वायु का ही जो निश्चलता पूर्वक धारण किया जाना है उसे ही उस (योग) शास्त्र के ज्ञाता योगीजन कुम्भक प्राणायाम कहते हैं।

केवल कुम्भक का लक्षण

योगशास्त्र में केवल कुम्भक का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।

—हठयोग प्रदीपिका २/७२-७३

अर्थात् जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाय तब तक सहित कुम्भक (रेचक पूर्वक कुम्भक और पूरक पूर्वक कुम्भक) का अभ्यास करना चाहिए। (यहां यह ज्ञातव्य है कि सहित कुम्भक के अभ्यास के अन्तर्गत सूर्य भेदन आदि जो आठ प्रकार का कुम्भक आगे वर्णित है उसका अभ्यास करना चाहिये। उसके अभ्यास से ही केवल कुम्भक के साधन में योगी समर्थ होता है।) तदनन्तर रेचक और पूरक को छोड़कर सुखपूर्वक (अनायास) जो वायु का धारण होता है वह केवल कुम्भक कहलाता है। इस प्रकार यह प्राणायाम बतलाया गया है।

औपनिषद् परम्परा में प्राणायाम के पर्याय के रूप में कुम्भक शब्द का प्रयोग अनेकशः मिलता है। इस कुम्भक के भेदों का निरूपण योगशिखोपनिषद् (१/८८-८९), योग कुण्डल्युपनिषद् (१/१९-२१) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१/७/१३/५) में विस्तार पूर्वक किया गया है। योगकुण्डल्युपनिषद् (१/२०) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (उपर्युक्त) में कुम्भक अर्थात् प्राणायाम के दो भेद मुख्यतः बतलाए गए हैं। सहित कुम्भक (अर्थात् रेचक-पूरक युक्त कुम्भक) और केवल कुम्भक (याने रेचक-पूरक विवर्जित कुम्भक)। इन दोनों कुम्भक में उपायोपेय सम्बन्ध मानते हुए जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाय तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करते रहने का उपदेश दिया गया है। केवल कुम्भक की सिद्धि हो जाने पर संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

केवले कुम्भके सिद्धे रेच-पूर विवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।।

—योगतत्त्वोपनिषद् ५०-५१

ऊपर जो सहित कुम्भक दो प्रकार का बतलाया गया है उसमें पूरक पूर्वक कुम्भक के सूर्यभेदन आदि आठ भेद बतलाए गए हैं। कुछ लोग मात्र कुम्भक के ही सूर्यभेदन आदि आठ भेद मानते हैं। किन्तु वस्तुतः सूर्यभेदन आदि आठ भेद पूरक पूर्वक कुम्भक के हैं, जैसा कि हठयोग प्रदीपिका के टीकाकार श्रीब्रह्मानन्द ने स्पष्ट किया है—"सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुम्भकस्य भेदाः ज्ञातव्याः ।"

—हठयोग प्रदीपिका २/७१ पर टीका

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हठयोग के अनुसार प्राणायाम के भेदों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—
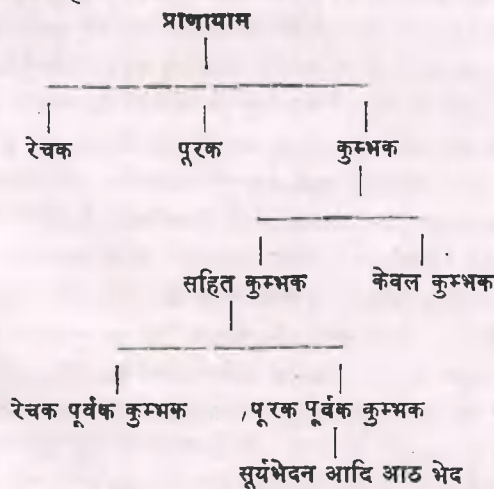
श्री स्वात्माराम योगीन्द्र ने पूरक पूर्वक कुम्भक प्राणायाम के निम्न आठ भेद बतलाए हैं—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/४४

अर्थात् सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी यह आठ प्रकार का कुम्भक प्राणायाम होता है।

घेरण्ड संहिता में भी उपर्युक्त आठ प्रकार का "कुम्भक" बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक की विधि एवं विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है—

१ सूर्य भेदन

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थ पवनं शनैः ।।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ।।
कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/४८-५०

अर्थात् सुखदायी आसन पर (शुद्ध देश में न अत्यन्त ऊंचा और न अत्यन्त नीचा और जिस पर क्रम से वस्त्र, मृगचर्म बिछा हुआ हो, ऐसे पवित्र आसन पर बैठकर जिसमें ग्रीवा-शरीर-शिर-ये समान रहें ऐसे आसन को बांध कर अर्थात् स्वस्तिकासन, वीरासन सिद्धसान, पद्मासन इनमें से किसी) आसन से बैठकर दक्षिण नाड़ी (पिंगला) के द्वारा शनैः शनैः शरीर के बाहर स्थित वायु को खींचकर केश पर्यन्त और मखाग्र पर्यन्त जब तक उस का निरोध हो सके अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में पवन रुक जाय तावत् पर्यन्त कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। इसके अनन्तर सव्यनाडी—अर्थात् वाम भाग में स्थित इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण वायु का शनैः शनैः रेचन करना चाहिये। यह सूर्य भेदन नाम का उत्तम कुम्भक (प्राणायाम) मस्तक का शोधन करने वाला वात दोष का नाश करने वाला और कृमिज विकारों का शमन करने वाला है। इसे बारम्बार करना अभीष्ट है।

विधि—स्वच्छ स्थान और समतल भूमि पर मृगछाल अथवा किसी सुकोमल वस्त्र का आसन बिछाकर उस पर स्वस्तिकासन, वीरासन, सिद्धासन या पद्मासन जो भी आसन सरलता से लगाया जा सके लगाकर योगी अपने शरीर, ग्रीवा और सिर को सीधा रखे। तत्पश्चात् वह अपने दाहिने नासामार्ग जिसे 'सूर्य नाड़ी' या 'पिंगला नाड़ी' कहा जाता है के द्वारा धीरे धीरे प्राणवायु का ग्रहण करे। यह क्रिया 'पूरक' कहलाती है। पूरक के पश्चात् बाहर से ग्रहण की हुई उस वायु को जितनी देर वह रोक सके उतनी देर उसे रोके। श्वास रोकने की यह क्रिया 'कुम्भक' कहलाती है। तत्पश्चात् बाएं नासामार्ग जो 'चन्द्र नाड़ी' या 'ईडा नाड़ी' कहलाती है के द्वारा धीरे धीरे उस अवरुद्ध श्वास वायु को बाहर निकाले। यह क्रिया 'रेचक' कहलाती है। इस प्रकार यह एक 'कुम्भक' हुआ। इसे यथाशक्ति पुनः पुनः करना चाहिये।

लाभ—यह शिर, ग्रीवा और मस्तिष्क के सभी विकारों को दूर करता है, मानसिक विकारों का शमन कर यह सबको स्वस्थ रखता है, हृदय और इन्द्रियों के लिए यह हितकारी है। इसके द्वारा वायु दोष और तज्जनित विकारों का शमन होता है। शरीर में हल्कापन और फुर्ती का अनुभव होता है। इसके निरन्तर अभ्यास से

श्वास संस्थान गत विकृतियां दूर होती हैं और उदरगत कृमियों और कृमि दोषों का नाश होता है। उदरगत वायु विकार दूर होकर अग्नि दीप्ति होती है तथा मनुष्य पूर्ण स्वस्थता का अनुभव करता है।

२ उज्जायी

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कठात्तु हृदयावधि सस्वनम्॥
पूर्ववत् कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदीडया ततः।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम्॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥

—हठयोग प्रदीपिका २/५१-५३

अर्थात् मुख का संयमन करके ईडा और पिंगला के द्वारा शनैः शनैः इस प्रकार पवन का आकर्षण करे कि वह पवन कण्ठ से हृदय पर्यन्त शब्द करता हुआ संश्लिष्ट हो (लगे)। तत्पश्चात् पूर्ववत् सूर्यभेदन के समान ही प्राणवायु का कुम्भक करना चाहिए। कुम्भक करने के बाद अवरूद्ध उस प्राणायु का ईडा नाड़ी के द्वारा रेचन करना चाहिए। यह उज्जायी नाम का कुम्भक कण्ठ में स्थित श्लेष्म दोष को दूर करने वाला, जठराग्नि को बढ़ाने वाला, नाड़ीगत विकारों, जलोदर तथा धातुगत विकारों को नाश करने वाला है। यह उज्जायी नाम का कुम्भक गमन करते हुए अथवा बैठे हुए मनुष्य के द्वारा भी किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का बन्धन नहीं है।

विधि—स्वस्तिकासन, सिद्धासन, वीरासन या पद्मासन में से किसी भी एक आसन जो सरलतापूर्वक किया जा सके में बैठकर सर्वप्रथम फुफ्फुसों में स्थित सम्पूर्ण वायु का निष्कासन कर देना चाहिए। तत्पश्चात् मुख को संयमित करके ईडा और पिंगला नाड़ियों अर्थात् दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे प्राणवायु को अन्दर की ओर खींचना चाहिए। वायु को अन्दर खींचते समय हल्की आवाज जैसी कि निद्रा के समय होती है निकलना चाहिए। प्राणवायु का यथाशक्य अधिक से अधिक मात्रा में ग्रहण किया जाना चाहिए ताकि उससे दोनों फुफ्फुस पूर्णरूप से आपूरित हो सके और बाहर से छाती यथासम्भव अधिकाधिक फूल सके। फुफ्फुसों में प्राणवायु भर जाने के बाद कुम्भक करना चाहिए। अर्थात् जितनी देर तक उसे रोका जा सके उतनी देर तक उस रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। तत्पश्चात् ईडा नाड़ी के द्वारा अर्थात् बाएँ नासामार्ग से धीरे-धीरे उस प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। प्राणवायु को बाहर

निकालते समय भी सूक्ष्म ध्वनि (हल्की आवाज) कण्ठ से निकले ऐसा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

लाभ—यह कुम्भक (प्राणायाम) अत्यन्त सरल क्रिया वाला बहुत ही लाभदायक है। अपनी सुविधानुसार यह चलते-फिरते, बैठे हुए, लेटे हुए, पढ़ते या लिखते हुए किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। यह सरल भी है और सुविधापूर्वक किया जा सकता है। स्त्री, बालक, वृद्ध सभी के लिए यह समान रूप से उपयोगी है।

नियमित रूप से इसका अभ्यास करने से श्लेष्मा (कफ) का शमन होता है और सभी प्रकार के कफज विकारों का नाश होता है। शरीर का भारीपन दूर होकर शरीर में लघुता का अनुभव होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है और सभी प्रकार के उदर विकारों विशेषत: जलोदर का नाश होता है। नाड़ीगत समस्त दोष दूर होते हैं तथा वातवह स्रोतों की शुद्धि होती है जिससे शरीरगत नाड़ी संस्थान का कार्य प्राकृत रूप से सम्पन्न होता है। श्वसन संस्थान के अविकृत रहने से श्वास कास आदि रोग नहीं हो पाते तथा रक्त की शुद्धि होती है। हृदय एवं शरीर स्वस्थ बना रहता है।

३ सीत्कारी

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।।
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।।
भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/५४-५६

अर्थात् मुख में जिव्हा के द्वारा उसी प्रकार सीत्कार करते हुए पूरक करना चाहिए। तत्पश्चात् केवल घ्राण (नासा मार्ग) के द्वारा ही रेचन करना चाहिए। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते रहने से योगी द्वितीय कामदेव के समान स्वस्थ और सुन्दर हो जाता है। अर्थात् उसमें रूप-लावण्य की अतिशय वृद्धि हो जा[illegible]र वह कामदेव की भाँति लगने लगता है। वह योगी योगिनी चक्र का सेवन करने वाला तथा सृष्टि और संहारकारक हो जाता है। उसे न तो क्षुधा पीड़ित करती है और न तृषा सताती है, वह निद्रा के वशीभूत नहीं होता और न ही उसे आलस्य आता है। शरीर में सत्व गुण या बल की वृद्धि होती है। इस विधि के द्वारा वह योगीन्द्र होता हुआ इस भूमण्डल पर यथार्थत: सभी उपद्रवों से रहित रहता है। उसका वाक्य सत्य अर्थात् यथार्थ होता है।

विधि—किसी सुगम आसन में बैठकर ओठ, दांत और जिव्हा की स्थिति इस प्रकार बनाई जावे कि ऊपर और नीचे के दांत परस्पर भिड़े रहें और ओठ खुले रहें। इसके बाद "सी" जैसा शब्दोच्चार करते हुए उसी स्थिति में मुख द्वारा गहरी सांस ली जाय। श्वास लेते समय दांत परस्पर में भिड़े ही रहें तथा ओठ खुले रहें। पूर्ण रूप से श्वास अन्दर लेने के पश्चात् यथाशक्ति उसे अन्दर ही अधिकाधिक देर तक रोकने का प्रयत्न किया जाय। तदनन्तर उसे नासामार्ग के द्वारा धीरे-धीरे बाहर निकाला जाय। हां यह सावधानी रखना आवश्यक है कि अन्दर की श्वास मुख के द्वारा बाहर न निकले।

लाभ—यह कुम्भक करने से योगी का शरीर अपूर्व कान्तिमान् और तेजस्वी होता है। मुखमण्डल पर अद्वितीय तेज झलकता है। उसे कोई शारीरिक उपद्रव या विकार पीड़ित नहीं कर पाते। शरीर में अपूर्व बल का संचार एवं सत्वगुण की वृद्धि होती है। योगी को कभी आलस्य नहीं सताता। शरीर में सदैव उत्साह और स्फूर्ति बनी रहती है।

४ शीतली

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम्।
शनकै घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः।
गुल्मप्लीहाविकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि॥

—हठयोग प्रदीपिका २/५७-५८

अर्थात् ओठों से बाहर निकली हुई उस जिव्हा से जो पक्षी की चोंच के समान हो वायु का आकर्षण करके अर्थात् शनैः शनैः पूरक करके सूर्य भेदन की भांति कुम्भक का साधन कर अर्थात् यथाशक्ति उस प्राणवायु को अधिकाधिक समय तक अन्दर ही रोक कर नासिका मार्ग से शनैः शनैः उसका रेचन करना चाहिए। यह शीतली नाम का कुम्भक गुल्म, प्लीहा वृद्धि आदि रोगों, ज्वर, पित्तविकार, क्षुधा और विषों का नाश करता है।

विधि—ऊपर जो शीतली कुम्भक का वर्णन किया गया है उसमें इसकी विधि का वर्णन आ गया है। अतः उपर्युक्त विधि के अनुसार ही इसका अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से होने वाले लाभ भी ऊपर स्पष्ट कर दिए गए हैं।

५ भस्त्रिका

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥
यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम्।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधिमारुतम्॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां बिना दृढम् ॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदीडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥
कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकमिदम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका, २/६०-६७

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य भली भांति पद्मासन लगाकर मुख को संयमित करके प्रयत्नपूर्वक नासिका के एक मार्ग (छिद्र) से प्राणवायु का रेचन करे। घ्राणरंध्र से वायु का रेचन इस प्रकार हो कि वह शब्द सहित कण्ठ में कपाल पर्यन्त लगे। तत्पश्चात् वेग पूर्वक हृदय कमल पर्यन्त उसका पूरक करे याने प्राणवायु ग्रहण करे। पूर्ववत् पुनः उसका रेचन करे और पुनः उसका पूरक करे। इस प्रकार बार-बार वायु का रेचन और पूरक करना चाहिए; जैसे लोहकार (लोहार) बार-बार भस्त्रा (धौंकनी) को चलाता है, उसी प्रकार अपने शरीर में बुद्धि पूर्वक वायु को संचालित करे। जब बार-बार रेचक और पूरक करने से शरीर में थकान प्रतीत होने लगे तब सूर्यनाड़ी से पूर्ण करे अर्थात् सूर्यनाड़ी के द्वारा वायु से उदर का पूरण करे। तत्पश्चात् मध्यमा और तर्जनी अंगुली के बिना अर्थात् अंगुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठिका इन तीनों अंगुलियों के द्वारा दृढ़ता पूर्वक नासापुट को दबा कर प्राणवायु का अवरोध करे अर्थात् कुम्भक करे। इस प्रकार विधिपूर्वक कुम्भक करके ईडा नाडी (चन्द्र नाड़ी) से वायु का रेचन करे। भस्त्रा या भस्त्रिका नामक यह कुम्भक वात-पित्त-श्लेष्मा का शमन करने वाला, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, शीघ्र ही कुण्डलिनी प्रबोधक, सुखकारक, हितकारी, ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के अग्रभाग में स्थित (नाड़ी का अवरोध करने वाले) अर्गल (अवरोधक) रूप कफ का नाश करने वाला और शरीरगत सुषुम्ना में समुद्भूत तीन ग्रंथियों (ब्रह्म ग्रन्थि-विष्णु ग्रन्थि-रुद्र ग्रन्थि) का भेदजनक है। अतः इस भस्त्राख्य कुम्भक को अवश्य करना चाहिए।

विधि—किसी सुखप्रद आसन में स्थित होकर सिर एवं मेरुदण्ड को सीधा रखकर शरीर को शिथिल करते हुए बैठना चाहिए। दोनों नेत्र बन्द हों और बायां हाथ बाएं घुटने पर स्थित हो। दाहिने हाथ को ऊपर उठकार मुख के सम्मुख इस प्रकार रखा जाय कि उसकी प्रथम और द्वितीय अंगुली कपाल पर स्थित हो तथा अंगूठा नासिका के दाहिने नथुने पर और अनामिका (तृतीय) अंगुलि बाएं नथुने पर स्थित हो। अब प्रक्रिया प्रारम्भ करते समय अंगूठे से दाहिना नथुना इस प्रकार दबाया जाय कि दक्षिण नासा मार्ग पूर्णतः बन्द हो जाय। तत्पश्चात् बाएं नथुने से शीघ्रता पूर्वक बीस बार श्वसन करना चाहिए। यह क्रिया उदर के प्रसारण और आकुंचन के साथ शीघ्रतापूर्वक एवं लययुक्त हो। उसके बाद एक लम्बा पूरक करना चाहिए। तदनन्तर दोनों नासामार्ग दृढ़तापूर्वक अंगुष्ठ एवं अनामिका के द्वारा बन्द कर कुम्भक करना चाहिए तथा जालधर और मूलबंध या इन दोनों में से किसी एक का अभ्यास करना चाहिए। कुम्भक के द्वारा अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्वास को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्त में बंधों को शिथिल कर रेचक करना चाहिए। इसी प्रकार दाहिनी ओर से भी वही क्रिया करना चाहिए। यह एक आवृत्ति है तीन आवृत्तियों तक इसका अभ्यास करना चाहिए।

उपर्युक्त अभ्यास करने के अनन्तर दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रखकर दोनों नासिका रंध्रों से एक साथ बीस बार श्वसन करना चाहिए। तत्पश्चात् दीर्घपूरक करके कुम्भक के द्वारा यथाशक्ति श्वास रोक लेना चाहिए और जालंधर एवं मूलबंध या दोनों में से किसी एक का अभ्यास करना चाहिए। अन्त में बंधों को शिथिल करके रेचक करना चाहिए। यह एक आवृत्ति है, इस प्रकार की तीन आवृत्तियों का अभ्यास आवश्यक है।

लाभ—यह तीनों दोषों (वात-पित्त-कफ) को शमन करने वाला तथा जठराग्नि को प्रदीप्त कर पाचनशक्ति को नियमित करने वाला है। इस का निरन्तर अभ्यास करने से मन को स्थिरता एवं शांति प्राप्त होती है। इसके द्वारा आयुर्वेदोक्त प्राणवह स्रोतस् का संशोधन होता है जिससे श्वास-कास, क्षय, हृद्रोग आदि सभी प्रकार के श्लेष्म-विकारों का उपशम होता है। यह फुफ्फुसगत समस्त विकारों को दूर करता है, अतः रक्त-शुद्धि और हृदय को बल प्रदान करने के लिए यह एक आश्चर्यजनक प्राणायाम है।

६ भ्रामरी

वेगाद् घोषं पूरकं भृंगनादं रेचकं मंदमंदम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला॥

—हठयोग प्रदीपिका, २/६८

अर्थात् वेगपूर्वक भौंरे के समान शब्द करते हुए पूरक करना चाहिए और यथा-शक्ति कुम्भक करते हुए बाद में मन्द मन्द रूप से भ्रमरी की भाँति आवाज करते हुए रेचक करना चाहिए। इस कुम्भक का अभ्यास करने से योगीजन (के हृदय) में अपूर्व आनन्द की क्रीड़ा होती है।

विधि—सुविधाजनक किसी आसन में बैठकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए नेत्र और मुख बन्द रखते हुए इस कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। सर्वप्रथम दोनों नासामार्गों से वेगपूर्वक पूरक किया जाय और पूरक के समय भौंरे के गुंजन की भाँति घोष किया जाय। तत्पश्चात् कुम्भक के द्वारा यथाशक्ति प्राणवायु का अवरोध किया जाय और अन्त में भ्रमरी की भनभनाहट के समान सुदीर्घ अखण्ड ध्वनि करते हुए धीरे धीरे रेचक किया जाय। यहाँ यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि पूरक और रेचक के समय जो ध्वनि या घोष किया जाय उसकी तरंगों का अनुभव मस्तिष्क में हो।

लाभ—इसका निरन्तर अभ्यास करने से शिरो गौरव (सिर का भारीपन) दूर होता है। मस्तिष्क में निर्मलता आती है और मस्तिष्कगत नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। परि-णामतः मानसिक तनाव, क्रोध, चिन्ता और विक्षेप से मुक्ति मिलती है। स्नायविक शैथिल्य दूर होता है, उच्च रक्तचाप में न्यूनता आती है, गले के विकारों का शमन होता है, ध्वनि और उच्चारण सम्बन्धी विकृति दूर होती है तथा स्वर में मधुरता आती है, इस कुम्भक के द्वारा चित्त की वृत्तियों में स्थिरता आती है, मन प्रफुल्लित रहता है और हृदय में प्रसन्नता का अनुभव होता है।

--०--

७ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनो मूर्छा सुखप्रदा॥

—हठयोग प्रदीपिका २/६९

अर्थात् पूरक प्राणायाम के अन्त में अत्यन्त दृढ़ता पूर्वक जालंधर बंध को बाँध कर शनैः शनैः प्राणवायु का रेचन करना चाहिए। मूर्च्छा का मूर्च्छना नामक यह कुम्भक मनो मूर्च्छा कारक एवं सुखप्रद है।

विधि—अन्य क्रियाओं की अपेक्षा यह क्रिया कुछ कठिन होने से गुरु के सम्मुख अथवा योग्य मार्गदर्शक की उपस्थिति में ही इसका अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा इसके अभ्यास काल में या अभ्यास के अनन्तर हानि की सम्भावना रहती है।

इस कुम्भक के लिए केवल सिद्धासन या पद्मासन में ही स्थित होकर इसे करना चाहिए। सर्वप्रथम आसन में सीधे बैठकर दोनों नासिका मार्गों से दीर्घ किन्तु

शनैः शनैः श्वास लेकर उसे अन्दर ही रोक लेना चाहिए। तत्पश्चात् ठोड़ी को गले के नीचे जो गड्ढा है उसमें टिका कर 'जालंधर बंध' लगाना चाहिए। इसके बाद दाएं और बाएं हाथ की अंगुलियों को निम्न स्थिति में रखते हुए उनका प्रयोग करे—

अंगूठे के साथ वाली दोनों अंगुलियों से आँखों की नीचे और ऊपर वाली पलकों को कोमलता से बन्द कर तीसरी अँगुलि से नाक के दोनों नथुने दबाकर बन्द कर लेना चाहिए। चौथी छोटी अंगुलि से मुख के नीचे वाले ओष्ठ को नीचे से दबा कर इस प्रकार ऊपर उठाना चाहिए कि दोनों ओष्ठ परस्पर मिलकर बन्द हो जायें। तदनन्तर श्वास को अन्दर रोककर 'मूलबन्ध' और 'उड्डियान बंध' लगाना चाहिए। असह्य स्थिति होने पर दोनों अनामिका और कनिष्ठिका अंगुलियां हटाकर शनैः शनैः रेचक करना चाहिए।

लाभ—यह कुम्भक मनो मूर्च्छाकारक है, अतः इससे मन की चञ्चलता दूर होकर उसमें एकाग्रता आती है। मानसिक तनाव और उद्वेग की स्थिति शान्त होती है तथा मानसिक विकारों का शमन होता है। यह वीर्यरक्षा का अपूर्व साधन है, परिणामतः तत्सम्बन्धी विकारों का शमन होता है। इसके अतिरिक्त जठराग्नि के विकार दूर होकर पाचन क्रिया सामान्य होती है और उदर व फुफ्फुस सम्बन्धी विकारों का शमन होता है।

८ प्लाविनी

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्म.त्रवत् ॥

—हठयोग प्रदीपिका २/७०

अर्थात् शरीर के अन्दर प्रवृत्त किए हुए अत्यधिक वायु से पूरित उदर वाला योगी अगाध जल राशि में भी कमल के पत्ते की भांति सुख पूर्वक तैरता है।

विधि—सर्वप्रथम पद्मासन में बैठकर पूरक करना चाहिए और पूरक के द्वारा अधिकाधिक वायु अन्दर भरकर उदर को फुला लेना चाहिए। पुनः रेचक के द्वारा शनैः शनैः वायु बाहर निकालकर उदर को खाली कर देना चाहिए। तत्पश्चात् पुनः पूरक करके रेचक करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार इस क्रिया की आवृत्ति करना चाहिये।

लाभ—प्लाविनी नामक इस कुम्भक के अभ्यास से सभी प्रकार के उदर विकार मिट जाते हैं, उदर की शुद्धि हो जाती है और पाचन क्रिया ठीक रहती है। इस कुम्भक के द्वारा शरीर एकदम हल्का हो जाता है और वह निराबाध रूप से पानी में कमल पत्र की भांति तैरने लगता है। अर्थात् हल्का होने से वह डूब नहीं पाता।

इस प्रकार हठयोग में 'कुम्भक' के आठ भेद बतलाए गए हैं। इस अष्ट विध कुम्भक के द्वारा शरीर में सभी प्रकार की नाड़ियों की शुद्धि होती है और शरीर में

स्थित सभी प्रकार के मलों का निर्हरण होता है, जिससे मनुष्य के समस्त शारीरिक और मानसिक विकारों का उपशम होता है तथा वह पूर्णतः शारीरिक और मानसिक स्वस्थता का अनुभव करता है। यहीं पर वह मानसिक उच्चता को भी प्राप्त करता है जिससे वह अपने आध्यात्मिक विकास अर्थात् आत्मकल्याण हेतु उन्मुख होता है। इस अष्टविध कुम्भक का अभ्यास करने के अनन्तर योगी **'केवल कुम्भक'** का अभ्यास करने के योग्य बन पाता है।

प्राणायाम का अभ्यास योगी या साधक को अपने लक्ष्य के और अधिक निकट पहुंचा देता है। प्राणायाम की साधना के परिणाम स्वरूप साधक के शरीर, मन और मस्तिष्क में कतिपय ऐसी विशिष्टताओं का समुद्भाव होता है जो सामान्य व्यक्ति में सामान्यतः नहीं होती हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि लगातार तीन वर्ष तक प्राणायाम की साधना करने वाला साधक अल्पाशी, तेजस्वी, बलवान, जितेन्द्रिय और अल्पनिन्द्रा वाला हो जाता है। वह अपमृत्यु से बचकर दीर्घायु प्राप्त करता है। वहाँ फल प्राप्ति की दृष्टि से प्राणायाम के तीन भेद किए गए हैं--अधम, मध्यम और उत्तम। प्राणायाम का इस प्रकार का वर्गीकरण दर्शनोपनिषद् (६/१४) एवं शाण्डिल्योपनिषद् (१/३३) में भी प्राप्त होता है। इनके फलों के विषय में कहा गया है कि अधम प्राणायाम से व्याधियों एवं पापों का नाश होता है, मध्यम प्राणायाम से पापों, रोगों और महा व्याधियों का नाश होता है तथा उत्तम प्राणायाम के फलस्वरूप योगी (साधक) के शरीर में लघुता और इन्द्रियों में पाटव आ जाता है।

अन्यत्र भी जैसे त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् (२/१०६-१३३), दर्शनोपनिषद् (६/२१-३१, ४४-४६) में प्राप्त विवरण के अनुसार विभिन्न अंगों में प्राण धारण करने से अनेक प्रकार के रोगों का नाश होता है, आरोग्य की प्राप्ति होती है, देह लाघव एवं वाक्सिद्धि होती है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/७,४,१/७/१३/६) में प्राणायाम को रोग मुक्ति पूर्वक शरीर की दृढ़ता का साधक बतलाया गया है। अमृतनादोपनिषद् (७-८) में प्राणायाम से दोषों-विशेषतः ऐन्द्रिय दोषों के दूर होने का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार योगतत्त्वोपनिषद् (५१-६२) में प्राणायाम की सिद्धि से मनुष्य को होने वाली विभिन्न सिद्धियों का निरूपण किया गया है। दर्शनोपनिषद् (६/१६-२०) में प्रतिपादित विवरण के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास से चित्त की शुद्धि एवं पापनाश पूर्वक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति योगी के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः।
प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति ॥

अर्थात् जो निरन्तर योग के अभ्यास में लगा हुआ है तथा अपने धर्म के

आचरण में संलग्न है उसे प्राण का संयमन (निरोध) करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और उस ज्ञान से वह मुक्ति को प्राप्त करता है।

प्राणायाम की विशेषताओं एवं प्राणायाम जनित परिणाम पर प्रकाश डालते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं—

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥

—ज्ञानार्णव २६/५४

अर्थात् प्राणायाम का अवलम्बन लेने वाले योगियों के चित्त स्थिर हो जाते हैं तथा इन्हें संसार का वृत्त प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र के इस कथन की तुलना महर्षि पतंजलि के इस कथन—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" (प्राणायाम के अभ्यास से योगी के प्रकाश (ज्ञान) के आवरण का क्षय हो जाता है-ज्ञानावरण कर्म का नाश हो जाता है) से की जा सकती है।

केवल कुम्भक से लाभ

कुम्भके केवले सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात्।
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुम्भात् कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्।
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते।

—हठयोग प्रदीपिका २/७३-७५

अर्थात् रेचक-पूरक (पूर्वक) से रहित केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस योगी के लिए ऐसी कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं रहती जो तीनों लोकों में विद्यमान हो। अर्थात् योगी तीनों लोकों में विद्यमान किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की सामर्थ्य वाला हो जाता है। केवल कुम्भक के द्वारा समर्थ योगी अपनी इच्छानुसार वायु का धारण करने से राजयोग के पद को भी प्राप्त कर लेता है—इसमें कोई संशय नहीं है। कुम्भक का निरन्तर अभ्यास करने से कुण्डली (कुण्डली की आधार शक्ति) का बोध होता है और वह जाग्रत होती है अर्थात् निद्रा भंग होती है और कुण्डली के बोध से सुषुम्ना नाडी अनर्गल (कफादि दोषों से रहित) हो जाती है तथा हठसिद्धि (हठयोग के अभ्यास की सिद्धि) होती है।

हठयोग सिद्धि का लक्षण

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ।।

—हठयोग प्रदीपिका, २/७८

अर्थात् देह की कृशता होना, मुख पर प्रसन्नता का भाव, ध्वनि की स्पष्टता, दोनों नेत्रों की निर्मलता, शरीर की निरोगता शुक्रधातु की अक्षीणता, जठराग्नि का प्रदीप्त होना और नाड़ियों की विशुद्धि होना ये हठयोग सिद्धि का लक्षण है।

हठयोग और राजयोग की सिद्धि

हठं बिना राजयोगं राजयोगं बिना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/७६

अर्थात् हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नहीं होती है। अतः राजयोग की सिद्धि पर्यन्त दोनों (हठयोग और राजयोग) का अभ्यास करना चाहिए।

राजयोग की प्राप्ति

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ।।

—हठयोग प्रदीपिका २/७७

अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के द्वारा प्राण का अवरोध कर लेने पर मन को निराश्रय कर लेना चाहिए। अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के होने पर ब्रह्माकार स्थिति से परे वैराग्य के द्वारा मन (अन्तःकरण) का विलय कर लेना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास योग के द्वारा योगी राजयोग पद को प्राप्त होता है।

प्राणायाम सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से न केवल योग साधना में प्राणायाम की उपयोगिता एवं महत्व की सिद्धि होती है अपितु मनुष्य के व्यवहारिक दैनिक जीवन में उसकी उपयोगिता का दिग्दर्शन होता है। प्राणायाम का अभ्यास मनुष्य के शरीर को अन्यान्य रोगों से तो दूर रखता ही है, उसके व्यवहारिक जीवन को सरल, सात्विक एवं निर्द्वन्द्व बनाता है जिससे उसे मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है और जीवन शान्ति एवं सुखमय रूप से व्यतीत होता है।

योगाङ्ग विवेचन—५ प्रत्याहार

पातञ्जल योग में प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार का कथन एवं विवेचन उसकी उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न ग्रंथों एवं दर्शन-शास्त्र में प्रत्याहार का प्रतिपादन मिलता है।

उपनिषदों में प्रत्याहार की साङ्गोपाङ्ग विवेचना की गई है। प्रत्याहार को षडङ्ग योग के प्रतिपादक अमृतनादोपनिषद् (६) में प्रथम, ध्यानबिन्दूपनिषद् (४१) एवं योग चूडामण्युपनिषद् (२) में तृतीय, अष्टाङ्ग योग में पञ्चम तथा पञ्चदशाङ्ग योग में बारहवां योगाङ्ग माना गया है।

प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रियां अपने बहिर्मुख विषयों से अलग होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है।

उपनिषदों में इसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया गया है। त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार चित्त का अन्तर्मुखी भाव होना ही प्रत्याहार है। यथा—

चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।

इसी प्रकार मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार इन्द्रियार्थ रूप विषयों से मन का निरोध करना प्रत्याहार होता है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—

विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः।

इसी प्रकार निम्न उद्धरण भी प्रत्याहार के उपर्युक्त स्वरूप का प्रतिपादन करता है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्।
......................प्रत्याहारः स उच्यते॥

—योगतत्वोपनिषद्

अर्थात् अपने विषयों में स्वभावतः प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों का प्रयत्नपूर्वक या बलपूर्वक तत्तद् विषयों से आहरण करना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

स्वविषयों में संलग्न चक्षु आदि इन्द्रियों को उन विषयों में प्रवृत्त होने से रोकना प्रत्याहार कहलाता है ।

अन्य उपनिषदों में प्रतिपादित प्रत्याहार का स्वरूप निम्न प्रकार है—

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन् समाहितः ।
प्रत्याहारो भवेदेषः..................॥

—दर्शनोपनिषद् ७/२-३

अर्थात् दृश्य मात्र में ब्रह्म का दर्शन करते हुए जब योगी समाहित चित्त हो जाता है तब वह प्रत्याहार होता है ।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा.....................।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/३४

अर्थात् समस्त विषयों में जब आत्मरूपता का अनुभव होने लगता है तो उसे प्रत्याहार समझना चाहिये । उसका अभ्यास बार-बार करना चाहिये ।

उपर्युक्त की व्याख्या करते हुए ब्रह्मयोगी लिखते हैं—

"विषयसामान्यब्रह्मदृष्टिः प्रत्याहारः ।।"

अर्थात् सामान्य विषयों में ब्रह्म दृष्टि हो जाना प्रत्याहार है । यह वस्तुतः **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के अनुरूप संसार के समस्त पदार्थों में ब्रह्म भाव की प्रतीति कराता है ।

अन्यत्र चित्त को विषयों से प्रत्याहृत कर निर्विकल्प निर्द्वन्द्व आत्म तत्त्व में निरुद्ध कर देने को प्रत्याहार निरूपित करते हुए कहा गया है कि इस प्रत्याहार के अभ्यासी के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है—

देहे त्वात्ममतिं विद्वान् समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।
एवमभ्यसतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥

—दर्शनोपनिषद् ७/१३-१४

अर्थात् सुधी मनुष्य को शरीर में आत्म बुद्धि को करके चित्त को विषयों से प्रत्याहृत करके समाहित होता हुआ निर्द्वन्द्व (द्वन्द्व रहित) और निर्विकल्प (विकल्प रहित) आत्म तत्त्व में मन का निरोध करना चाहिये । वेदान्तज्ञों के द्वारा इसे प्रत्याहार कहा

गया है। इस प्रकार के प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले साधक के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

प्रत्याहार के उपर्युक्त स्वरूप प्रतिपादन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्याहार की इस अवधारणा के दो प्रमुख तत्त्व हैं—एक चित्त का विषयों से आहरण और दूसरा निर्विकल्प आत्मतत्त्व या ब्रह्म में निरोध। ये दोनों ही तत्त्व एक दूसरे से अनुबन्धित हैं। इनमें प्रथम तत्त्व की सफलता एवं सिद्धि होने पर ही द्वितीय तत्त्व की उपलब्धि या सिद्धि सम्भव है।

इसके अतिरिक्त मरण पर्यन्त किए जाने वाले समस्त शुभ या अशुभ (अच्छे या बुरे) कर्मों को ब्रह्मार्पित कर देने अथवा नित्य एवं काम्य कर्मों को ब्रह्माराधन बुद्धि से करना भी प्रत्याहार कहलाता है। जैसा कि निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्।
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते॥
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः।
काम्यानि च तथा कुर्यात् प्रत्याहारः स उच्यते॥

—दर्शनोपनिषद् ७/३-५

प्रत्याहार का एक अन्य स्वरूप वायु का आहरण या आपूरण कर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर निरुद्ध करना है। दर्शनोपनिषद् में इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि साधक को स्वस्तिकासन में बैठकर आपाद मस्तक वायु का आपूरण करना चाहिये। तदनन्तर उसे पादद्वय, मूलाधार, नाभिकन्द, हृन्मध्य, कण्ठ-मूल, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं मूर्धा में धारण करना चाहिये। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/१२९-१३३) में प्राप्त विवरण के अनुसार १८ मर्म स्थानों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हुए प्राणवायु को धारण करना प्रत्याहार कहलाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार का लक्षण निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।"

—योग दर्शन, साधनापाद ५४

—अपने विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण की भांति करना अर्थात् चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से प्राणायाम का अभ्यास करते करते जब मन और इन्द्रियां शुद्ध हो जाती हैं उसके बाद इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को चारों ओर से समेटकर मन में विलीन करने के अभ्यास का नाम 'प्रत्याहार' है। साधना काल में जब साधक इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके चित्त को अपने ध्येय में लगाता है उस समय इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति न होकर चित्त में ही विलीन

होने की जो स्थिति है वही प्रत्याहार की सिद्धि होने की सूचक है। जिस प्रकार मधु का निर्माण करने वाली मक्खियाँ अपनी रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां भी चित्त के अधीन होकर काम करती हैं। चित्त की अनवस्थता, चञ्चलता और विषयानुसरण आदि की स्थिति के कारण जब वह विषयाभिमुख होता है तो इन्द्रियां भी तदनुरूप ही विषयों का ग्रहण करती हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि के प्रभाव से - चित्त जब बाह्य विषयों से रिक्त होकर समाहित होने लगता है तब इन्द्रियां भी अन्तर्मुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है।

प्रत्याहार की स्थिति में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्म तत्व के अभिमुख हो जाता है, किन्तु इन्द्रियां केवल बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्त में ही तदाकार या विलीन हो जाती है। वे चित्त की भांति आत्मतत्व के अभिमुख नहीं होतीं। इसीलिए 'अनुकार इव' अर्थात् 'नकल जैसा' कहा गया है। यदि उस समय भी इन्द्रियाँ पूर्व के अभ्यास की ही भांति मन के सम्मुख बाह्य विषयों की अनुकृति या स्वरूप उपस्थित करती रहें तो समझना चाहिए कि प्रत्याहार नहीं हुआ। कठोपनिषद् में भी वाक् शब्द से उपलक्षित इन्द्रियों को मन में निरुद्ध करने की बात कहकर यही भाव व्यक्त किया है—

यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञः। —कठोपनिषद् १/३/१३

—बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वह वाक् आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति बाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर दे अर्थात इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मन में विषयों की स्फुरणा न हो।

प्रत्याहार के द्वारा जब मन निरुद्ध हो जाता है तो समस्त इन्द्रियां अपने आप ही निरुद्ध हो जाती हैं और चित में ही उनकी समस्त प्रवृत्तियां विलीन हो जाती हैं। फिर पृथक् से इन्द्रियों को जीतने के लिए किसी अन्य अपाय की उपेक्षा नहीं रहती। इन्द्रियों की प्रवृत्ति के विषय में कठोपनिषद् में बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

—कठोपनिषद् २/४/१

—स्वयंभू ने (इन्द्रियों के) छिद्रों को बाहर की ओर छेदा है अर्थात् बहिर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर ही देखता है, अन्दर नहीं देखता। कोई विरला ही धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आंखों अर्थात् इन्द्रियों को बन्द कर (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहार के द्वारा) अन्तर आत्मा को देखता है अर्थात् स्वात्मानुभव करता है।

इस प्रत्याहार का फल बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । —योगदर्शन, साधनापाद ५

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों की सर्वोत्कृष्ट वश्यता होती है अर्थात् प्रत्याहार से इन्द्रियां एकदम वशीभूत हो जाती हैं।

इसका सामान्य अभिप्राय यह हुआ कि इन्द्रियों का अपना कोई महत्व या उपयोगिता नहीं रहती। उनका सम्पूर्ण व्यापार बन्द हो जाता है और वे बाह्य विषयों को ग्रहण करना बन्द कर देती हैं। "इन्द्रियों का वशीभूत होना" इसके अर्थ प्रतिपादन में अन्यान्य लोगों का अलग-अलग मत है। व्यासभाष्य में इसको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है—

१—कुछ लोगों का मत है कि शब्द आदि विषयों में आसक्त नहीं होना अर्थात् स्वयं विषयों के अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता या इन्द्रियजय है।

२—कुछ अन्य लोगों के मतानुसार वेदशास्त्र से अविरुद्ध विषयों का सेवन और उनसे विरुद्ध विषयों का परित्याग करना इन्द्रियजय है।

३—कुछ इस मत का अनुसरण करने वाले विद्वान् भी हैं जिनके अनुसार सांसारिक विषयों में न फंसकर अपनी इच्छानुसार विषयों के साथ इन्द्रियों का संप्रयोग होना इन्द्रियजय है।

४—कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि राग-द्वेष के अभाव पूर्वक सुख-दुःख से शून्यादि विषय का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

उपर्युक्त इन मतों का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन और विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये मत इन्द्रियवश्यता वा इन्द्रियजय के व्यापक क्षेत्र को स्पर्श नहीं करते हैं। इनमें प्रतिपादित अभिप्राय के अनुसार किसी न किसी रूप में इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध बना रहता है, जिससे पूर्णतः इन्द्रिय जय नहीं हो पाता और पुनः स्खलन की सम्भावना बनी रहती है। भगवान् जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति नहीं होना ही इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय जय के उपाय में प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों की परम वश्यता यथेष्ठ और पूर्ण होती है।

सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् इन्द्रिय-निग्रह को ही प्रत्याहार मानते हैं। उन्होने अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनात्मक शैली में इसका प्रतिपादन किया है। उनकी विवेचना के अनुसार प्रत्याहर अथवा इन्द्रियों को बाहर की उनकी प्राकृतिक क्रियाओं से हटा लेना आधुनिक मनोविज्ञान की अन्तर्मुखी प्रक्रिया के अनुरूप है। आधुनिक मनोविज्ञान की

अन्तर्मुखता की प्रक्रिया का प्रतिपादन प्लेटोकृत फीडो में निम्न प्रकार से किया गया है—"और विचार सबसे उत्तम तब होता है जबकि मन अपने आप में संयत होता है और कुछ भी उसे तंग नहीं करता —न शब्द, न दृश्य, न दुख और न कोई सुख। जब शरीर के साथ उसका यथासम्भव कम से कम वास्ता रहता है, तथा कोई शारीरिक बोध या अनुभूति नहीं रहती और वह केवल सत् को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखता है।"

प्रत्याहार वस्तुतः हमें यह प्रेरणा देता है कि दृढ़ संकल्पपूर्वक मन को समस्त बाह्य प्रभावों के लिए बन्द कर लेना चाहिये। इससे इन्द्रिय-निग्रह पूर्वक मन के नियंत्रण का आभास मिलता है। स्तोत्रकार का कथन है—"निश्चित हो और जानो।" नियन्त्रण हमसे चाहता है कि हम स्वेच्छाचारी मानसिक आवेगों और आग्रह पूर्ण विचारों को सदा सर्वदा के लिए तिलाञ्जलि दे दें और विविध संकल्प-विकल्पों से उसे शून्य कर दें। वस्तुतः सहज स्वाभाविक मानवीय संवेदनशील अनुभूतियों की गहराइयों में जब मन डूबने उतराने लगता है तो वह मनुष्य को इन्द्रियों के माध्यम से सांसारिकता की ओर अभिमुख या प्रेरित करता है। इस स्थिति से बचने के लिए ही दृढ़ संकल्प पूर्वक मनोनियन्त्रण का निर्देश प्रत्यहार के अन्तर्गत दिया गया है। मन स्वयं एक इन्द्रिय है और सभी इन्द्रियों की अपेक्षा शरीर में उसका विशिष्ट स्थान है—इसका विवेचन मन के प्रकरणान्तर्गत किया जा चुका है। प्रत्याहार के अन्तर्गत जब इन्द्रिय-निग्रह की बात कही जाती है तो उससे मनो निग्रह का निर्देश स्वतः ही मिल जाता है। यह स्थिति वस्तुतः आत्म-शुद्धि की अवस्था को प्रस्तुत करती है जिससे योग के अग्रिम अंगों धारणा-ध्यान-समाधि के साधन में सहायता मिलती है। निष्ठापूर्वक यदि प्रत्याहार का अनुशीलन कर उसकी उत्कृष्ट स्थिति याने आत्म शुद्धि को प्राप्त कर लिया जाय तो अग्रिम अंगों की साधना सुगम हो जाती है और योगी लक्ष्य सिद्धि के अधिक निकट पहुंच जाता है।

योग साधना में प्रत्याहार की उपयोगिता निरूपित करते हुए आचार्य शुभचन्द्र निम्न प्रकार से उसकी अनुशंसा करते हैं—

> **सम्यक्समाधिसिद्ध्यर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते।**
> **प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति॥**
> **प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविवर्जितम्।**
> **चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत॥**

समाधि को भली भांति सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार की अनुशंसा की जाती है। प्राणायाम से (क्षोभ को प्राप्त) हुआ मन स्वस्थता को प्राप्त नहीं करता है। किन्तु

प्रत्याहार को प्राप्त हुआ मन स्वस्थ और समस्त उपाधियों (संकल्प-विकल्पों) से रहित होकर समता भाव को प्राप्त होता हुआ अपने आत्म स्वरूप में लीन हो जाता है।

इस प्रकार प्रत्याहार की साधना योगी को और अधिक उत्कृष्ट अवस्था तक पहुंचा देती है। प्रत्याहार के द्वारा योगी ऐसी स्थिति को प्राप्त करता है जिसे प्राणायाम के द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्याहार की श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता स्पष्ट है।

योग के पूर्वोक्त चार अंग यम-नियम-आसन-प्राणायाम और प्रस्तुत यह पांचवां अंग प्रत्याहार—ये पाँचों अंग योग के बहिरंग होने से उसके सहायक साधन हैं, उसके अन्तर्निहित अंश नहीं हैं।

अन्तः योगाङ्ग—धारणा, ध्यान, समाधि

इससे पूर्व पांच योगाङ्गों यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार क वर्णन किया का चुका है। यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त पांच योगाङ्ग बहिरंग साधन कहलाते हैं। पांच योगाङ्ग बाह्य क्रिया कलापों से सम्बन्धित होने के कारण तथा विभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधन के रूप में प्रयुक्त होने व अंतरंग साधनों की सिद्धि के लिए दृढ़ आधार रूप भूमिका तैयार करने के कारण उन्हें बहिरंग साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त योग साधना में नवदीक्षित साधकों के सामान्य अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण होने के कारण उन्हें बहिरंग साधन के रूप में माना गया है। शेष तीन योगाङ्ग-धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग साधन कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध पूर्णतः अन्तर्जगत् अर्थात् आत्म संसाधन से है। इन तीनों का सम्मिलित स्वरूप '**संयम**' कहलाता है। क्योंकि वैसे तो इन तीनों का अपना अलग अलग अस्तित्व और महत्व है। किन्तु जब तीनों किसी एक ध्येय में पूर्णतया किए जाते हैं तब इनका नाम 'संयम' हो जाता है। अन्तः योगांग के रूप में धारणा और ध्यान प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं तथा समाधि योग की पूर्णता को प्रस्तुत करती है। चैतन्य को निरन्तर बाह्य क्रियाओं और आभ्यन्तर परिवर्तनों से हटाकर ही सत्य रूप से जाना जा सकता है। मनुष्य का चंचल और विक्षुब्ध मन अपनी जिज्ञासा वृत्ति के कारण पृथ्वी और स्वर्ग के गूढ़तम रहस्यों को जानना चाहता है, किन्तु बाह्य प्रलोभनों में भ्रमित होकर वह अपनी वृत्तियों को संसार तक ही सीमित रखता है। उपर्युक्त पांच अंगों के द्वारा जब उसका पूर्णतः परिष्कार या संस्कार हो जाता है तो अन्तः योगाङ्ग उस संस्कारि अन्तःकरण रूप मन की दृढ़ भूमि पर साधना की सुदृढ़ भित्ति तैयार करते हैं। अतः प्रत्येक सत्यान्वेषी मुमुक्षु योगाभ्यासी को अपने हृदय में ज्ञानालोक के द्वारा धारणा-ध्यान-समाधि रूप साधना का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

धारणा

• विभिन्न उपनिषद् में धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसमें शब्दों की विभिन्नता होते हुए भी भाव की एक रूपता है। जिन उपनिषद में योग के पञ्चदशाङ्ग

माने गए हैं वहाँ इसे तेरहवें अङ्ग के रूप में, जहाँ योग के आठ अङ्ग माने गए हैं वहां छठे अङ्ग के रूप में और जहां योग के षडङ्ग स्वीकृत किए गए हैं वहाँ चतुर्थ अङ्ग के रूप में धारणा को स्वीकार किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३१) में इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि चित्त का निश्चली भाव होना ही धारणा है और शरीरगत पञ्चमहाभूतों में मनो धारण रूप धारणा भवसागर को पार कराने वाली (सांसारिक बंधनों से मुक्त कराने वाली) होती है। दर्शनोप० (८/१/३) में धारणा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसके अनुसार शरीरगत पञ्चभूतांश बाह्य पञ्चभूतों की धारणा करना ही यथार्थ धारणा है। यहाँ पर पञ्चविध धारणा का निरूपण किया गया है। इसी प्रकार योगतत्वोप० (८४-१०२) एवं दर्शनोप० (८/४-६) में शरीर के विभिन्न भागों को पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश का स्थान बतलाया गया है। इनमें से प्रत्येक स्थान में पञ्च घटिका पर्यन्त क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर एवं सदाशिव की धारणा करने से साधक के तत्तद् महाभूतों से भययुक्त होकर खेचरत्व सम्पादित कर सुख प्राप्त करने का प्रतिपादन किया गया है। योगतत्वोप० (७३-७६) में धारणा के अभ्यास से प्राप्य सिद्धियों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही साधक को इनके आकर्षण से बचने का परामर्श दिया गया है। क्योंकि ये सिद्धियां क्षुद्र होती हैं इनसे केवल भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। अत: ये महासिद्धि तथा योगी के मूल लक्ष्य 'मुक्ति' की प्राप्ति में बाधक होती हैं। योगतत्वोप० (१०३-१०४) में पांच प्रकार की धारणा का फल बतलाते हुए कहा गया है कि पञ्चविध धारणा की सिद्धि से योगी दृढ़ शरीर वाला एवं मृत्युञ्जयी हो जाता है।

अन्य उपनिषदों में भी व्यापक रूप से धारणा की चर्चा करते हुए उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जैसे मण्डलब्राह्मणोप० (१/१/६) में विषयव्यावर्तन पूर्वक चैतन्य में चित्त को स्थापित करना धारणा बतलाया गया है। योगतत्वोप० (६९-७२) के अनुसार पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयों में आत्मा या ब्रह्म की भावना होना तथा तेजोबिन्दूप० (१/३५) के अनुसार मन के विषयों में ब्रह्मभाव की अवस्थिति होना ही धारणा है। दर्शनोप० (८/७-९) में पुरुष अर्थात् आत्मतत्व में सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वशास्ता शिवतत्व की धारणा करने का उपदेश दिया गया है। शाण्डिल्योप० (१/९) में आत्मा में मन, दहराकाश में बाह्याकाश तथा पंचमहाभूतों में पंचमूर्ति की धारणा का निरूपण किया गया है। इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों में धारणा का विवेचन एवं प्रतिपादन व्यापक रूप से किए जाने के कारण उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट एवं गम्य हो गया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तर्गत यह योग का छठा अंग है। मन (चित्त) को एक विशेष स्थान पर स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। यह वस्तुत: मन की स्थिरता का द्योतक है। हमारे सामान्य दैनिक जीवन में विभिन्न प्रकार

के विचार आते जाते रहते हैं। दीर्घकाल तक स्थिर रूप से वे नहीं टिक पाते और मन की सामान्य एकाग्रता केवल अल्प समय के लिए ही अपनी पूर्णता में रहती है। इसके विपरीत धारणा में सम्पूर्णतः चित्त की एकाग्रता की पूर्णता रहती है। सामान्यतः नाभिचक्र, हृदय कमल आदि शरीर के आभ्यन्तरिक देश हैं और आकाश, सूर्य-चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति अथवा कोई भी पदार्थ बाह्य देश हैं। इनमें से किसी एक देश में चित्त की वृत्ति लगाने का नाम धारणा है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा धारणा का निम्न लक्षण बतलाया गया है—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योगदर्शन, विभूतिपाद—१

—वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष में चित्त का बांधना 'धारणा' कहलाता है।

चित्त बाह्य विषयों को वृत्तिमात्र से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्ति मात्र से ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय में तदाकार होकर स्थिर रूप से भासने लगती है अर्थात् स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी देश विशेष में चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है और तदाकार रूप होकर उसका अनुभव होने लगता है तो वह 'धारणा' कहलाता है। धारण के उपर्युक्त लक्षण में देश और बन्ध इनका विशेष महत्व है। अतः इनके अभीष्ट पदार्थ का ज्ञान होना परमावश्यक है। इसी दृष्टि से यहां इनका स्वरूप प्रतिपादित किया गया है—

देश—जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जाय वह नाभि, हृदय-कमल, नासिका अग्रभाग, भ्रकुटी, ब्रह्म रन्ध्र आदि आध्यात्मिक देश रूप विषय अथवा सूर्य, चन्द्र, ध्रुव कोई मूर्ति आदि बाह्य देश रूप विषय का नाम ही देश है। इनमें से किसी एक (देश) में चित्त की वृत्ति या ध्यान लगाया जाता है, इसलिए इसे ही ध्येय कहते हैं।

बन्ध—अन्य विषयों से हटाकर चित्त को एक ही ध्येय विषय पर वृत्तिमात्र से ठहराना 'बन्ध' कहलाता है।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के द्वारा जब चित्त और उसकी वृत्ति स्थिर हो जाय तब उसे अन्य विषयों से हटाते हुए एक ही ध्येय विषय में वृत्तिमात्र से बांधना या ठहराना 'धारणा' कहलाता है। यह स्थिति सामान्यतः नाभि आदि स्थानों में वायु की और साथ ही परमात्मा का ध्यान पूर्वक स्मरण करके मन की स्थिरता होने से होती है। सामान्यतः निरन्तर प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से वायु की नाभि आदि स्थानों में स्वतः स्थिरता हो जाती है। उसके बाद सतत अभ्यास के द्वारा योगी (साधक) दृढ़भूमि हो जाता है। दृढ़भूमि होने से योगी स्वेच्छानुसार जिस स्थान में वायु का निरोध करना चाहता है कर लेता है। वहाँ प्राणापानादि के विकार दूर होकर उसे 'दिव्य शक्ति' प्राप्त होती है। नाभिचक्र में संयम करने से जठराग्नि में सूक्ष्मता और

विशेष बल आ जाता है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है। जठराग्नि शरीरगत सभी प्रकार के पाचन, परिवर्तन और परिवर्धन के लिए उत्तरदायी है, वह सभी क्रियाओं, संस्थानों और अवयवों का नियंत्रक, पोषक और धारक है। वह शरीर के सूक्ष्मतम अणु अंश को अपने तेज और पाकादि क्रिया से प्रभावित करती है। उसमें सूक्ष्मता और विशेष बल सम्पन्नता आ जाने से सम्पूर्ण पाचन संस्थान में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप योगी के शरीर में किसी प्रकार की विकृति या व्याधि उत्पन्न नहीं होती है। उसकी भूख और प्यास नियन्त्रित हो जाती है जिससे कई कई दिनों तक योगी यदि आहार ग्रहण न करे तब भी उसके शरीर पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। यही कारण है कि कई योगियों को लगातार अनेक दिनों तक निराहार देखा गया है।

जाठराग्नि के दिव्य प्रभाव से योगी के शरीर में आद्य रस धातु का निर्माण तीव्रता से होता है तथा मल-मूत्र का निर्माण अल्प मात्रा में निर्गन्ध और संयत रूप में होता है। योगी के शरीर में धातु-साम्य रहने से रोग या विकार उत्पन्न नहीं होता, जिससे शरीर और अंग-प्रत्यंगों में लाघव, स्फूर्ति, उत्साह और क्रियाशीलता रहती है। योगी का सम्पूर्ण शरीर सुवासित रहता है, वाणी में माधुर्यभाव और गम्भीरता रहती है तथा मुखमण्डल पर तेज और कान्ति का समन्वित रूप लक्षित होता है।

योगी के द्वारा जिस प्रकार नाभिचक्र में संयम करने से उपर्युक्त वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार कपाल में संयम करने से धी-धृति-स्मृति (बुद्धि-धैर्य-स्मरणशक्ति) अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है जिससे योगी गहनतम, सूक्ष्मतम, गम्भीरतम और दुर्बोध विषयों को ग्रहण, धारण और स्मरण रखने की अपूर्व सामर्थ्य-वाला हो जाता है। योगी के लिए कोई भी विषय दुर्लभ नहीं रहता। योगी को अपनी नासिका के अग्रभाग में 'दिव्य गंध' और रसना के अग्रभाग में 'दिव्य रस' की अनुभूति होती है। कण्ठकूप में संयम करने से क्षुधा-तृषा आदि विकार भावों पर नियन्त्रण एवं विजय प्राप्त होती है। योगी को वायु के द्वारा ही उत्तमोत्तम रसास्वादन होता रहता है जिससे उसे क्षुधा और तृषा का अनुभव नहीं होता। हृदय कमल में संयम करने से योगी का चित्त स्फटिक मणि की भांति निर्मल और स्वच्छ हो जाता है, चित्त में स्थिरता एवं प्रसन्नता बनी रहती है। उसका हृदय या मन विकाराभिभूत नहीं होता, उनमें रज और तम गुण का अभाव हो जाता है तथा एकमात्र शुद्ध सात्विक भाव विद्यमान रहता है। इसी प्रकार अन्य अंग-प्रत्यंगों और नाड़ियों-चक्रों आदि पर संयम करने से शरीर मात्र पर नियन्त्रण और दिव्य विभूति प्राप्त होती है। जैसे—शीतोष्णता का अनुभव नहीं होना, दिव्य दृष्टि, दिव्य श्रवणशक्ति, दिव्य वाक्शक्ति, दिव्य चेष्टा, दिव्य बल, दिव्य गति, दिव्य क्रिया, दिव्य प्रवृत्ति आदि की प्राप्ति होना।

अनेक योगी इन्हीं दिव्य शक्तियों के द्वारा लोगों को चमत्कृत करके प्रसंशा अर्जित करते हैं। किन्तु यह वस्तुत: उचित नहीं है। क्योंकि इससे योगी अपने आध्यात्मिक चरम लक्ष्य को भूल कर भौतिक चमत्कार में ही लग जाता है और उसकी साधना अपनी लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही अपूर्ण रह जाती है।

ध्यान

साधना के क्षेत्र में ध्यान का महत्व सर्वोपरि है। योग दर्शन में भी एक स्वतन्त्र अंग के रूप में उसका महत्व स्वीकृत है। महात्मा बुद्ध ने ध्यान को बहुत अधिक महत्व दिया था, जबकि तीर्थंकर महावीर की जैन शासन परम्परा में उसे सर्वोच्च स्थान दिया गया था। उपनिषदों के प्रवर्तक ऋषिगण ध्यान के महत्व से भलीभाँति परिचित थे। इससे स्पष्ट है कि साधना पद्धति में ध्यान की अवस्थिति एवं अनिवार्यता का अनुसन्धान और अभ्यास सुदूर अतीत में हो चुका था।

'ध्यान' हमारी चेतना की ही एक अवस्था विशेष है, वह अध्यात्म विद्या का प्राण और साधना का प्रमुख अंग है। ध्यान के बिना न केवल साधना पद्धति अपितु समग्र अध्यात्म विद्या अपूर्ण है, पंगु है।

ध्यान आत्म ज्ञान प्राप्ति का एक मात्र साधन है, अतः वह आत्मा का परम हितैषी तत्व है, क्योंकि उसके माध्यम से ही मनुष्य अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। यही भाव आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद् ध्यानं हितमात्मनः॥

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर्मों का क्षय होने से होती है, कर्मों का क्षय आत्म ज्ञान से होता है, वह आत्म ज्ञान केवल ध्यान साध्य है यानें ध्यान से ही आत्म ज्ञान प्राप्त होता है, वह आत्म ज्ञान आत्मा का हितकारी तत्व है।

ध्यान के साधन के लिए समत्व का अवलम्बन आवश्यक है। इसी का निर्देश करते हुए कहा गया है—

समत्वमवलम्ब्याथ ध्यानं योगी समाश्रयेत्।
बिना समत्वमारब्धे ध्याने स्वात्मा विडम्ब्यते॥

अर्थात् समत्व का अवलम्बन लेकर योगी ध्यान का अभ्यास करे। समत्व के बिना ध्यान का आरम्भ करना आत्म विडम्बना मात्र है।

यह धारणा से आगे की स्थिति है। वस्तुत: धारणा की अवस्था में योगी जब इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि केवल ईश्वरोपासना या परमात्मा के अनुचिंतन में ही वह स्वयं को केन्द्रित कर लेता है, तब उसकी स्थिति मात्र हृदय

कमल में होती है और जीवात्मारूप वह परमात्मा में ही मग्न हो जाता है। उस समय वह बाह्य जगत् से बिल्कुल विमुख रहता है और विशुद्ध रूप से केवल परमात्मा के साक्षात्कार में ही निमग्न रहता है। वह भूल जाता है कि संसार में मेरी भी कोई स्थिति है या भौतिक संसार में मेरे शरीर का भी कोई अस्तित्व है। ध्यान वस्तुतः परमब्रह्म, निर्विकार, अद्वितीय, शुद्ध, चैतन्यमय, सत् आनन्दमय परमात्मा के अनुस्मरण में स्वयं की निरन्तर स्थिति का ही नाम है।

ध्यान की अवस्था बिना किसी विघ्न के समरूप से प्रवाहित रही विचारधारा का परिणाम है। यह ध्यान, मनन अथवा चिन्तन की उत्कृष्ट स्थिति है। ध्यान अपनी अवस्था की पराकाष्टा पर पहुंच कर समाधि में परिणत हो जाता है जहां अभिज्ञा का भाव लुप्त हो जाता है। शरीर और मन समस्त बाह्य प्रभावों के लिए निचेष्ट हो जाते हैं और केवल ध्यान का विषय, वह कुछ भी क्यों न हो, प्रकाशित रहता है। इस प्रकार धारणा सोर प्रकाश की अवस्था को प्रस्तुत करते हैं। ध्यान की चरम अवस्था में जब प्रकाश उद्भासित होता है तो योगी (साधक) को परम आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता है। ऐसे योगी जिसने अलौकिक आन्तरिक शान्ति का रसपान कर लिया है उसे वस्तुओं के सत्यज्ञान की अनुभूति होने लगती है और वह अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के अत्यधिक सन्निकट पहुंच जाता है।

जैसा कि व्यास ने कहा है—"बुद्धि का सत्व जिसका सारतत्व प्रकाश है, जब अशुद्धि के मल से उन्मुक्त हो जाता है तो स्फटिक के सदृश निर्मल एवं स्थिर प्रवाह का रूप धारण कर लेता है जिस पर रजोगुण या तमोगुण अपना अधिपत्य नहीं कर सकते और न ही किसी अन्य रूप से उसे प्रभावित कर सकते हैं।" इससे स्पष्ट है कि ध्यान की अवस्था में योगी सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त होकर अपने ध्येय के साथ तादात्म्य भाव स्थापित कर लेता है जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी आत्मा के यथार्थ ज्ञान के सन्निकट पहुंच जाता है और उसका लक्ष्य उसकी साधना से अधिक दूर नहीं रहता। इस अवस्था में पहुंचने के बाद योगी उस सीमा से बाहर निकल जाता है जिसमें उसके भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। अर्थात् इस अवस्था में किसी भी प्रकार की स्थिति योगी को अपनी साधना से विचलित या जिस पथ पर वह अग्रसर है उससे भ्रष्ट नहीं कर सकती।

ध्यान का अर्थ और स्वरूप

ध्यान शब्द की निष्पत्ति "ध्यै चिन्तायाम्" धातु से होती है, जिसका अर्थ होता है-चिन्तन करना। यहां पर ध्यान शब्द का धातु निष्पन्न उक्त अर्थ प्रासंगिक एवं सार्थक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ध्यान शब्द का प्रवृत्तिलभ्य अर्थ इससे भिन्न है, जिसके अनुसार चिन्तन नहीं, अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को एक ही लक्ष्य

पर स्थिर करना। सामान्यतः ईश्वर या परमात्मा में ही अपना मनोनियोग इस प्रकार करना कि केवल उसमें ही साधक निमग्न हो और किसी अन्य विषय की ओर उसकी वृत्ति आकर्षित न हो 'ध्यान' कहलाता है। योग शास्त्र के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र का एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृत्ति का नहीं उठना 'ध्यान' कहलाता है।

विभिन्न ग्रंथों में योग की सूक्ष्मतम विवेचना देखने को मिलती है। तत्वार्थ सूत्र में एकाग्र चिन्ता तथा शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है। यथा—

"उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमन्तर्मुहूर्तात्।"—तत्वार्थ सूत्र ९/२७

इस प्रकार ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं है, वह मन, वाणी और शरीर इन तीनों से सम्बन्धित है। इसी प्रकार आवश्यक निर्युक्त (१४६७-१४७८) के अनुसार उसकी निरेजन दशा—निष्प्रकम्प दशा ध्यान है। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने ध्यान का सम्बन्ध केवल मन के माना है। उनके अनुसार जिसमें धारणा की गई है उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता (अर्थात् सदृश प्रवाह) ध्यान है। यथा—

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" —योगदर्शन, विभूतिपाद-२

—उस देश में ध्येय विषयक ज्ञान या वृत्ति का लगातार एक जैसा बना रहना ध्यान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसमें धारणा की गई उसमें चित्त जिस वृत्ति-मात्र से ध्येय में लगता है वह वृत्ति जब इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदित होती रहे कि कोई दूसरी वृत्त बीच में न आये उसे 'ध्यान' कहते हैं।

यहां सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय से सम्बधित पहली वृत्ति हो, उसी विषय की दूसरी और उसी विषय की तीसरी हो—ध्येय से अन्य ज्ञान बीच में उपस्थित न हो अर्थात् जो अन्य ज्ञानों से अपरामृष्ट हो-वह ध्यान है। इससे स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि को एकाग्रता और निरोध-ये दोनों केवल चित्त के ही अभीष्ट हैं। गरुड़ पुराण में केवल ब्रह्म और आत्मा की चिन्ता को ध्यान बतलाया गया है। यथा—

"ब्रह्मात्म चिन्ता ध्यानं स्यात्" —गरुड़ पुराण अ० ४८

बौद्ध चिन्तन धारा में भी ध्यान का सम्बन्ध मन से बतलाया गया है, जबकि श्रमण चिन्तन पद्धति में ध्यान का सम्बन्ध वाणी और शरीर से भी है। इस प्रकार ध्यान केवल मानसिक ही नहीं, अपितु वाचिक और कायिक भी है। जैनाचार्यों के मतानुसार ध्यान में शरीर, वाणी और मन का निरोध ही नहीं होता, अपितु प्रवृत्ति भी होती है। ध्यान का अर्थ मात्र शून्यता या अभाव नहीं है। अपने आलम्बन में गाढ़ रूप से संलग्न होने के कारण जो निष्प्रकम्प हो जाता है वही चित्त (मानसिक) ध्यान कहलाता है। मृदु, अनवस्थित और अव्यक्त चित्त में ध्येयाकार की एकतानता या सदृश प्रवाह

नहीं होता, अतः उसे ध्यान नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः ध्यान चेतना की वह अवस्था है जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है अथवा बाह्य शून्यता होने पर भी आत्मा के प्रति जागरूकता अबाधित रहती है। कथन का सारांश यह है कि चिन्तन शून्यता ध्यान नहीं है और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है वह भी ध्यान है।

उपनिषदों में ध्यान के स्वरूप की विवेचना विस्तार पूर्वक की गई है। मैत्रेय्युपनिषद् (२/२) एवं स्कन्दोपनिषद् (११) में ध्यान की चर्चा करते हुए कहा गया है—"ध्यानं निर्विषयं मनः।"-मन का विषयों से विरहित हो जाना ध्यान है। इसके अतिरिक्त आत्म स्वरूप के चिन्तन को भी ध्यान बतलाया गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।

अर्थात् वह मैं ही चिन्मात्र ब्रह्मतत्व हूं—ऐसा चिन्तन करना ध्यान है।

एक अन्य उपनिषद् में भी यही भाव प्रतिपादित किया गया है—

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यातः…… ….. ॥

—तेजोबिन्दूपनिषद् १/३६

"मैं ही ब्रह्म हूं"—इस सद्वृत्ति से जो निरालम्ब रूप स्थिति उत्पन्न होती है वह ध्यान शब्द से विख्यात है।

इसी प्रकार सोऽहं के रूप में विश्वरूप योगीश्वरेश्वर महेश्वर अथवा सच्चिदानन्द परब्रह्म का ध्यान करने से वेदान्त का ज्ञान होता है। अर्थात् साधक को आत्म स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। योगतत्वोपनिषद् में सगुण एवं निर्गुण भेद से द्विविध ध्यान का प्रतिपादन करते हुए इष्ट देव के ध्यान को अणिमा आदि सिद्धियों का देने वाला सगुण ध्यान कहा गया है और निर्गुण ध्यान से समाधि की सिद्धि होने का प्रतिपादन किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् (१/१०) में भी ध्यान के सगुण और निर्गुण भेद किए गए हैं। वहां मूर्ति ध्यान को सगुण ध्यान और आत्मयाथात्म्य को निर्गुण ध्यान बतलाया गया है। अन्यत्र ध्यान का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

"सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्।"

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् १/१/७

सभी शरीरों में चैतन्य की एकतानता अर्थात् एक सदृश सतत प्रवाह होना ध्यान है।

इस प्रकार उपनिषदों में ध्यान का स्वरूप किंचित् भिन्नता के साथ प्रतिपादित किया गया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि योग के अन्तर्गत ध्यान वह

साधन है जो साधक को साध्य या लक्ष्य के अधिक समीप ले जाता है। ध्यान के द्वारा ही इष्ट साधन होता है और साधक अज्ञानान्धकार से निकल कर ज्ञान के आलोक में आत्म स्वरूप का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। यह स्थिति योगी के अन्तर्जगत् की उत्कृष्ट स्थिति की द्योतक है। ध्यान का परिणाम कितना आत्म कल्याणकारी होता है इसका प्रतिपादन आचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से किया है—

प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम् ।
तथा कुर्यो यथा दत्ते न पुनर्भवसम्भवम् ॥

प्रबल ध्यान रूपी वज्र के द्वारा पाप रूप वृक्ष का क्षय इस प्रकार कर देते हैं कि फिर पुनर्जन्म सम्भव न हो अर्थात् संसार परिभ्रमण जन्य दुःखों को भोगने के लिए पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़े।

ध्यान के प्रभाव से योगी किस प्रकार बाह्य और अन्तः समस्त विकल्पों से मुक्त होकर संसार के प्रति उदासीन वृत्ति वाला हो जाता है-इसका प्रतिपादन सुन्दर रूप से आचार्य प्रवर ने निम्न प्रकार से किया है—

बहिरन्तश्च समन्ताच्चिन्ता चेष्टापरिच्युतो योगी ।
तन्मयभावं प्राप्तः कलयती भृशमुन्मनी भावम् ॥

अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर सभी प्रकार की चिन्ताओं एवं चेष्टाओं को त्याग कर तन्मय भाव को प्राप्त हुआ योगी अत्यन्त उन्मनी भाव को प्राप्त करता है।

इस सन्दर्भ में चित्त की चञ्चलता बतलाते हुए आगे कहते हैं—

चेतोऽपि यत्र तत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम् ।
अधिकी भवति हि वारितमवारितं शान्तिमुपयाति ॥

—चित्त की प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ उसे रोकना नहीं चाहिये। वारित हुए चित्त की वृत्ति अधिक होती है और अवारित चित्त शान्ति को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि चित्त के सहज प्रवाह को समभाव से अवलोकन करने मात्र से ही चित्त शान्त हो जाता है।

समाधि

अष्टांग योग में समाधि का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। साधना की यह चरम अवस्था है जिसमें समाधिस्थ योगी का बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है जिसमें योगी चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। यही योग साधना का लक्ष्य है। अतः मोक्ष प्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना आवश्यक है। योग शास्त्र में समाधि को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन बतलाया गया है, इसीलिए योगशास्त्र समाधि के द्वारा मोक्ष साधन का आग्रह करता है। योगभाष्य में सम्भवतः इसीलिए योग को पारिभाषिक रूप में "समाधि" कहा गया है। यथा-"योगः समाधिः"-योग भाष्य १/१ इसे अन्य रूप में इस प्रकार से समझा जा सकता है --पातञ्जल योगशास्त्र में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः) समाधि अवस्था में भी योगी की समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। चित्त की वृत्तियां चूंकि अज्ञान-जनित होती हैं, अतः इन्हें रोकना-इनका निरोध करना आवश्यक है, तभी समाधि की सिद्धि या योग की स्थिति होती है। इस प्रकार दोनों ही स्थिति में चित्त की वृत्तियों का निरोध होने से दोनों में समानता है, अतः वस्तुतः समाधि और योग में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

योग की अवधारणा वाले लगभग सभी ग्रंथों में इसे योग के अन्तिम अंग के रूप में मान्य किया गया है। विभिन्न उपनिषदों में समाधि की विवेचना अथवा उसके स्वरूप का प्रतिपादन भिन्न रूप में किया गया हैं। किन्तु उसका सारतत्व लगभग समान है। विभिन्न शास्त्रों या ग्रंथों में समाधि की जो व्याख्या उपलब्ध होती है उसका साध्य रूप अन्तिम लक्ष्य समान है जो जीवात्मा के साथ परमात्मा की एकाकार अनुभूति रूप है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (२/३२) एवं मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् (१/१/१०) में प्रतिपादित विवेचन के अनुसार समाधि को ध्यान विस्मृति रूप बतलाया गया है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र (२/१५५) उपलब्ध विवेचनानुसार सर्ववृत्तिविर्जित अर्थात् समस्त मनोवृत्तियों के समाप्त हो जाने की स्थिति समाधि है। तेजोबिन्दूपनिषद् (१/३७) में भी लगभग यही भाव व्यक्त किया गया है। वराहोपनिषद् (२/७५) में आत्मा एवं मन के ऐक्य होने की स्थिति को समाधि कहा गया है जिसमें मन का अस्तित्व सम्पूर्णतः आत्मा में विलीन हो जाता है। योगतत्वोपनिषद् (१०७) में प्राप्त विवरण के अनुसार

जीवात्मा एवं परमात्मा की समतावस्था होना समाधि है जबकि दर्शनोपनिषद् (१०/१) में प्राप्त उल्लेखानुसार परमात्मा एवं जीवात्मा के ऐक्य का बोध होना समाधि है। इसी प्रकार का भाव अमृतानादोपनिषद् (१६) में निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—"**समं मन्येत यं लब्ध्वा स समाधि प्रकीर्तितः।**"

शाण्डिल्योपनिषद् (१/११) में जीवात्मा-परमात्मा की ऐक्य की त्रिपुटी रहित, परमानन्दस्वरूप, शुद्धचैतन्यात्मक अवस्था को समाधि निरूपित किया गया है। जबकि त्रिशिखिब्राह्मणोनिषद् (२/१६) के अनुसार समाधि वह स्थिति है जिसमें 'मैं ही परब्रह्म हूं'"—इस प्रकार का अनुभव करता हुआ योगी तदाकार अर्थात् ब्रह्म हो जाता है। परिणामतः वह समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है जिससे उसका पुनर्जन्म नहीं होता। समाधि का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए दर्शनोपनिषद् (१०/२-५) में कहा गया है कि नित्य, सर्वगत एवं कूटस्थ आत्मतत्व स्वरूपतः एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपों में दिखलाई पड़ता है। अतः भ्रान्त लोग अद्वय तत्व में ही जीव एवं ईश्वर का भेद कर लेते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि यह शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन ही "मैं" नहीं हूं, अपितु केवल साक्षिस्वरूप शिवतत्व ही "मैं" हूं—इस प्रकार की बुद्धि ही समाधि होती है।

वस्तुतः समाधि योग साधना की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में आलम्बन आभास से रहित ध्यान और ध्येय पृथक् रूप से भाषित होते हैं। जब ध्यान का अभ्यास या साधना अपनी चरम स्थिति पर पहुंच जाती है और साधक अपनी साधना के अगले सोपान पर पहुंचता है तो वह अवस्था ही समाधि होती है। ध्यान की अभ्यास प्रक्रिया जब विकास को प्राप्त करती है तो वह शनैः शनैः समाधि का रूप धारण करती जाती है। इस अभ्यास प्रक्रिया में मन पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य जाग्रत रहता है। यही कारण है कि साधक अन्ततः मोक्ष प्राप्ति रूप अपने लक्ष्य साधन में सफल होता है और यथार्थ अनुभूति करता है।

साधना अथवा योग की वह प्रक्रिया जिसमें ध्यानस्थ योगी की जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता अथवा जीवात्मा को अपने शुद्ध चिदानन्दमय स्वरूप का अनुभव होता है "समाधि" की स्थिति है। योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार ध्यान करते-करते चित्त जब ध्येयाकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है, उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय वह ध्यान ही "समाधि" कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया है—"**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**" —योग दर्शन ३/३

जब (ध्यान) में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वोक्त ध्येय विषयक ध्यान ही अभ्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित की भाँति होकर केवल ध्येय स्वरूप मात्र से

अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्था में ध्येय का अवलम्बन करने वाली जो वृत्ति समान प्रवाह से उदय होती रहती है वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित रहती है अर्थात् वह तीनों में तदाकार होती हुई ध्येय के स्वरूप से भासने वाली होती है। यही कारण है कि उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनों के बने रहने से ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को सम्पूर्णता से प्रकाशित नहीं करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येय की स्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ एवं ध्यान उसका प्रकाशन करने में अपने स्वरूप से शून्य जैसे होकर ध्येय स्वरूप मात्र के समान भासने लगे और ध्येय का स्वरूप ध्यातृ और ध्यान से अभिन्न होकर ध्येयाकार वृत्ति में सम्पूर्णता से प्रतिभासित होने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

व्यास भाष्य में समाधि के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा गया है—

"समाधिर्ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मके स्वरूपणशून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशा तदा समाधिरित्युच्यते।"

अर्थात् ध्येयाकार की प्रतीति कराने वाली ही समाधि है। प्रत्ययात्मक में जब ध्येय स्वभाव वाली प्रतीति स्वरूपण शून्य की भांति होती है तब वह समाधि कहलाती है।

जो साधक या योगी धारणा के अभ्यास से ध्यान की भूमिका में पहुंचता है फिर उसकी गति समाधि की ओर बढ़ती है, जिसको एकाग्रता की न्यूनाधिक सिद्धि हुई है और इसके फल स्वरूप चित्तवृत्तियों का क्षोभ कम हुआ है उसके चित्त की अवस्था चश्मे के निर्मल और पारदर्शक शीशे की भांति होती है। इसी को महर्षि पतञ्जलि ने अभिजात मणि कहा है। वह मणि या शीशा अपनी ओर से प्रतिबिम्ब में कुछ नहीं जोड़ता, अपितु जो पदार्थ उसके सामने आता है वह उसका विषय बनता है, उसको ज्यों का त्यों उपस्थित करता है और महर्षि पतञ्जलि के शब्दों में उस पदार्थ में तत्स्थ और उस पदार्थ से रंजित होता है। तत्स्थ का अर्थ है उसमें स्थित होना और तदञ्जनता का अर्थ है उससे रंगा जाना। निर्मल शीशा जो पदार्थ उसके सामने आता है उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसके साथ सारूप्य स्थापित कर लेता है। फलत: हम चश्मे के शीशे को नहीं प्रत्युत उस पदार्थ को देखते हैं। किसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं और वह चित्त शुद्ध होता है तो वह उन पदार्थों को जो उसके सामने विषय रूप से आते हैं यथावत् प्रकट करता है, उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। यही भाव महर्षि पतञ्जलि द्वारा योग सूत्र में निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"—१/४१

वृत्ति के क्षीण होने पर पारदर्शक मणि के समान गृहीता, ग्रहण और ग्राह्यों में तत्स्थता एवं तदञ्जनता की समापत्ति प्राप्त होती है। जो पदार्थ चित्त के सामने

जा सकते हैं या ज्ञानोपलब्धि में जिनकी स्थिति महत्वपूर्ण है वे तीन प्रकार के हैं। महर्षि पतञ्जलि ने उनके लिए ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य शब्दों का व्यवहार किया है। तीनों में तादात्म्य और तदञ्जनता का भाव होना समापत्ति है जिसका अर्थ होता है विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति। महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के अर्थ में भी समापत्ति शब्द का व्यवहार किया है।

ग्रहीता का अर्थ है पकड़ने वाला अर्थात् ज्ञान का धारण करने वाला। दूसरे शब्दों में उसे द्रष्टा या ध्याता भी कह सकते हैं। ग्रहण का अर्थ है ज्ञान और दर्शन का अर्थ है साधन, अर्थात् विशुद्ध या निर्मल ज्ञान की प्राप्ति। ग्राह्य से तात्पर्य है ग्रहण होने योग्य वस्तु अर्थात् वह वस्तु जो दृश्य या ध्येय है। इन्द्रियों के जितने भी विषय हैं वे सब ग्राह्य शब्द के अन्तर्गत हैं। पञ्चमहाभूत के अतिरिक्त पञ्च तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध भी ग्राह्य के अन्तर्गत आते हैं। इन्द्रियों की भी गणना ग्राह्यों में ही करना चाहिए। इसके साथ ही इन्द्रियां और अहंकार ग्रहण करने के उपकरण या साधन हैं, अतः ये सब ग्रहण हैं। बुद्धियुक्त पुरुष को ग्रहीता कहते हैं। शुद्ध आत्मा या पुरुष चिन्मय होने से किसी विषय का ज्ञाता नहीं होता। जब उसका बुद्धि से योग होता है तभी वह द्रष्टा और ज्ञाता अर्थात् ग्रहीता हो सकता है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि जब चित्त धारणादि के अभ्यास से निर्मल हो जाता है तो वह सभी विषयों का यथार्थ ज्ञान कर सकता है। बिना चित्त के तो किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव ही नहीं है। यह शुद्ध चित्त का लक्षण है कि वह अन्य सब विषयों के साथ-साथ अपना ज्ञान भी कराता है।

इससे स्पष्ट है कि समाधि की अवस्था में एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान का उदय, मन के विविध संकल्पों-विकल्पों का विनाश और अन्यान्य चित्तवृत्तियों का विस्मरण होता है। इसमें समस्त प्रकार की आशाओं, अभिलाषाओं, तितिक्षाओं से मन शून्य हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण चञ्चलता तिरोहित हो जाती है जिससे वह शान्त, अचञ्चल और निर्विकार हो जाता है। वैकारिक भावों से शून्य हुआ मन समाधिस्थ मनुष्य में जीवात्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने में अर्थपूर्ण रूप से सहायक होता है। इसी स्थिति को लक्ष्य करते हुए महाराज भोज ने समाधि का निम्न लक्षण प्रतिपादित किया है—

"सम्यगाधीयत एकाग्रीक्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र सःसमाधिः।"

जिसमें विक्षेपों को हटाकर मन को एकाग्र किया जाता है, सम्यक् रूप से मन का अवधारण किया जाता है वह समाधि है।

समाधि के सन्दर्भ में योगी या साधक के शरीर की उतनी उपयोगिता नहीं रहती जितनी मन और आत्मा की होती है। मन और आत्मा को एक स्थान पर रखने, उन्हें अवलम्बन या आधार प्रदान करने की दृष्टि से शरीर की उपयोगिता अवश्य है, साथ ही साधना या योगाभ्यास का साधन भी शरीर है, किन्तु मन और आत्मा की अपेक्षा वह गौण है। आत्मा प्रत्येक अनुभव का साक्षी है। मरने पर भी इन्द्रियों

के अधिष्ठानों पर बाहरी विषयों के आघात होते रहते हैं, परन्तु साक्षी रूप आत्मा से वियोग हो जाने से अनुभव नहीं होते। परन्तु अभ्यास करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा से वियोग हो गया है। साधक जीवित है, इसके शरीर से आत्मा का विच्छेद नहीं हुआ है। शारीरिक और मानसिक सभी क्रियाओं का साक्षी आत्मा है। इसलिए पूर्ण रूप से त्रिपुटी का अनुभव हो या न हो, परन्तु आत्मा तो है ही। इसीलिए कहा है कि समाधि में एक ओर तो केवल अर्थमात्र अर्थात् ध्येय मात्र भासमान होता है और दूसरी ओर द्रष्टा अर्थात् ध्याता इस पर विद्यमान है, जैसे वह स्वरूप शून्य हो गया हो। उसकी सत्ता भी झीनी पड़ रही है। ध्येय का आभास पूर्ण रूप से है, ध्याता का आभास बहुत ही सूक्ष्म रूप में है। सच तो यह है कि ध्याता और ध्येय दोनों प्रायः एक हो गये हों। यदि परमात्मा ध्येय है तो साधक और परमात्मा में प्रायः अभेद हो गया है। ऐसी अवस्था में ध्यान के लिए अवकाश ही नहीं रहता। यदि द्वैत बुद्धि उदात्त हो जैसा कि ध्यान में होता है तब तो यह प्रतीति हो कि मैं परमात्मा का ध्यान कर रहा हूं। जब यह कहना कठिन हो गया हो कि ध्याता और ध्येय में कोई अन्तर भी है या नहीं तो कौन किसका ध्यान करे ? कौन द्रष्टा और किसका द्रष्टा हो ? जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है—

विज्ञातारमरे केनाभिजानीयात् ?

अर्थात् अरे. जानते वाले को किस साधन के द्वारा जाना जाय ?

समाधि के विषय में वेदान्त के अनुयाइयों के द्वारा ऐसा माना जाता है कि अनेक जन्मों के पुण्य का उदय होने पर जिज्ञासा उत्पन्न होती है और धीरे-धीरे जिज्ञासु की मोक्ष की इच्छा प्रबल होती जाती है। उसके हृदय में इहामुत्र के दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की ओर से वितृष्णा बढ़ती जाती है। वह छह गुणों से सम्पन्न होती है। वे गुण हैं – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। चित्त को विषयों की ओर से खींचना शम और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना दम है। सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास को सहना तितिक्षा है और प्रचलित कर्म काण्ड पूजा पाठ और दूसरे संसारी कामों को छोड़ना उपरति है। श्रद्धा और समाधान का अर्थ स्पष्ट है। इन गुणों से सम्पन्न होने पर मुमुक्षु सद्गुरु की शरण में जाता है। वहां वह गुरु के सत्संग से श्रवण और मनन का अभ्यास करता है। अद्वैतवाद के अनुसार जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जीव को ब्रह्म बनाना उसका लक्ष्य नहीं है, अपितु उसको अपना भूला हुआ स्वरूप समझा देना ही उसका अभीष्ट है।

जो चित्त समाधि की ओर झुकता है उसकी अवस्था का प्रतिपादन महर्षि पतञ्जलि ने निम्न शब्दों में किया है—

"सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।"

—योग सूत्र ३/११

जिस अवस्था में चित्त में सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय हो उसको समाधि परिणाम कहते हैं। साधारणत: हमारे चित्त सर्वार्थ होते हैं अर्थात् एक के बाद एक अनेक पदार्थ उनके विषय बनते हैं। विक्षिप्त चित्त का सही लक्षण है कि वह किसी एक जगह पर देर तक नहीं टिक सकता। विषय से विषयान्तर में फिरता रहता है। ऐसे चित्त में रजोगुण की प्रधानता होती है। यद्यपि थोड़ा सा मेल सत्वगुण का भी होता है जिसके कारण उसमें थोड़ी देर के लिए कुछ स्थिरता आ जाती है। जब ऐसा होने लगे तो सत्वगुण की मात्रा के बढ़ने के फलस्वरूप रजोगुण की मात्रा कम होने से एकाग्रता में कुछ वृद्धि होने लगती है। अर्थात् दूसरे शब्दों में सर्वार्थता कुछ कम हो तब यह कह सकते हैं कि चित्त में समाधि परिणाम का उदय हुआ है। समाधि तत्काल नहीं आ जाती। समाधि परिणाम का उदय धारणा की अवस्था में होता है। धीरे-धीरे ध्यान की अवस्था पहुंचते-पहुंचते जब प्रत्यय की एक तानता होगी तब वह एकाग्रता परिणाम होगा। अब इस प्रकार ध्यान करते-करते एकाग्रता दृढ़ होगी तब चित्त का झुकाव समाधि की ओर बढ़ जायगा और अन्त में वह निरोध परिणाम भी उदय होगा जो समाधि का वास्तविक लक्षण है। सर्वार्थता से एकाग्रता की ओर जाना इतना सरल या सुगम नहीं है, जितना माना या समझा जाता है। चित्त का प्रवाह शान्त और निर्द्वन्द्व रहे इसके लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है :—

"तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।" —योग सूत्र ३/१०

अर्थात् चित्त की प्रशान्तवाहिता संस्कार के कारण होती है।

इस सम्बन्ध में भाष्यकार ने कहा है—

"निरोधसंस्काराभ्यासपाटवापेक्षा प्रशान्तवाहिता चित्तस्य भवति . तत्संस्कार-मान्द्ये व्युत्थानधर्मिणा संस्कारेण निरोधधर्मः संस्कारोऽभिभूयते इति।"

चित्त के प्रशान्तवाहित निरोध के अभ्यास में पटुता होने की अपेक्षा रहती है। यदि एतद्विषयक अर्थात् निरोध सम्मत संस्कार मंद हुए तो फिर व्युत्थानधर्मी संस्कार मन को दबा लेंगे। कथन का अभिप्राय यह है कि चित्त में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। एक ओर तो एकाग्रता की ओर चित्तवृत्ति जाती है और दूसरी ओर अनेक जन्म से आई हुई सर्वार्थता का संस्कार खींचता है। एकाग्रता संस्कार अन्तर्मुख होने की ओर ले जाना चाहता है, जबकि सर्वार्थता संस्कार हठात् बहिर्मुख रखना चाहता है। यदि एकाग्रता संस्कार प्रबल हुए तो चित्त समाधि की ओर जा सकेगा अन्यथा फिर व्युत्थान अर्थात् जगत् की प्रतीति की शिला पर गिरकर चकनाचूर हो जायगा। यदि सौभाग्य से साधक का प्रयास प्रबल और सफल हुआ तो फिर उसको सफलता सूचक एक विशेष उपलब्धि प्राप्त होगी जो उसे समाधि की ओर और अन्ततः मुक्ति की ओर ले जायगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि चित्तवृत्तियों का निरोध, चित्त की एकाग्रता तथा ध्याता एवं ध्येय की तदात्मता या एकाकारता सर्वथा समाधिमूलक एवं समाधि

के अर्थ में प्रासंगिक है। चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है, चित्त की एकाग्रता भी इन्हीं "उपायों" से सम्भव है। इस संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि चित्तवृत्तियों के निरोध से तत्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इसीलिए समाधि के अर्थ में यह प्रासगिक है। महर्षि पतञ्जलि ने प्रारम्भ में ही "योग" की व्याख्या एवं अर्थ निष्पादन में चित्तवृत्तियों के निरोध को प्रमुखता दी है। अभिप्रेतार्थ यह है कि चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है और समाधि के अर्थ में भी चित्तवृत्तियों का निरोध जो तत्व ज्ञान के लिए महत्वपूर्ण माना गया है, प्रासंगिक है तो योग और समाधि में मूलत: कोई भेद नहीं है। वस्तुतः समाधि की सिद्धि होना ही योग का परिचायक है, समाधि की सिद्धि ही मनुष्य या साधक को योगी बनाती है।

समाधि के भेद

योग शास्त्र में समाधि दो प्रकार की बतलाई गई है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। इसमें सम्प्रज्ञात समाधि सचेतन और असम्प्रज्ञात चैतन्यातीत मानी गई है।

सम्प्रज्ञात समाधि :—समाधि की अवस्था में मन विषय से अभिज्ञ रहता है जिससे उसे विषय का सम्यक् प्रकार से ब्योरेवार ज्ञान प्राप्त होता है। वस्तुतः मन उस ज्ञान को कराने का मुख्य कारण या साधन बनता है। योग भाष्य के अनुसार योग की वह अवस्था जिसमें चित्त अपने उद्देश्य में एकाकी रहता है और एक स्पष्ट तथा यथार्थ पदार्थ को पूर्ण रूप से प्रकाशित करता है, दुःखों को दूर करता है तथा कर्मों के बन्धन को शिथिल कर समस्त प्रकार की मानसिक वृत्तियों का दमन करना ही अपना लक्ष्य रखता है सम्प्रज्ञात समाधि है।

पूर्व प्रकरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि योग शास्त्र के अनुसार चित्त में अनेक वृत्तियां होती हैं। जब चित्त किसी एक वस्तु पर एकाग्र होकर लगता है तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति जाग्रत होकर रहती है, अन्य सभी वृत्तियाँ क्षीण शक्ति वाली होकर उसी एक वृत्ति को सुदृढ़ बनाने में संलग्न रहती हैं। उसी एक वृत्ति में "ध्यान" लगाने से "प्रज्ञा" का उदय होता है और उससे अन्य वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। यही सम्प्रज्ञात समाधि है। इसे ही सबीज समाधि भी कहा गया है। जिसमें भावी जीवन का बीज विद्यमान रहता है वह सबीज समाधि है। वाचस्पति (तत्व वैशारदी) के अनुसार बीज कर्म का प्रसुप्त आशय है जो जन्म, जीवन की अवधि तथा सुखों के नाना रूपों की बाधाओं के अनुरूप है। जिस समाधि का यह आधार है वह सबीज समाधि है। इस समाधि का सुख कोई व्यक्ति सैकड़ों वर्ष तक भी लेता रहे, फिर भी संसार की ओर लाने वाले संस्कार उसमें विद्यमान रहते हैं जिससे वह संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है, मुक्ति की ओर नहीं जा पाता। यही बीज है और इस बीज सहित होने से यह "सबीज समाधि" है। एक बात और है—इस समाधि में कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है और उस समाधि की अवस्था में उस आलम्बन का भान भी होता है। इस अवस्था में चित्त पूर्णतः एकाग्र

रहता है, सत्‌रूप अर्थ याने यथार्थ तत्व को प्रकाशित करता है, "क्लेशों" का नाश करता है, कर्मजन्य सांसारिक बन्धन नष्ट होने लगते हैं। आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोकित आत्मा निर्मल, विशुद्ध एवं निर्विकार स्वरूप को प्राप्त होकर कैवल्य (मुक्ति) की ओर अग्रसर होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में ज्ञाता और ज्ञान का ऐसा संयोग होता है जिसमें ज्ञाता विषय को जानने वाला केवल इसलिए कहलाता है कि यह स्वयं वही है। वस्तुतः विचार और विचार्य (विचार का विषय) एक ही है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता का भाव संलग्न रहता है। ये समाधि के ऐसे भाव हैं जिनके विषय निश्चित हैं, जिन पर इनका आधार है। जब मनुष्य हिताहित विवेक से युक्त रहकर अच्छे या बुरे विषयों के सम्बन्ध में तर्कपूर्वक विचार करता है तथा समाधि की अवस्था में ही आनन्द और अस्मिता के भाव का अनुभव करता हुआ लक्ष्य साधन में संलग्न रहता है तो वह सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था होती है। वितर्क और विचार युक्त समाधि की स्थिति में रजोगुण का बाहुल्य रहता है तथा सत्वगुण भी कार्य करता है। समाधि की आनन्दयुक्त स्थिति में सत्व गुण का बाहुल्य रहता है शेष दोनों गुणों का तिरोभाव रहता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के भेद—समाधि के उपर्युक्त भावों के आधार पर समाधि के चार भेद किए गए हैं। यथा—सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मिता। इन्हें वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भी कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन के विभूतिपाद में समाधि का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है वह योग के अष्टांग विवेचन के संदर्भ में है। योग दर्शन में ही समाधि पाद के अन्तर्गत उन्होंने समाधि के लिए "समापत्ति" की संज्ञा दी है।

वितर्क समाधि—इसे वितर्कानुगत या वितर्कानुगम समाधि भी कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने इसे सवितर्क समापत्ति कहा है जिसका स्वरूप उन्होंने निम्न प्रकार बतलाया है—

"तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।"—योगसूत्र-१/४२

अर्थात् शब्द, अर्थ और उससे उत्पन्न ज्ञान जब मिश्रित होकर रहते हैं तब वह सवितर्क अर्थात् वितर्क युक्त समाधि कहलाती है।

यहां शब्द का अर्थ है "कम्पन"। अर्थ का अभिप्राय है वह स्नायविक प्रवाह जो उसे भीतर ले जाता है और ज्ञान का अर्थ है प्रतिक्रिया। प्रस्तुत सवितर्क समापत्ति (समाधि) में विषयी और विषय ये दोनों सम्पूर्ण रूप से पृथक् रहते हैं। यह पार्थक्य या भेद शब्द उसके अर्थ और तत्प्रसूत ज्ञान के मिश्रण से उत्पन्न होता है। पहले तो है बाह्य कम्पन-शब्द, जब वह इन्द्रिय प्रवाह द्वारा अन्तः में प्रवाहित होता है तब उसे अर्थ कहते हैं। तत्पश्चात् चित्त में एक प्रतिक्रिया प्रवाह संचालित होता है उसे ज्ञान कहा

जाता है जिसे हम बाह्य वस्तु की अनुभूति कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्थूल विषयों के प्रति बुद्धि के तर्क वितर्कात्मक भाव से युक्त जब यह समाधि होती है तो इसे वितर्कानुगत कहा जाता है। सांसारिक वस्तुएँ समान्यतः स्थूल और सूक्ष्म होती हैं। जब चित्त स्थूल विषय में सम्बद्ध होकर तदाकार रूप हो जाता है तब वह वितर्क कहलाता है। इस अवस्था में साधक साकार ईश्वर जैसे परमयोगी श्रीकृष्ण जैसी स्थूल वस्तु को ध्यान में रखते हुए समाधिलीन होता है। वह स्थूल वस्तु का आलम्बन लेकर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है और अन्ततः चित्त सूक्ष्म में एकाग्र होता है। वस्तुतः यह समाधि वस्तु-निष्ठ है, अर्थात् इसमें वस्तु विशेष जैसे "गाय" शब्द, उसका 'अर्थ" और उसका ज्ञान तीनों एक होकर विद्यमान रहते हैं।

इस वितर्कानुगत समाधि के दो भेद किए गए हैं—सवितर्क, और निर्वितर्क। वेदान्त के आचार्य भी समाधि के दो भेद मानते हैं—सविकल्प और निर्विकल्प। ऊपर समाधि का जो स्वरूप बतलाया गया है यही सवितर्क समाधि है। सवितर्क समाधि में चूंकि विकल्प का भाव रहता है, अतः इसे सविकल्प समाधि भी कहा गया है। इसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य की त्रिपुटी बनी रहती है। निर्वितर्क समाधि जिसे निर्विकल्प कहा गया है वितर्क से रहित होती है। इसमें दृश्य मात्र रह जाता है, वस्तु विशेष का शब्द छोड़कर केवल अर्थ का भाव ही उसमें निहित रहता है। ग्रहण करने योग्य स्थूल वृत्ति को निर्मल करके साधक जब स्वकीय स्वरूप ज्ञान को विस्मृत कर ध्येय ज्ञान की ओर प्रवृत्त होता है तब वह वितर्क विकल्प आदि भाव से शून्य होने के कारण, लक्ष्य-मात्र वृत्ति होकर समाधिलीन होता है। यही निर्वितर्क या निर्विकल्प समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने निर्वितर्क समापत्ति का स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है—

"स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।" - योगदर्शन १/४३

स्मृति के परिशुद्ध हो जाने पर स्वरूप से शून्य हुई की भाँति केवल अर्थ (ध्येयमात्र) के स्वरुप को प्रत्यक्ष कराने वाली चित्त की स्थिति विशेष ही निर्वितर्क समाधि है। अभिप्राय यह है कि जब स्मृति शुद्ध हो जाती है, याने स्मृति में जब किसी अन्य प्रकार के गुण का सम्पर्क नहीं रह जाता है, जब केवल ध्येय वस्तु का अर्थ मात्र प्रतिभासित होता है तब वह निर्वितर्क अर्थात् वितर्क शून्य समापत्ति होती है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र के प्रथम (समाधि) पाद में दो प्रकार की समापत्ति (समाधि) बतलाई है-सवितर्क समा-पत्ति और निर्वितर्क समापत्ति। इन्हीं को क्रमशः सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के नाम से कहा गया है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो सवितर्क समापत्ति (सविकल्प समाधि) को ध्यान की ही अवस्था विशेष माना जा सकता है और निर्वितर्क समापत्ति (निर्विकल्प समाधि) को समाधि की ही अवस्था विशेष कहा जा सकता है। सवितर्क समाधि में शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से मिली हुई प्रतीति की चित्त में स्फुरणा

रहती है। इसके बाद जब साधक के चित्त में ध्येय वस्तु के नाम की स्मृति लुप्त हो जाती है और उसको विषय करने वाली चित्तवृत्ति का भी स्मरण नहीं रहता, तब अपने चित्तस्वरूप का भी भान न रहने के कारण उसके स्वरूप के अभाव की सी स्थिति हो जाती है। उस समय सब प्रकार के विकल्पों का अभाव हो जाने के कारण केवल ध्येय पदार्थ के साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येय को प्रकाशित करता है, उस अवस्था का नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमें शब्द और प्रतीति का कोई विकल्प नहीं रहता, अतः इसे निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं।

विचारानुगत— चित्त का आलम्बन जब सूक्ष्म होता है अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के सम्बन्ध से सूक्ष्माकाराकारित होता है तब वह विचारानुगत होता है। सामान्यतः सृष्टि उत्पत्ति के सन्दर्भ में पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और दस इन्द्रियों को तत्व रूप में माना गया है। इन तत्वों में होने वाली समाधि का नाम विचारानुगम है। उसके इन सूक्ष्म विषयों की सीमा इन्द्रिय से लेकर अलिङ्ग (प्रकृति) पर्यन्त है। जैसा कि प्रतिपादित है—"सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।" इस समाधि के दो अवान्तर भेद किए गए हैं—सविचार और निर्विचार।

आनन्दानुगत—अन्तः करण की निर्मलता के परिणाम स्वरूप जो हर्ष, आमोद, आह्लाह आदि भाव उत्पन्न होते हैं उनमें धारण की जाने वाली समाधि अनन्दानुगत समाधि कहलाती है। इन्द्रिय आदि प्राकृतकरण का जब सात्विक सूक्ष्म वस्तुओं-भावों से सम्पर्क होता है अथवा इन्द्रियों का जब सात्विक विषयों से आलम्बन होता है तब सत्व का प्रकर्ष हो जाता है। सत्व के प्रकर्ष से सुख आनन्द की अनुभूति होती है। इस आनन्दानुभूति के साथ जब साधक समाधिलीन होता है तब वह आनन्दानुगत समाधि होती है। इस सम्बन्ध में यहां यह ज्ञातव्य है कि वितर्क और 'विचार' दोनों का क्षेत्र मात्र जड़ पदार्थों तक व्याप्त है। जबकि आनन्दानुगत समाधि का क्षेत्र जड़ और चेतन (आत्मा) दोनों को व्याप्त करता है।

अस्मितानुगत—चित् प्रतिबिम्बित बुद्धि 'अस्मिता' है अर्थात् पुरुष (चेतन) और बुद्धि की एक रूपात्मकता की प्रतीति होना 'अस्मिता' है। इसमें ऐक्य भाव होना आवश्यक है, जैसा कि प्रतिपादित किया गया है—"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।" अर्थात् नेत्र और दर्शन शक्ति दोनों का एकात्म भाव होना अस्मिता है। इस स्थिति में चित्त और चित्त में 'एकात्मिका संवित' रहती है। इस प्रकार अस्मिता इन्द्रियों से भी सूक्ष्म रहती है। इसका आलम्बन करके जो समाधि की जाती है वह अस्मितानुगत समाधि होती है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि बुद्धिवृत्ति और पुरुष की चेतना शक्ति के रूप में जिस एकात्मप्रतीत भाव से समाधि की जाती है उसी का नाम अस्मितानुगत समाधि है। इस समाधि के आश्रय से पुरुष और प्रकृति के स्वरूपों का अलग अलग ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। समाधि प्रसूत विशिष्ट ज्ञान के

परिणाम स्वरूप जब प्रकृति और पुरुष का भेद समाप्त हो जाता है, दोनों के पार्थक्य की स्पष्ट प्रतीति होती है तब ही से पदार्थों के ज्ञातृत्व का बोध होता है। उसके बाद साधक कैवल्य को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है और अन्ततः वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

यह योग की उच्चतम स्थिति है जो समाधि के पश्चात् होती है। योगी की मुक्ति के लिए सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति से असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में पहुंचना आवश्यक है, अन्यथा वह मुक्ति द्वार तक पहुंच कर भी वहाँ से वापिस लौट सकता है। सम्प्रज्ञात समाधि में विषयों का सम्यक् रूप से ब्यौरेवार ज्ञान होता है, असम्प्रज्ञात में यह सब कुछ नहीं होता। सम्प्रज्ञात समाधि में यथार्थ बोध अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य पदार्थों की वास्तविकता का ज्ञान होता है। जब सांसारिक विषयों एवं पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब (तत्पश्चात्) सभी विषयों से चित्त का सम्बन्ध छूट जाता है, यही योग की परम अन्तिम चरम अवस्था है जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में प्रज्ञा का उदय होता है, परिणाम: इसमें किसी न किसी स्थूल या सूक्ष्म विषय का आलम्बन रहता है तथा ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों की भावना बनी रहती है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में कोई आलम्बन नहीं रहता। जब ये तीनों (ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय) भावनाएँ एकीभूत हो जाती हैं, समस्त वृत्तियां परम वैराग्य से निरुद्ध हो जाती हैं, एक प्रकार से आलम्बन का अभाव हो जाता है, संस्कार मात्र शेष रहता है उस स्थिति विशेष को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में संस्कारों का वह बीज विद्यमान रहता है जो पुनः संसार की ओर ला सकता है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में वह बीज दग्ध हो जाता है। परिणामतः 'क्लेश' का सम्पूर्णतः अभाव हो जाता है और कर्माशय समाप्त हो जाते हैं। पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि बीज कर्म का प्रसुप्त आशय है। यह जिसका आधार है वह सबीज है और जो इससे विरहित है वह निर्बीज है। इसीलिए असम्प्रज्ञात को निर्बीज समाधि कहा जाता है। सम्प्रज्ञात समधि अस्मिता तक आकर रुक जाती है और जहां तक अस्मिता है वहाँ तक अविद्या है। असम्प्रज्ञात समाधि का पर्यवसान निरोध पर जाकर होता है।

महर्षि पतञ्जलि ने असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरुप निम्न प्रकार बतलाया है—

"विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।" —योग दर्शन १/१८

दूसरे प्रकार की समाधि (असम्प्रज्ञात) में समस्त मानसिक क्रियाओं के विराम का सतत अभ्यास किया जाता है, उसमें मात्र संस्कार ही शेष रहता है।

यही वह पूर्ण ज्ञानातीत असम्प्रज्ञात समाधि है जो साधक (योगी) को मुक्त कर

देती है। पहले जिस सम्प्रज्ञात समाधि की बात कही गई है वह मनुष्य को मुक्त कराने में समर्थ नहीं है, आत्मा की मुक्ति उससे सम्भव नहीं है। योगाङ्गों की साधना के द्वारा भले ही मनुष्य समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर ले, फिर भी उसका स्खलन-पतन सम्भव है, किन्तु ज्ञानातीत असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति योगी को मुक्तिद्वार में प्रविष्ट करा देती है जहाँ से वापिस आना सम्भव नहीं है। जब तक आत्मा प्रकृति के अतीत होकर सम्प्रज्ञात समाधि के भी बाहर नहीं चली जाती है तब तक साधक के पतन का भय बना रहता है, जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में ऐसा नहीं है।

यद्यपि इसकी साधन प्रणाली अत्यन्त सरल प्रतीत होती है, किन्तु इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। यह साधन प्रणाली ऐसी है कि इसमें स्वयं मन पर नियन्त्रण एवं ध्यान करना पड़ता है। जब भी कभी मन में कोई विचार उठता है तो तत्क्षण उसे दबा देना पड़ता है। साधक वास्तव में जब ऐसा करने में समर्थ हो जाता है तब बस उसी क्षण वह मुक्त हो जायगा। जो लोग पूर्व तैयारी किए बिना ही मन को शून्य करने का प्रयत्न करते हैं उनका मन अज्ञानात्मक तमोगुण से आवृत हो जाता है जिससे वह आलसी एवं अकर्मण्य हो जाता है। जब इस असम्प्रज्ञात या ज्ञानातीत अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह समाधि निर्बीज हो जाती है। समाधि के निर्बीज होने का तात्पर्य है समस्त संस्कारों का शेष हो जाना। सम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का केवल दमन भर होता है, पर तब भी वे संस्कार या बीजाकार में विद्यमान रहती हैं। अवसर पाते ही वे पुनः तरंगाकार में प्रकट हो जाती हैं, किन्तु जब संस्कारों को भी निर्मूल कर दिया जाता है, जब मन को भी लगभग नष्ट प्रायः कर दिया जाता है तब समाधि निर्बीज हो जाती है। तब मन में ऐसा कोई संस्कार बीज नहीं रह जाता जिससे यह जीवन पुनः पुष्पित पल्लवित हो सके तथा जीवन का संसरण-अविराम संसार भ्रमण या संसार में जीवन-मृत्यु का अविराम चक्र और भी घूम सके। योग की अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि में योगी इस विषयापन्न भौतिक संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर मुक्तावस्था के अखण्डानन्द की अनुभूति करता है यही जीवन का चरम पुरुषार्थ है। इस चरम पुरुषार्थ की स्थिति को प्राप्त कर लेने पर पुरुष सांसरिक दुःख दैन्य एवं भौतिक सुख वैभव से छुटकारा पा लेता है।

समाधि एक प्रकार की मथानी है जो साधक को ज्ञानातीत अवस्था तक पहुंचाती है। दूध में मक्खन की भांति सांसारिक बाह्य प्रपञ्च और प्रत्यक् चैतन्य का सम्बन्ध है। जिस प्रकार दूध के अणु अणु में मक्खन व्याप्त है, किन्तु जब तक उसे मथा नहीं जाता है तब तक उसमें व्याप्त मक्खन को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार जीवन में जब तक समाधि का आश्रय नहीं लिया जाता तब तक जीवन की वास्तविकता सांसारिक बाह्य प्रपञ्च और प्रत्यक् चैतन्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिए इन्द्रियों को निग्रहीत करना और मन के समस्त संकल्पों को शून्य

कर लेना परम आवश्यक है। समाधिस्थ अवस्था में समस्त इन्द्रिय व्यापार निश्चेष्ट एवं निरपेक्ष्य हो जाता है और इसीलिए समस्त बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है। यह एक वास्तविकता है कि निरुद्ध मन से ही परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। जब समस्त इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और समस्त बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है तब ही कैवल्य की प्राप्ति होती है यही असम्प्रज्ञात समाधि की चरम परिणति है।

त्रिपुटी और संयम

धारणा, ध्यान और समाधि—योग में इन तीनों अंगों का परस्पर में कुछ इस प्रकार का सम्बन्ध रहता है कि ये परस्पर पृथक् नहीं रहते। इन तीनों में परस्पर अंगी और अंग का सम्बन्ध रहता है अर्थात् इन तीनों में समाधि अंगी है और धारणा व ध्यान उसके अंग हैं। जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है तब चित्त की वह विषयाकार वृत्ति त्रिपुटी सहित होती है। तीन आकारों के समाहार अर्थात इकट्ठे होने का नाम त्रिपुटी है। वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येय रूप है। ध्यातृ—ध्यान करने वाला आत्मा से प्रकाशित चित्त है। चित्त की वह वृत्ति जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है ध्यान है और ध्यान का विषय ध्येय है। इस त्रिपुटी के आधार पर धारणा, ध्यान और समाधि के अन्तर को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

धारणा—जब तक त्रिपुटी से भान होने वाली इस विषयाकार वृत्ति का समान प्रवाह से बहना आरम्भ न हो, किन्तु व्यवधान सहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्ति के बीच बीच अन्य वृत्तियां भी आई रहें तब तक वह धारणा कहलाता है।

ध्यान—त्रिपुटी से भान होने वाली यह विषयाकारवृत्ति जब व्यवधान रहित हो जाय, अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियां बीच बीच में न आवे, किन्तु सदृश वृत्तियों का प्रवाह बना रहे तब तक वह ध्यान-कहलाता है।

समाधि—जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधान रहित त्रिपुटी से भासने वाली विषयाकार वृत्ति में त्रिपुटी का भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूप से शून्य जैसे प्रतिभासित होने लगें अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूं, यह ध्यान की अवस्था है, किन्तु केवल ध्येय विषय के स्वरूप का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक विषय में होना 'संयम' कहलाता है। विभूति आदि में इन तीनों की ही आवश्यकता होती है। इसलिए योग शास्त्र की परिभाषा में इन तीनों के समुदाय को संयम कहा जाता है। जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषय में करनी हो तब उसकी संयम संज्ञा होती है अर्थात् उसे संयम शब्द से कहते हैं। उस संयम की पूर्णतः सिद्धि होने पर ही योग की सिद्धि होती है। जैसा कि प्रतिपादित किया गया है---

"तज्जयात्प्रज्ञालोकः" —योगदर्शन ६/५

—उस संयम को जीत लेने (उसके सिद्ध होने) से प्रज्ञा का प्रकाश होता है। साधना करते करते जब योगी संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् चित्त में ऐसी योग्यता कर प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय में वह संयम करना चाहे, उसी में तत्काल संयम हो जाता है, उस समय योगी को बुद्धि का प्रकाश प्राप्त होता है अर्थात् उसकी बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। इसी को अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से कहा गया है—

"निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः." —योगदर्शन १/४७

—निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर (योगी को) अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है।

निर्विचार समाधि के अभ्यास से जब योगी के चित्त की स्थिति सर्वथा परिपक्व हो जाती है, उसकी समाधि स्थिति में किसी प्रकार का किंचिन्मात्र भी दोष नहीं रहता उस समय योगी की बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है। जैसा कि कहा गया है—

"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।" —योग दर्शन १/४८

— उस अवस्था में योगी की बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीनों दोषों का सर्वथा अभाव रहता है।

योग शास्त्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा की विशेषता और महत्व का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया गया है—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वाद्।"

—योग दर्शन १/४८

—सुने हुए और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है। क्योंकि यह विशेष अर्थ वाली है।

साधारणतः वेद, शास्त्र और आप्त पुरुष के वचनों से वस्तु या विषय का सामान्य ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार अनुमान में भी साधारण ज्ञान ही होता है। बहुत से सूक्ष्म विषयों या पदार्थों में तो अनुमान की पहुंच ही नहीं है। अतः वेद-शास्त्रों में वर्णित किसी वस्तु के स्वरूप का वर्णन सुनने से जो तद्विषयक निश्चय होता है वह श्रुत बुद्धि है। इसी प्रकार अनुमान (युक्त्यपेक्ष तर्क) प्रमाण से जो वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है वह अनुमान बुद्धि है। ये दोनों प्रकार की बुद्धि-वृत्तियां वस्तु के स्वरुप को सामान्य रुप से ही विषय करती हैं, उसके अंग-प्रत्यंगों सहित उसका पूर्ण ज्ञान इनसे नहीं होता। किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अतः यह दोनों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है।

मोक्ष या अपुनर्भव

योग शास्त्र या योग दर्शन में मोक्ष ही मानव जीवन वह साध्य या चरम लक्ष्य है जिसकी सिद्धि अथवा प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त अष्टांग योग का साधन अपेक्षित बतलाया गया है, इसे योगशास्त्र में कैवल्य कहा गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र के सभी आचार्यों ने केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए ही अपनी विचारधारा का प्रतिपादन किया है। मार्ग अथवा दृष्टिकोण की भिन्नता होते हुए भी सभी दर्शन शास्त्रों का लक्ष्य रूप से मुख्य प्रतिपाद्य केवल मोक्ष या कैवल्य ही रहा है। विचार धारा एवं सिद्धान्तों में भेद होते हुए भी दर्शन शास्त्र के प्रवर्तकों, विद्वानों, मनीषियों एवं विचारकों ने एक स्वर से पुरुष के लिए केवल अपुनर्भव को ही समान रूप से मान्य किया है। सभी विद्वानों की यह मान्यता है कि केवल पुरुष के मोक्ष के लिए ही सभी दर्शन शास्त्रों या दार्शनिक विचार धाराओं का प्रवर्तन हुआ है जो आपातत: अध्यात्म विद्या से अनुप्राणित है।

जब आत्मा कर्मों के बंधन से छुटकारा पा जाता है तब अपने किसी भी पूर्वोपार्जित कर्म का उपभोग करने के लिए उसे पुन: शरीर को धारण नहीं करना पड़ता। जब वह जन्म धारण नहीं करता है तो उसका मरण भी नहीं होता है। जन्म और मरण से रहित होने के कारण संसार के आवागमन रूपी बंधन से छुटकारा मिल जाने के कारण वह मुक्त हो जाता है। संसार में आत्मा द्वारा किसी भी योनि में जन्म धारण नहीं करना ही 'अपुनर्भव' कहलाता है। यही आत्मा या पुरुष का चरम लक्ष्य और दर्शन शास्त्र तथा धर्म शास्त्र का मुख्य साध्य एवं प्रतिपाद्य है।

आयुर्वेद में अपुनर्भव का स्वरूप

आयुर्वेद में अपुनर्भव या मोक्ष का प्रतिपादन उसी प्रकार किया गया है जिस प्रकार दर्शन शास्त्रों और धर्म शास्त्रों में किया गया है। जब तक आत्मा कर्म बंधन से युक्त रहता है तब तक वह सांसारिक मोह, इन्द्रियजन्य विषयों एवं माया जाल में फंसा रहता है। अपने द्वारा पूर्व जन्म में उपार्जित शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुन: पुन: जन्म धारण करना पड़ता है— यही पुनर्भव कहलाता है। किन्तु जब आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है तो उसे पुन: जन्म धारण नहीं करना पड़ता है। पुन: जन्म धारण नहीं करना ही 'अपुनर्भव' कहलाता है। यही आत्मा की मुक्तावस्था होती है और इसे ही मोक्ष, अपवर्ग, मुक्ति, कैवल्य या निवृत्ति कहते हैं। महर्षि चरक ने अपुनर्भव का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया है—

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोग: सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते।

—चरक संहिता, शारीरस्थान १/१४२

—मन से जब रज और और तम का अभाव हो जाता है और बलवान कर्मों का क्षय हो जाता है तब समस्त प्रकार के कर्म संयोग का वियोग अर्थात् कर्मों के बन्धनों से वियोग हो जाता है उसे मोक्ष या अपुनर्भव कहते है।

इस प्रकार की मुक्ति के लिए ही आत्मा सतत प्रयत्नशील रहता है। यह मुक्ति पद अक्षय, निर्मल, अविनाशी, परम आनन्द दायक एवं दिव्यालोक कारक होता है। कर्म बंधनों से आत्मा के मुक्त हो जाने के कारण ही इसे 'मोक्ष' या 'अपवर्ग' कहते हैं। आत्मा की कर्मों से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाने के कारण इसे "निवृत्ति" भी कहते है। जहां दर्शन शास्त्रों में मोक्ष के विषय में पर्याप्त विवेचन मिलता है वहाँ आयुर्वेद शास्त्र में भी मोक्ष विषयक विवेचन यथेष्ट रूप से प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में महर्षि चरक का निम्न वचन महत्वपूर्ण है—

"निवृत्तिरपवर्गः तत्परं प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म, स मोक्षः।"

—चरक संहिता, शारीरस्थान ४/११

—निवृत्ति को अपवर्ग कहते हैं वह अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्त शान्त, अविनाशी एवं ब्रह्म स्वरूप होता है, वही मोक्ष कहलाता है।

बलवत् कर्मों का क्षय होने से मुक्ति होती है यह सर्वतन्त्र मान्य सिद्धान्त है। मोक्ष का अस्तित्व स्वीकार करने वाले, आत्मा-पुनर्जन्म आदि विषयों में विश्वास एव आस्तिक्य बुद्धि रखने वाले सभी दर्शनों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि आत्मा संसृष्ट समस्त कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। किन्तु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" के अनुसार तथा "प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः" —पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोग लेने पर जब प्रारब्ध बलवान कर्म का क्षय होता है तब मुक्ति होती है। कर्मों का क्षय होने पर सर्व प्रथम आत्मा ज्ञानालोक से उद्भासित एवं देदीप्यमान होता है। आत्मा को होने वाला इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान सांसारिक-लौकिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न अलौकिक आत्मिक ज्ञान होता है जो 'केवल ज्ञान' कहलाता है। यह केवल ज्ञान अपने आप में इतना परिपूर्ण, निर्मल एवं अखण्ड होता है कि इस ज्ञान का धारक आत्मा तीनों लोक तथा तीनों काल की समस्त बातों एवं विषयों को अविच्छिन्न एवं अबाधित रूप से जानने व देखने लगता है। इस प्रकार का 'केवल ज्ञान' समुत्पन्न होने के बाद ही आत्मा को मोक्षोपलब्धि होती है। जैसा कि शास्त्रों में प्रतिपादित है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"— अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। केवल ज्ञान के कारण ही मोक्ष को 'कैवल्य' की संज्ञा दी गई है।

बलवान् कर्मों का क्षय होने पर बन्धन कारक कर्म के अभाव में संयोग का वियोग (अभाव) स्वतः सिद्ध है। अतः मुक्त पुरुष (आत्मा) का पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए यह मोक्ष या अपुनर्भव कहलाता है। मोक्ष या मुक्तावस्था में आत्मा अनन्तकाल तक निवास करता है।

योग में मोक्ष या कैवल्य

योग शास्त्र में मोक्ष की सत्ता और महत्ता जिस रूप से स्वीकार की गई है

उस रूप में सम्भवतः अन्यत्र नहीं है। एक सच्चा योगी प्रारम्भ से ही मोक्ष प्राप्ति को अपना मुख्य लक्ष्य मान कर चलता है। यही कारण है कि योग शास्त्र में प्रतिपादित समस्त क्रियाएं केवल मोक्ष रूपी साध्य की सिद्धि के साधन हैं। योग दर्शन में मोक्ष को "कैवल्य" की संज्ञा दी गई है जो आत्मा के परम स्वातन्त्र्य की द्योतक है। यह अवस्था केवल निषेधात्मक नहीं है, अपितु वह चैतन्य पुरुष के जीवन का नित्य अथवा शाश्वत यथार्थ स्वरूप है जो उसे जड़ प्रकृति के बंधनों से मुक्त होकर प्राप्त होता है। यही कारण है कि योग दर्शन ने सांख्य द्वारा प्रतिपादित भेद विज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्रकल्पना को बिना किसी हिचक के स्वीकार कर लिया है। एक ओर जहां वह प्रकृति-पुरुष के भेद ज्ञान के द्वारा मोक्ष की सत्ता को स्वीकार करता है, वहां दूसरी ओर उसका मुख्य बल मोक्ष प्राप्ति के अन्य साधनों अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध या मानसिक क्रियाओं के दमन पर है। मानसिक क्रियाओं का दमन आत्मा की उत्कृष्ट स्थिति एवं भेद ज्ञान का वह महत्वपूर्ण सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर योगी मोक्ष द्वार तक पहुंचता है। मानसिक क्रियाओं के दमन को सुषुप्ति अवस्था के समान मानने का भ्रम नहीं करना चाहिये। यह तो संसार और सांसारिक विषयों पर उसकी विजय का द्योतक है।

योग दर्शन में अविद्या या अज्ञान को मोक्ष का बाधक माना गया है। अन्य दार्शनिक विचार धारा की भांति योग दर्शन की विचार धारा भी संसार की नश्वरता को स्वीकार करती है, जिसके अनुसार संसार में समस्त इच्छाओं का कारण सांसारिक व भौतिक वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नहीं होना है। हमारा यह भौतिक शरीर और यह सम्पूर्ण सांसारिक प्रपञ्च इसी अज्ञान का परिणाम है। चित्त इसका समर्थक है और इसका विषय सांसारिक सुखोपभोग है। जब तक इस संसार में अविद्या का अस्तित्व विद्यमान है, मनुष्य अपने कर्म बंधनों का क्षय करने में समर्थ नहीं है। अविद्या का परिहार विवेक ज्ञान (विवेक ख्याति) के द्वारा ही सम्भव है। जब मनुष्य वस्तुओं के यथार्थ स्वरुप को जान लेता है अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसके मन-मस्तिष्क में आने वाले सभी प्रकार के मिथ्या विचार लुप्त हो जाते हैं। परिणामतः आत्मा कलमष और विकार रहित होकर पवित्र हो जाता है तथा वह चित्त की अवस्था से अलिप्त रह कर कर्मशून्य हो जाता है। गुण भी अवकाश प्राप्त कर लेते हैं और आत्मा अपने सारतत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। वस्तुतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप जो भौतिक पदार्थों से भिन्न होता है और अनेक प्रकार के आवरणों से मलिन बना रहता है, को जान लेना ही मोक्ष की ओर अग्रसर होना है। मनुष्य केवल पुरुषार्थ और आत्म संयम के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। योग दर्शन अन्यान्य दर्शन पद्धतियों से कुछ अलग हट कर इस तथ्य पर अधिक बल देता है कि केवल शुष्क दार्शनिक ज्ञान ही हमें त्राण नहीं पहुंचा सकता। इसके विपरीत अपनी आन्तरिक भावनाओं तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी इच्छा शक्ति को वश में करना अधिक सार्थक, उपयोगी एवं कल्याणकारी है।

योग और आयुर्वेद में नाड़ी विज्ञान

योग शास्त्र और आयुर्वेद दोनों में नाड़ी विज्ञान का विशेष महत्व है। योग शास्त्र में नाड़ियों का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उसके द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्ति को केन्द्रित करने में सहायता मिलती है, जिससे आत्मिक शक्ति का विकास होता है। आयुर्वेद शास्त्र में नाड़ी का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि उससे रोग विज्ञान या रोग विनिश्चय करने में सहायता मिलती है। जिससे रोगी की चिकित्सा करने तथा रोगापहरण करने में सुविधा रहती है। यद्यपि योगशास्त्र में वर्णित नाड़ियों एवं आयुर्वेदोक्त नाड़ियों में कोई विशेष सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सका है, तथापि योगशास्त्र में वर्णित अनेक नाड़ियों का आयुर्वेद में शरीर रचना की दृष्टि से विशेष महत्व है। आयुर्वेद शास्त्र में जो नाड़ी विज्ञान प्रतिपादित है उसके द्वारा शरीर में स्थित वात-पित्त-कफ दोषों की स्थिति का ज्ञान होता है, उनकी प्राकृत या वैकृत अवस्था का ज्ञान होता है जिससे शरीर की स्वस्थता या अस्वस्थता ज्ञात करने में सुविधा रहती है। कतिपय अनुभवी आयुर्वेदज्ञ केवल नाड़ी ज्ञान के द्वारा ही निदान या रोग विनिश्चय करने में समर्थ होते हैं।

वात नाड़ी संस्थान का संक्षिप्त परिचय

मानव शरीर में वात नाड़ी संस्थान की कितनी उपयोगिता और महत्ता है— यह तथ्य शारीर शास्त्र का सामान्य ज्ञान रखने वाले भी भली-भाँति जानते हैं। यह संस्थान मानव शरीर का संचालक तो है ही उसका नियामक भी है। शरीर की समस्त क्रियाओं की सूचना और आदेश यहीं से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यह संस्थान शरीर के अन्य संस्थानों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक शारीर शास्त्र की दृष्टि से जब इस विषय में विचार किया जाता है तो नाड़ी संस्थान के मुख्यतः दो प्रकार के कर्म प्रतीत होते हैं—१. शरीर में होने वाली समस्त क्रियाओं का संचालन और २. बाह्य परिस्थिति के अनुरूप उन क्रियाओं में विविध परिवर्तन करना। इस उद्देश्य से नाड़ी संस्थान की रचना दो प्रकार से होती है। प्रथम प्रकार की नाड़ियाँ बाह्य सृष्टि सम्बन्धि ज्ञान को तथा शरीरावयवों में होने वाली अनुकूल प्रतीतिजन्य वेदना (सुखानुभूति) एवं प्रतिकूल प्रतीतिजन्य वेदना (दुःखानुभूति) को अपने केन्द्रों तक पहुंचाती हैं। इस प्रकार शुभ-अशुभ वेदनाओ (अनुभूतियों) को अपने केन्द्रों तक पहुंचाने के कारण वे नाड़ियाँ संज्ञावह कहलाती हैं। आधुनिक विज्ञान में उन्हें

एफेरेण्ट नर्व्स (Afferent Nerves) कहा गया है। अथवा उन्हें प्रायः सेन्सरी नर्व्स (Sensory Nerves) भी कहा जाता है। दूसरे प्रकार की नाड़ियां केन्द्र की ओर से प्राप्त यथायोग्य चेष्टाओं सम्बन्धी आदेशों को शरीर के अन्यान्य अवयवों तक पहुंचाती है, जिसके अनुसार वे अवयव तदनुरूप विभिन्न प्रकार की चेष्टाएं करते हैं। दूसरे प्रकार की ये नाड़ियां मनोवह कहलाती हैं जिन्हें आधुनिक विज्ञान में इफेरेण्ट नर्व्स (Efferent Nerves) की संज्ञा दी गई है। इन्हें प्रायः मोटार नर्व्स (Motor Nerves) भी कहा जाता है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद के कतिपय विद्वानों ने उपयु क्त द्वितीय प्रकार की नाड़ियों के लिए चेष्टावह शब्द का व्यवहार किया है। अर्थात् मनोवह नाड़ियों (इफेरेण्ट नर्व्स) को चेष्टावह की संज्ञा से व्यवहृत किया है तथा पृथक् रूप से मनोवह नाम की तृतीय प्रकार की नाड़ियों का अस्तित्व स्वीकार किया है जिनका प्रत्यक्ष केवल योगियों को ही सम्भव है। आयुर्वेद में कहीं-कहीं नाड़ियों के लिए स्रोतस् शब्द का भी व्यवहार हुआ है जो प्रसंगानुसार ग्राह्य है। इस दृष्टि से संज्ञावह स्रोतस् और मनोवह स्रोतस् का व्यवहार आचार्यों द्वारा प्रचुर रूप से किया गया है। यद्यपि संज्ञावह और चेष्टावह दोनों ही प्रकार की नाड़ियों में अनिवार्यतः मन का वहन होता है, तथापि आत्मा में स्थित इच्छा या उसके द्वारा अभिलषित विषय को शरीर के अन्यान्य अवयवों तक पहुंचाने के कार्य में मन की उपस्थिति अनिवार्य है, जिसका अभिवहन चेष्टाओं के सम्पादन में ही विशेषतः लक्षित होता है। अर्थात् जब चेष्टाओं का सम्पादन होता है तो उसमें मन का अभिवहन एवं उपस्थिति विशेष महत्वपूर्ण है। सम्भवतः यही कारण है कि चेष्टावह नाड़ियों को मनोवह नाड़ियों की संज्ञा दी गई है। आत्मा जनित इच्छाओं की परिणति चेष्टा और क्रियाओं में होती है—यह तथ्य दर्शन शास्त्र में प्रतिपादित निम्न कथन से सुस्पष्ट है—

आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत् क्रिया॥

अर्थात् इच्छा आत्मा से जनित होती है, इच्छा जनित कृति होती है, कृतिजन्य चेष्टा होती है और चेष्टाजन्य क्रिया होती है।

शरीर की सभी प्रकार की चेष्टाओं या क्रियाओं में इन्द्रियों और मन की सन्निधि अथवा सहकार विशेषतः आवश्यक है। मन के प्रकरण में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। यहां केवल इतना कथन ही पर्याप्त होगा कि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही प्रकार की इन्द्रियों के कर्म वायु द्वारा प्रेरित मन से सम्पन्न होते हैं। यदि मन का सन्निकर्ष या उपस्थिति न हो तो इन्द्रियों के द्वारा कोई भी कर्म सम्पन्न होना सम्भव नहीं है। दोनों प्रकार की इन्द्रियों के कर्मों को आधुनिक शरीर क्रिया के विद्वानों ने नाड़ी संस्थान के दो कर्म अर्थात् ज्ञान और कर्म के वेगों का वहन

बतलाया है। यह ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त संज्ञावह और मनोवह नाड़ियों में संज्ञाओं या चेष्टाओं का सन्देश अभिवहन करते हुए जो परिवर्तन होते हैं उन्हें वेग कहा जाता है। वेग की गति सामान्यतः प्रति सेकेण्ड १२० मीटर (१ मीटर=लगभग ४० इंच) होती है।

आयुर्वेद में स्पष्टतः इन्द्रियों को दो भागों में विभक्त किया गया है— ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। दोनों इन्द्रियों के सभी प्रकार के कर्म वात द्वारा प्रेरित मन के द्वारा सम्पादित होते हैं। अर्थात् वायु द्वारा प्रेरित मन की सहायता से ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्ति और कर्मेन्द्रियों के द्वारा विविध कर्मों में प्रवृत्ति होती है। आधुनिक क्रिया शारीरविद् नाड़ी संस्थान के दो कर्म— अर्थात् ज्ञान और कर्म के वेगों का वहन बतलाते हैं। इस प्रकार दोनों ही मतों में पर्याप्त समानता लक्षित होती है। अन्तर केवल इतना है कि एक ही बात को उभय मतानुसार प्रकारान्तर से कह दिया गया है।

नाड़ी संस्थान के सामान्यतः दो विभाग बतलाए गए हैं— १. मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान (सेरिब्रो स्पाइनल नर्वस् सिस्टम-Cerbrospinal nervous System) तथा २—स्वतन्त्र या जीवन नाड़ी संस्थान (आटोनोमिक नर्वस सिस्टम-Autonomic nervous system)। ये दोनों नाड़ी संस्थान पारस्परिक सहयोग से शरीर में कार्य करते हुए अन्यान्य क्रियाओं को सम्पन्न करते हैं। दोनों नाड़ी संस्थानों के संज्ञावह और मनोवह नाड़ीसूत्र पृथक् होते हैं। नाड़ी संस्थान के उपर्युक्त दोनों प्रकार एक विशेष प्रकार के धातु-तन्तु (टिश्यू-Tissue) से निर्मित होते हैं। उसे नाड़ी तन्तु (नर्व टिश्यू-Nerve Tissue) कहा जाता है। इसकी रचना नाड़ी कोषों (नर्व सेल्स-Nerve Cells) और सूत्रों तथा उससे निकलने वाले नाड़ी सूत्रों (नर्व फाइबर्स Nerve fibers) से होती है। अनेक नाड़ीसूत्रों के मेल से नाडियों का निर्माण होता है। दोनों को अपने आश्रय में रखने वाली तथा विविध कोषों और सूत्रों को मिलाने वाली एक वस्तु होती है, जिसे 'नाडी, भूमि' (न्यूरोग्लिया-Neuroglia) कहते हैं।

ऊपर नाड़ी संस्थान के जो दो विभाग बतलाए गए हैं उनमें प्रथम को केन्द्रीय नाड़ी संस्थान (Central Nervous System) और द्वितीय को परिसरीय या प्रान्तीय नाड़ी संस्थान (Peripheral Nervous Systam) भी कहा जाता है। प्रथम विभाग में मस्तिष्क तथा सुषुम्ना काण्ड और द्वितीय विभाग में प्रथम विभाग से निकलने वाली नाड़ियां समाविष्ट हैं। नाड़ियों के द्वारा त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा आभ्यन्तरिक अंगों की अवस्था अर्थात् शीत-उष्ण, प्रकाश, भार, गंध, वेदना, समतुला आदि के सूचक सन्देश केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के प्रति जाते हैं और वहां से परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्रिया करने के आदेश मांसपेशियों, आभ्यन्तरिक अवयवों एवं अंगों के मांससूत्रों तथा विभिन्न ग्रंथियों में जाते हैं। यथायोग्य आदेशों के द्वारा पेशियों, मांस सूत्रों तथा ग्रंथियों की क्रिया प्रारम्भ या समाप्त, उद्दीपित या अवसन्न की जाती है, साथ ही इन क्रियाओं में परस्पर सहकार रखा जाता है। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के इस प्रकार स्पष्ट ही दो भेद हैं— प्रथम वह जो सन्देशों या संज्ञाओं को ग्रहण करता है तथा द्वितीय

वह जो इन संज्ञाओं के अनुसार योग्य प्रतिक्रिया करने का आदेश भेजता है। नाड़ियों में भी दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। कुछ का कार्य केवल संज्ञाओं का वहन करना है–– इन्हें संज्ञावह नाड़ीसूत्र (Sensory nerve fibers) कहा जाता है। अन्यों का कार्य चेष्टा के आदेशों का वहन करना है। इन्हें चेष्टावह नाड़ीसूत्र (Motor nerve fibers) कहा जाता है। इन सूत्रों के द्वारा संज्ञाओं के सन्देशों और चेष्टाओं के आदेशों का जो अभिवहन किया जाता है वही वेग (Impulse) कहा जाता है। ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि नाड़ी संस्थान के इन दोनों विभागों और उनके कार्यों का सामञ्जस्य आयुर्वेद और योग के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय तथा उनके कर्मों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

योगशास्त्र में नाड़ियों का महत्व प्राणायाम में सर्वाधिक है। यही कारण है कि विभिन्न उपनिषदों में प्राणायाम के प्रसंग में नाड़ीचक्र का निरूपण करते हुए प्राणायाम से नाडी शुद्धि होने का प्रतिपादन किया गया है। जैसे त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/६७-७६, ध्यानबिन्दूपनिषद् ५०-५६, योगशिखोपनिषद् ५/१६-२१, वराहोपनिषद् ५/२२-३० योगचूडामण्युपनिषद् १४-२१ दर्शनोपनिषद् ४/५-२३, शाण्डिल्योपनिषद् १/४/९-१३ इत्यादि में। योगशास्त्र के अनुसार नाड़ियों की निश्चित संख्या बतलाना सम्भव नहीं है, क्योंकि शरीर में नाड़ियां असंख्य हैं। इसी प्रसंग में त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार यद्यपि नाडियों की गणना नहीं की जा सकती, तथापि उनकी संख्या ७२००० बतलाई गई है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

द्वासप्तति सहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाड्यः।
संख्यातं नैव शक्यन्ते..................॥

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २/७५-७६

इसके अतिरिक्त ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१, योगशिखोपनिषद् १/१४, योगचूड़ामण्युपनिषद् १५, दर्शनोपनिषद् ४/६ आदि में भी नाड़ियों की संख्या ७२००० बतलाई गई है। योगशिखोपनिषद् में इनमें से १०१ को प्रमुख माना गया है। यथा—

शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यः......।
एकोत्तरं नाड़ीशतम्............॥

—योग शिखोपनिषद् ६/४-५

"शतंचैका च नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिसृतैका।"

—छान्दोग्य० ८।६।६ और कठो० २।३।१६

—एक सौ एक नाड़ियां होती हैं, उनमें से एक मूर्धा (शिर) से निकलती है। (इसके अनुसार शीर्षण्य नाड़ियां और मेरु नाड़ियों की कुल संख्या १०१ है। इसमें से एक सुषुम्ना नाड़ी मूर्धा का भेदन करके बाहर निकलती है)

"हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शत शतमेकैकस्यां द्वासप्तति द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि भवन्ति।" प्रश्न० ३-६

—हृदय में यह आत्मा निवास करता है। हृदय में जो एक सौ नाड़ियां हैं उनमें प्रत्येक की सौ-सौ शाखाएं निकलती हैं, पुनः उन शाखाओं में प्रत्येक की ७२००० —७२००० प्रतिशाखा नाड़ियां निकलती हैं।

किन्तु अन्यत्र ७२ नाड़ियों को प्रमुख माना गया है। यथा—

तेषु नाड़ीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।

—ध्यानबिन्दूपनिषद् ५१ एवं योगचूड़ामण्युपनिषद् १५

योगशिखोपनिषद (६/१४-२७) में सुषुम्ना (ब्रह्मनाड़ी), इड़ा पिङ्गला, विलम्बिनी, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, शूरा, विश्वोदरी, सरस्वती, राका, शङ्खिनी, कुहू, वारुणी एवं चित्रा इन सोलह नाड़ियों का नामोल्लेख पूर्वक स्वरूप निरूपित करते हुए इनकी स्थिति बतलाई गई है। किन्तु दर्शनोपनिषद् (४/६-८) एवं शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार चौदह नाड़ियां मुख्य होती हैं। यथा—

'द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश।'—दर्शनोपनिषद् ४/६

'मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति।' —शाण्डिल्योपनिषद् १/४/६

मुख्य चौदह नाड़ियां हैं—सुषम्ना, इडा, पिङ्गला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुसा, विश्वोदरा, सरस्वती, शङ्खिनी, कुहू, वरुणा, यशस्विनी एवं पयस्विनी। उपर्युक्त दोनों ही उपनिषदों में तथा वराहोपनिषद् में इन नाड़ियों स्थिति एवं स्वरूप का वर्णन मिलता है।

ध्यानबिन्दूपनिषद् एवं योगचूड़ामण्युपनिषद् में दस नाड़ियों को प्रमुखता दी दी गई है। यथा—

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दशस्मृता।

ये दस नाड़ियां हैं—सुषुम्ना, इड़ा, पिङ्गला, गान्धारी हस्तिजिह्वा, पूषा, अलम्बुसा शङ्खिनी, कुहू और यशस्विनी।

दर्शनोपनिषद् (४/३५-३६) में उपर्युक्त चौदह नाड़ियों के देवताओं का उल्लेख मिलता है। इन नाड़ियों में भी सुषुम्ना, पिंगला और इड़ा इन तीन नाड़ियों को मुख्य मानते हुए सुषुम्ना को ब्रह्मनाड़ी की संज्ञा दी गई है और विस्तार से उसका वर्णन किया गया है। जैसाकि प्रतिपादित किया गया है—

आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा।

ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता..............॥

—दर्शनोपनिषद् ४/६

इस सम्बन्ध में त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् ६/५, ८/१३, १८ एव शाण्डिल्योपनिषद् १/४/१० भी दृष्टव्य है।

वराहोपनिषद् के अनुसार इन नाड़ियों में दस वायु सञ्चरण करते हैं। यथा—

एवमेतासु नाडीसु चरन्ति दस वायवः।

इसके अतिरिक्त विभिन्न उपनिषदों में नाड़ीशुद्धि सूचक चिन्हों का विवरण मिलता है। यहां नाड़ीशुद्धि के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है कि इससे शरीर निरोग एवं हल्का हो जाता है, जठराग्नि का सन्दीपन होता है तथा वार्द्धक्य के पलितादि दोष दूर हो जाते हैं। इसके लिए योगतत्वोपनिषद् ४४-४६, योगचूड़ामण्युपनिषद् दर्शनोपनिषद् ५/११-१२ एवं शाण्डिल्योपनिषद् १/५/४, १/७/८-१० आदि दृष्टव्य हैं। साथ ही दर्शनोपनिषद् ५/१/११ में नाड़ीशुद्धि के प्रकार बतला कर उनका विशद वर्णन किया गया है। वहां नाड़ी शुद्धि को जीव-मुक्ति में उपकारक बतलाया गया है ।

योग शास्त्र में सामान्यत: चौदह नाड़ियों का उल्लेख मिलता है जो निम्न प्रकार है--

१. सुषुम्ना---सुषुम्ना पिण्ड में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक ।
२. पिंगला—सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व में स्थित और दक्षिण नासारन्ध्र तक ।
३. इडा---सुषुम्ना के वाम पार्श्व में स्थित और वाम नासारन्ध्र तक ।
४. हस्तिजिह्वा—अधोगामिनी वाम अंगुष्ठ पर्यन्त ।
५. यशस्विनी---अधोगामिनी दक्षिण अंगुष्ठ पर्यन्त ।
६, कुहू—योनिस्थ ।
७. अलम्बुषा—गुदस्थ ।
८. गान्धार---वाम नेत्रस्थ
९. पूषा—दक्षिण नेत्रस्थ
१०. शङ्खिनी—वाम कर्णस्थ
११. पयस्विनी—दक्षिण कर्णस्थ
१२. सरस्वती—जिह्वास्थ
१३. विश्वोदारा---मुखस्थ
१४. वरुण—सर्वदेहस्थ

इनके अतिरिक्त पांच संज्ञावह (Afferent or sensery) नाड़ियाँ और हैं जिनका कार्य क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ग्रहण करना है। इसी प्रकार पाँच चेष्टावह (Efferent or Motor) नाड़ियाँ होती हैं जिनका कार्य वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ का प्रेरण करना है। इस प्रकार योगशास्त्र के अनुसार उपर्युक्त चौदह नाड़ियों के अतिरिक्त दस नाड़ियाँ और होती हैं, जिससे नाड़ियों की कुल संख्या चौबीस हो जाती है। योगशास्त्र में कार्य एव स्थान की दृष्टि से ये नाड़ियाँ महत्वपूर्ण होती हैं। उनके द्वारा ही योग साधना का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित किया जाता है।

ऊपर नाड़ियों की जो संख्या बतलाई गई है वह शरीर में स्थित मुख्य नाड़ियों की संख्या है। शरीर में प्राण का वहन करने वाले सौषुम्निक नाड़ीतन्त्र के अतिरिक्त

वायुमार्ग के द्वारा संज्ञा का वहन करने वाली और विभिन्न चेष्टाओं के लिए उत्तरदायी नाड़ियों की संख्या एक हजार बहत्तर है। जैसा कि योगशिखोपनिषत् के षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वायुमार्गेण सर्वगम् ।
द्विसप्ततिः सहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ॥

—उर्ध्वमूल और अधः शाखा में सर्वत्र वायुमार्ग के द्वारा गमनशील प्राण विचरण करता है। शरीर में वायु गोचर एक हजार बहत्तर नाड़ियां हैं।

सम्पूर्ण वातनाड़ी मण्डल में मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी तन्त्र (Cerebrospinal system) मुख्य है। यह तन्त्र मुख्यतः शरीर में संज्ञा के अभिवहन और चेष्टाओं के लिए उत्तरदायी है। मस्तिष्क से सुषुम्ना काण्ड के निम्नान्त तक अनेक चक्र, कंदिकाएं गौणचक्र बने हुए हैं। ये सब प्राण के छोटे बड़े स्थान हैं। उन स्थानों से निकली हुई वातनाड़ियों में होकर ही प्राण देहस्थ सभी अंग-उपाङ्गों में गमनागमन करता रहता है। नाड़ीतन्त्र का द्वितीय विभाग पृष्ठवंश के बाहर अवस्थित है। उसने पृष्ठवंश (सुपुष्मा काण्ड) के अन्दर और बाहर विद्यमान नाड़ीचक्रों (Plexuses) में नियत स्थान बनाए हैं। इसे स्वतन्त्र नाड़ीतन्त्र (Autonomic Nervous System) की संज्ञा दी गई है। यह तन्त्र मन और बुद्धि के अधीन न रहते हुए अपनी संरक्षण प्रवृत्ति का संचालन स्वयं करता है। यह पूर्णतः स्वाधीन रहते हुए अन्नपाचन, रक्ताभिसरण, स्वेदवहन आदि अन्यान्य शरीर व्यापार का स्वतः ही संचालन करता है। यह स्वतन्त्र नाड़ीतन्त्र पूर्णतः उपर्युक्त मस्तिष्क-सौषुम्निक नाड़ीतन्त्र से भिन्न नहीं है। इसका कारण यह है कि इस नाड़ीतन्त्र के केन्द्र मस्तिष्क और सुषुम्ना काण्ड में भी विद्यमान हैं। इस तन्त्र के दो मुख्य विभाग हैं—स्वतन्त्र (Sympathetic) और परिस्वतन्त्र (Parasympathetic) इन सभी में प्राण विचरण करता है।

शरीर में स्थित नाड़ीतन्त्र और नाड़ियों की संख्या के विषय में अन्य शास्त्रों में अनेक उद्धरण मिलते हैं, किन्तु उनमें एकरूपता अथवा मतैक्य का अभाव है।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ।
— छान्दोग्योपनिषद् ८-६-१

—हृदय से जो सूक्ष्म नाड़ियां निकलती हैं उनमें पिंगल, शुक्ल, नील, पीत, और लोहित वर्ण की नाड़ियां अणिम्न याने सूक्ष्मतम होती हैं। नाड़ियों का आदित्य पिंगल, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है, यह लोहित है।

इस विषय में पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र द्वारा विहित विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। तदनुसार स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल की जो नाड़ियां (आटोनोमिक नर्व्स Autonomic Nerves) होती हैं वे पिंगल वर्ण की (Gray) होती हैं, मस्तिष्क और सुषुम्ना से

निकलने वाली नाड़ियां (Cerebro-Spinal nerves) वसामय पतले कंचुकयुक्त होने से उनका वर्ण शुभ्र होता है। विद्युत् शिखा (अग्नि शिखा) स्वभावतः उर्ध्वगति करती है, तब विद्युत् का वर्ण नील, पीत, रक्त आदि भासित होता है, इस हेतु से नाड़ियों के वर्ण प्रतीत हो सकते हैं। शरीर में स्थित व्यान वायु वात-प्रणालियों के द्वारा रस वाहिनियों, रक्तवाहिनियों, पित्तवाहिनियों आदि में भी प्रवेश करता है। वाहिनियां रक्त, नील, पीत, हरित और लोहित वर्ण की होती हैं।

नाड़ी सूत्र जो सूक्ष्म होते हैं उनकी मोटाई १४-१५ मिली माईक्रोन (लगभग १/२५००० इंच) जानी गई है। इसीलिए श्रुति भगवति में इसके लिए 'अणिम्न' विशेषण का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है सूक्ष्मतम।

इस प्रकार न केवल योग साधना में अपितु अन्य तन्त्र में भी नाडी का महत्व असंदिग्ध है। योगशास्त्र के अनुसार योगिजनों एवं साधकों ने अपने साधना काल में स्वयं इसका अनुभव किया, तत्पश्चात् ग्रंथों में उसका प्रतिपादन किया।

आयुर्वेद में नाड़ी वर्णन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आयुर्वेद में रोग विज्ञान की दृष्टि से नाड़ी विज्ञान का विवेचन किया गया है। आयुर्वेद के अनुसार नाड़ी सम्बन्धी ज्ञान मानव शरीर में हाथ के अंगुष्ठ मूल में किया जाता है, जैसा कि आचार्य शार्ङ्गधर के निम्न वचन से स्पष्ट है—

करस्यांगुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टाया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः॥

—शार्ङ्गधर संहिता ३/१

अर्थात् हाथ के अंगुष्ठ मूल याने कलाई में जीव साक्षी रूप जो धमनी है उसकी चेष्टा (क्रिया) से ही शरीर के ज्ञाता वैद्यों के द्वारा सुख-दुःख (आरोग्य या रोग) का ज्ञान किया जाता है।

सामान्यतः हाथ के अंगूठे के मूल (मणिबन्ध-कलाई प्रदेश) में स्फुरणशील जिस धमनी का अनुभव होता है उसे ही नाड़ी कहते हैं। वह जीव की साक्षी स्वरूप है अर्थात् उसके द्वारा ही यह ज्ञान होता है कि मनुष्य के शरीर में जीव या प्राण विद्यमान हैं या नहीं? क्योंकि किसी कारणवश जब मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है तब जीवन का कोई बाह्य चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ता और शरीर की बाहर की समस्त चेष्टाएं बन्द हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में नाड़ी का स्पर्श करते ही पता चल जाता है कि शरीर में अभी प्राण हैं। क्योंकि शरीर में जब तक प्राण अवस्थित रहता है तब तक नाड़ी चलती रहती है। इसीलिए उसे 'जीव साक्षिणी' कहा गया है।

आयुर्वेद के चरक संहिता आदि आर्षग्रंथों में उपर्युक्त नाड़ी सम्बन्धी वर्णन प्राप्त नहीं होता है, तथापि इसकी उपयोगिता ऐसी है कि सभी चिकित्सकों को इसका

ज्ञान होना आवश्यक है, अतः सभी इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। विज्ञ चिकित्सक इसके चमत्कारिक उपयोग से असीम लाभ उठाकर सुयश प्राप्त करते हैं। रोगी की शोचनीय अवस्था में नाड़ी परीक्षा द्वारा ही वैद्य रोगी की अवस्था का समुचित ज्ञान प्राप्त कर पाता है। नाड़ी परीक्षा के द्वारा वैद्य को क्या-क्या ज्ञान प्राप्त होता है यह निम्न उद्धरण द्वारा स्पष्ट है :—

प्रदर्शयेद्दोषनिजस्वरूपं व्यस्तं समस्तं युगलीकृतं च।
मूकस्य मुग्धस्य विमोहितस्य दीपप्रभावा इव जीवनाड़ी॥

अर्थात् जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में समस्त वस्तुएं आलोकित होती हैं उसी प्रकार मूक, मुग्ध और मूर्छित मनुष्य की जीवनाड़ी दोषों से उत्पन्न व्यस्त (एक दोषज) समस्त (सन्निपातज) और द्वन्द्वज लक्षणों को बतलाती है।

इसी प्रकार नाड़ी के द्वारा जीवन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न दोष के अनुसार नाड़ी की गति में भिन्नता रहती है। शास्त्रों में नाड़ी की गति विविध प्राणियों की गति के समान बतलाई गई है। जैसे वक्रगति, चपल गति, सूक्ष्म गति आदि। इसके अतिरिक्त स्थिर, कठिन, शीत, ईषत् मन्द, सरल, दीर्घ, तिर्यक्, उष्ण, नमित, शीघ्र, मलोपेता, गुर्वी, सामा, गरीयसी, लघ्वी, गम्भीरा, क्षीण, शिथिल और व्याकुल आदि भाव भी नाड़ीगत परीक्ष्य भाव होते हैं। सामान्यतः पुरुष के दक्षिण हस्त में और स्त्री के वाम हस्त में नाड़ी परीक्षण का वैशिष्ट्य रहता है।

योग-शास्त्र में नाड़ी सम्बन्धी जो उल्लेख मिलता है आयुर्वेदोक्त नाड़ी वर्णन के साथ उसका कोई सामञ्जस्य प्रतीत नहीं होता। क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार "करस्यांगुष्ठमूल" में नाड़ी का बाह्य परीक्षण सम्भव नहीं है। तथापि यह विचारणीय एवं अनुसंधानीय विषय है कि योगशास्त्र में जिन नाड़ियों का उल्लेख मिलता है आयुर्वेदीय शारीर शास्त्र में उसका क्या महत्त्व एवं उपयोगिता है ?

सुषुम्ना–इड़ा–पिंगला

योगशास्त्र में जो नाड़ियां वर्णित हैं उसमें सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी सुषुम्ना प्रधान है। योगशास्त्र के अनुसार शरीर में व्याप्त अनन्त नाड़ियों का उद्भव सुषुम्ना से ही माना गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है :—

"नाड्योऽनन्ता समुत्पन्ना सुषुम्ना पञ्चपर्वसु।"

—शारदा तिलक तंत्र

अर्थात् सुषुम्ना के पाँच पर्वों से अनन्त नाड़ियाँ समुत्पन्न हुई हैं।

तंत्र ग्रंथों में सुषुम्ना की स्थिति बतलाते हुए उसे सभी नाड़ियों का आश्रय बतलाया गया है जिसमें सभी नाड़ियां समाश्रित हैं। निम्न उद्धरण द्वारा इसकी पुष्टि होती है—

तत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारसुशोभनम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्नायाः मूलं सविवरं स्थितम् ॥
तालुमूले सुषुम्ना सा अधोवक्त्रा प्रवर्तते ।
मूलाधारेण योऽनन्ता सर्वनाड़ीसमाश्रिता ॥

अर्थात् उसके ऊपर तालुमूल में सुन्दर सहस्रार है जिसमें विवरण सहित सुषुम्ना का मूल स्थित है । तालुमूल में वह सुषुम्ना अधोमुख हुई विद्यमान है जो मूलाधार के द्वारा सर्व नाड़ियों की आश्रय है या जिसमें सभी नाड़ियां समाश्रित हैं ।

मानव शरीर में सुषुम्ना की स्थिति के विषय में तन्त्र ग्रन्थों में जो विवरण उपलब्ध होता है उसके अनुसार सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के मध्य में विद्यमान है । इसके दोनों ओर इडा और पिंगला नामक नाड़ियां विद्यमान हैं । सुषुम्ना के बाईं ओर इडा और दाहिनी ओर पिंगला नामक नाड़ी स्थित रहती है । इन दोनों नाड़ियों को चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी भी कहा जाता है । इन तीनों नाड़ियों की मानव शरीर में स्थिति के विषय में कतिपय निम्न उद्धरण महत्त्वपूर्ण हैं—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे मध्ये नाड़ी सुषुम्ना ।
सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् भित्वा देदीप्यते सा ॥

— षट्चक्रनिरूपण

अर्थात् मेरुदण्ड के बाह्य प्रदेश में बाईं तथा दाहिनी ओर इडा और पिंगला नामक नाड़ियां अवस्थित हैं तथा दोनों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है जो मेरु के मध्य भाग में स्थित समस्त कमलों को भेदकर देदीप्यमान होती है ।

"सुषुम्ना चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता ।"

-- शारदा तिलकतन्त्र

अर्थात् सुषुम्ना मेरु के मध्य में चव्य नामक लता के (गुच्छों) के समान (आकार वाली) है ।

"सुषुम्ना ग्रीवां तां प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता ।"

—षट्चक्रनिरूपण टीका

अर्थात् सुषुम्ना उस ग्रीवा में जाकर तिर्यग्भूत होकर स्थित है ।

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥

अर्थात् इडा तो भगवती गंगा है और पिंगला यमुना नदी है । इडा और पिंगला के मध्य में जो सुषुम्ना है वह सरस्वती है ।

ऊपर जिन कमलों का निर्देश दिया गया है वे तन्त्र-ग्रंथों में प्रतिपादित छ चक्र हैं । इन छह चक्रों का नाम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञाचक्र है । इनका वर्णन आगे किया जायगा । इन समस्त चक्रों का अधिष्ठाता रूप

सहस्रार चक्र है जो आयुर्वेद के अनुसार मस्तिष्क हो सकता है। इन षट्चक्रों में से होकर सुषुम्ना नाड़ी की शाखाएं गुजरती हैं। यही उनका पूर्व लिखित भेदन है। सुषुम्ना के नीचे सिरे से लगा हुआ सहस्रार चक्र है जहां कुण्डलिनी शक्ति वास करती है। सुषुम्ना के ऊपरी सिरे से लगा हुआ सहस्रार चक्र है जो ज्ञान का आयतन है। अत: सभी चक्रों में यह प्रमुख माना गया है।

आयुर्वेद में योगशास्त्र या तन्त्र ग्रंथों की भाँति सुषुम्ना, इडा, पिंगला और षट्चक्रों का उल्लेख नहीं मिलता है। तंत्र ग्रंथों में इनका आश्चर्यजनक रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है जो प्राचीन भारतीय विद्वानों के शरीर विषयक प्रचुर ज्ञान का पुष्ट प्रमाण है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार सुषुम्ना मस्तिष्क का ही पृष्टवंशगत अंश और विस्तार है, जैसा कि निम्न कथन से स्पष्ट है :—

The extension of the brain downwords is the medulla spinalis more usually known as the spinal Cord.

—Human Physiology, P/224

यद्यपि इडा, पिंगला और उनसे सम्बद्ध षट्चक्रों की स्थिति सिर के बाहर ही होती है और उनका कर्म भी मस्तिष्क से अंशत: स्वतन्त्र होता है, तथापि उनका भी नियामक केन्द्र सिर ही में होता है। इस केन्द्र को आज्ञाकन्द (थैलेमस-Thalamas) कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर में शिर कितना महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से आयुर्वेद में शिर की जो श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है तथा उसे समस्त इन्द्रियों, चेतना और ज्ञान का अधिष्ठान कहा गया है वह सर्वथा समीचीन एवं आधुनिक विज्ञान सम्मत है। शिर में समस्त इन्द्रियां आश्रित होने के कारण उसे उत्तमांग माना गया है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

प्राणा: प्राणभृतां यत्र स्थिता: सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमांगमंगनां शिरस्तभिधीयते ॥

—चरक संहिता, सूत्रस्थान १७/१२

अर्थात् जिसमें प्राणियों के प्राण और समस्त इन्द्रियां स्थित हैं, वह शिर (शरीर के) समस्त अंगों में उत्तमांग कहलाता है।

अष्टांगहृदयकार आचार्य वाग्भट्ट ने शरीर और शिर का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए शरीर में शिर की उपयोगिता एवं महत्व को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है। उन्होंने शरीर की रचना एक वृक्ष के रूप में स्वीकार की है और शिर को उसका मूल माना है। सामान्यत: किसी भी वृक्ष का मूल नीचे की ओर भूमि के अन्दर होता है। किन्तु आचार्य वाग्भट् के अनुसार शरीर एक विलक्षण अश्वत्थ वृक्ष है। इसका मूल ऊपर है और शाखाएं नीचे की ओर सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं। यह मूल जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है—मस्तिष्क है। इनमें ज्ञान ग्रहण

करने वाली नाड़ियां प्रविष्ट होती हैं और अंग-प्रत्यंग को कर्म की प्रेरणा-आज्ञा देने वाली नाड़ियां इससे निकलती हैं। ये ही मस्तिष्क रूप मूल की शाखाएं हैं। इनके अधीन शरीर की ज्ञानकर्मरूप समस्त क्रियाएं हैं जो वायु के द्वारा सम्पादित होती हैं। यह वायु भी प्राणस्वरूप है जो शिर-मस्तिष्क में रहता है। इसीलिए शिर को उत्तमांग कहा गया है और उसकी रक्षा का विशेषतः निर्देश दिया गया है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखामृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणस्तस्माद्रोगान् शीघ्रतरं जयेत् ॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

—अष्टांग हृदय, सूत्रस्थान २४/५८-५९

अर्थात् ऋषियों ने यह पुरुष ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा वाला बतलाया है। अतः मूल (शिर) पर प्रहार करने वाले रोगों को शीघ्र जीतना चाहिये। चूंकि शिर में सभी इन्द्रियां और प्राण समाश्रित हैं, इसलिए उस उत्तमांग (शिर) की रक्षा में सावधान रहना चाहिये।

इसी प्रसग में तन्त्रान्तरकार का निम्न वचन भी महत्त्वपूर्ण है—

अनामये यथा मूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्तते।
अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्धते ॥

—च० सू० २/३ पर चक्रपाणि द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर वचन

अर्थात् जिस प्रकार मूल के निरोग रहने पर वृक्ष सम्यक्तया प्रवर्धित होता है, उसी प्रकार शिर के निरोग रहने पर शरीर की सम्यक्तया वृद्धि (पोषण-संवर्धन) होती है।

आधुनिक दृष्टि से सुषुम्ना

आधुनिक शरीर रचना विज्ञान में सुषुम्ना की रचना के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार करोटि के अधोभाग में एक छिद्र होता है। यहीं से सुषुम्ना का प्रारम्भ होता है। सुषुम्ना की स्थिति पृष्ठवंश में है। इसकी मोटाई कनिष्ठिका अगुलि के बराबर और लम्बाई लगभग अठारह इंच होती है। इसके मध्य में एक अतिसूक्ष्म प्रणाली होती है जो केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखी जा सकती है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि आधुनिक दृष्टि से नाड़ी संस्थान के दो विभाग हैं। जिसमें पहला मस्तिष्क सौषुम्निक नाड़ी संस्थान (सेरिब्रो स्पाइनल नर्वस सिस्टम—Cerebrospinal nervous System) है। इस नाड़ी संस्थान के दो मुख्य अवयव हैं—एक मस्तलुंग पिण्ड और दूसरा सुषुम्ना। मस्तुलुंग पिण्ड का प्रधान भाग मस्तिष्क (सेरिब्रम-Cerebrum) होता है। मस्तिष्क के अतिरिक्त मस्तुलुंग पिण्ड

के चार अन्य भाग और होते हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—धम्मिल्लक, (सेरीबेलम-Cerebellum), मस्तुलुंग मध्य (मिडब्रेन Mid brain), उष्णीषक (पौंस Pons) तथा सुषुम्ना शीर्षक (मेड्यूला ओब्लोंगेटा-Medulla Oblongata) ये सब विभाग करोटि (खोपड़ी) में होते हैं। मस्तुलुंग पिण्ड पर अनेक सीताएँ (छोटी-छोटी खाइयाँ) होती हैं। धम्मिल्लक मस्तिष्क के पृष्ठभाग के नीचे की ओर होता है। मस्तुलुंगमध्य वस्तुतः मुख्यरूप से मस्तिष्क, धम्मिल्लक एवं उष्णीषक को परस्पर जोड़ने वाला अवयव है। इनके नीचे ग्रन्थि के आकार का उष्णीषक होता है। इसके भी नीचे सुषुम्ना शीर्षक होता है। सुषुम्नाशीर्षक नीचे की ओर सुषुम्ना के अग्रभाग से संयुक्त रहता है।

मस्तुलुंगपिण्ड और सुषुम्ना दोनों तीन वृत्तियों (कलाओं या आवरणों) से वेष्टित होते हैं। मस्तुलुंग पिण्ड के अन्दर चार गुहाएं होती हैं। इन गुहाओं, अन्दर की वृत्तियों के दोनों अन्तराल और सुषुम्ना की प्रणाली के मध्य में सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड (Cerebrospinal fluid) नामक द्रव रहता है। आयुर्वेद की दृष्टि से इसे तर्पक कफ कहा जा सकता है।

यदि मस्तुलुंगपिण्ड और सुषुम्ना को काटकर देखा जाय तो उसमें असहाय आंखों से भी दो प्रकार की रचनाएं स्पष्टतः दिखाई देंगी। एक भाग शुभ्रवर्ण होने के कारण शुभ्रवस्तु (व्हाइट मैटर White Matter) तथा दूसरा भाग धूसर वर्ण होने के कारण धूसर वस्तु (ग्रे मैटर-Gray Matter) कहलाता है। शुभ्रवस्तु नाड़ी सूत्रों (नर्व फाइबर्स-Nerve fibers) के द्वारा तथा धूसर वस्तु नाड़ी कोषों (नर्वसेल्स-Nerve Cells) के द्वारा निर्मित होती है। मस्तुलुंग पिंड में धूसर वस्तु बाहर की ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दर की ओर होती है। सुषुम्ना में इसके विपरीत शुभ्रवस्तु बाहर की ओर तथा धूसर वस्तु अन्दर की ओर होती है। धूसर वस्तु वह भाग है जिसमें संज्ञाओं के वेग आते हैं तथा जहाँ से चेष्टाओं के वेग अंगों में जाते हैं।

अनुप्रस्थ रूप से (चौड़ाई के रूप में) यदि सुषुम्ना को काटा जाय तो इसमें दोनों वस्तुएं स्पष्टतः लक्षित होंगी। धूसर वस्तु का अवस्थान (आकार) अंग्रेजी अक्षर एच-H के सदृश होता है। मस्तुलुंग पिण्ड के समान सुषुम्ना में भी धूसर वस्तुओं की रचना प्रधानतः नाड़ी कोषों (नर्वसेल्स-Nerve Cells) से होती है और शुभ्रवस्तु की नाड़ी सूत्रों से। धूसर वस्तु के दो सिरे पीछे की ओर तथा दो आगे की ओर निकले होते हैं। अगले सिरों को अग्रिम शृंग (एन्टीरियर कॉर्नू-Anterior Cornu) तथा पिछले सिरों को पश्चिम शृंग (पोस्टेरियर कॉर्नू Posterior Cornu) कहा जाता है। सुषुम्ना काण्ड में सम्पूर्ण लम्बाई में आगे और पीछे की ओर चीरे (फिशर-Fissur) पड़े होते हैं।

सुषुम्ना काण्ड की श्वेतवस्तु का निर्माण उन नाड़ी सूत्रों से होता है जो

मस्तिष्क और अवयवों के मध्य वेग का वहन करते हैं। धूसर वस्तु का निर्माण जिन नाड़ीकोषों से होता है वे स्वयं मस्तिष्क के वल्क भाग के सदृश चैतन्य के ज्ञापक हैं। अर्थात् शरीर के विभिन्न भागों से उनमें ज्ञान के वेग पहुंचते हैं तथा वहां से चेष्टाओं के प्रवर्तक वेग अवयवों को प्राप्त होते हैं। शरीर में अन्यान्य प्रकार की जो प्रति संक्रमित क्रियाएं होती हैं, वे सुषुम्ना काण्ड द्वारा ही सम्पादित होती हैं। यही प्रति संक्रमित क्रियाएं सुषुम्ना का स्वतन्त्र कर्म है।

सुषुम्ना काण्ड से ऊपर से नीचे तक दाएं और बाएं समरूप में अनेक नाड़ियां निकलती जाती हैं। इन्हें सौषुम्निक नाड़ियां कहते हैं। ये कशेरुकाओं के छिद्रों में से बाहर आती हैं। इन नाड़ियों का मूल सुषुम्ना के मध्यवर्ती धूसर वस्तु के नाड़ी-कोष हैं। इनसे निकले नाड़ी-सूत्र मिलकर धूसर वस्तु के अग्रिम और पश्चिम श्रृंगों से बाहर निकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कशेरुका के अन्तरालवर्ती श्रृंगों से एक एक मूल प्रादुर्भूत होता है। दोनों ओर के अग्रिम और पश्चिममूल शीघ्र ही मिल जाते हैं और मिल कर एक नाड़ी बनाते हैं। यही सौषुम्निक नाड़ियां हैं। ये जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती हैं, वैसे वैसे इनके विभाग और उपविभाग होते हैं, जिनके प्रतान (शाखा प्रशाखा) त्वचा, पेशी आदि में व्याप्त होते हैं।

सौषुम्निक नाड़ियों में संज्ञावह तथा मनोवह (चेष्टावह) दोनों प्रकार के सूत्र होते हैं। किन्तु मूल में ये दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं। परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि इनके पश्चिम मूल (पश्चिम श्रृंगों से निकले मूल) तो संज्ञावह होते हैं तथा अग्रिम मूल मनोवह किंवा चेष्टावह होते हैं। संज्ञावह नाड़ी सूत्रों के द्वारा शरीर के अवयवों से स्पर्श, वेध, शीत, उष्ण, भार, आदि संज्ञाओं के वेग सुषुम्ना में पहुंचते तथा मनोवह सूत्रों के द्वारा अवयवोचित प्रतिसंक्रम के वेग अवयवों को पहुंचते हैं। ग्रीवा से वक्ष के अधोभाग पर्यन्त इस प्रकार से सौषुम्निक नाड़ियों के इकतीस युग्म निकलते हैं। नीचे के भाग में सौषुम्निक नाड़ियां अश्वपुच्छ के सदृश समानान्तर गुच्छों के रूप में निकलती हैं।

सुषुम्नाकांड का जो अंश विकारग्रस्त हो जाता है उससे निचले भाग से निकलने वाली नाड़ियां जिन अवयवों को जाती हैं, उनमें संज्ञा एवं चेष्टा सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी कशेरुकाओं के मध्यावर्ती तरुणास्थिमय गद्दी या स्वयं कशेरूका का शोथ, स्थानभ्रंश या क्षयवश संकोच होने पर इनका दबाव स्थानीय नाड़ी पर पड़ता है। इस प्रकार भी नाड़ी के द्वारा नियन्त्रित अवयव का वध (अकर्मण्यता) हो जाता है।

योगशास्त्र में कुण्डलिनी का स्वरूप

योगशास्त्र में कुण्डलिनी का स्वरूप निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

"कुण्डले अस्या: स्त: इति कुण्डलिनी"

—अर्थात् इसके दो कुण्डल होते हैं, अतः यह कुण्डलिनी कहलाती है ।

"बिसतन्तु स्वरूपणां तां विदुः त्रिवलयां प्रिये ।" —ज्ञानार्णव तन्त्र

—हे प्रिये ! उसे (कुण्डलिनी को) त्रिवलि में बिसतन्तु के स्वरूप वत् जानो ।

"परा शक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तुतनायको ।"—ललिता सहस्रनाम

—वह कुण्डलिनी बिसतन्तुमय अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति है ।

"शक्ति कुण्डलिनी नाम बिसतन्तु निभा शुभा ।"

—योगकुण्डल उपनिषद्

बिसतन्तु के समान कुण्डलिनी नाम की शुभ शक्ति होती है ।

तडिल्लेखेव तन्वी तपनवैश्वानरमयी ।

तडिल्लता समरुचिर्विद्यु ल्लेखेव भास्वरा ।। —वाम के स्वरतन्त्र

वह कुण्डलिनी विद्युत किरण की भांति तन्वी है, वह उष्ण अग्नि से युक्त है, बिजली की आभा के समान उसकी किरणें (कान्ति) हैं और बिजली की भाँति ही वह प्रकाशमान किरणों वाली है ।

योगीजन इस कुण्डलिनी शक्ति को प्राणायाम के द्वारा जाग्रत करते हैं । जिसमें मूलबंध और उड्डियान बंध का अभ्यास विशेष महत्वपूर्ण होता है । इन तीनों बंधों के समुचित अभ्यास एवं सिद्धि के बिना कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सम्भव नहीं है । तीनों बंधों का विवरण प्राणायाम के प्रकरणान्तर्गत दिया जा चुका है ।

नाड़ी चक्र निरूपण

योग शास्त्र में नाड़ी चक्रों को भी महत्व पूर्ण माना गया है । ये नाड़ी चक्र शरीर में श्रोणि प्रदेश से लेकर मस्तिष्क तक के अन्तराल में शरीर में विभिन्न स्थानों में स्थित हैं । मूलतः शरीर में षट् चक्र विद्यमान हैं और ये सभी चक्र सुषुम्ना नाड़ी से सम्बन्धित हैं । इनके अतिरिक्त मस्तिष्क के उर्ध्व भाग में भी एक नाड़ी चक्र की अवस्थिति है जो षट् चक्र से भिन्न होने के कारण महाचक्र की संज्ञा से अभिप्रेत है । इन सभी चक्रों का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

हमारे देश में बौद्ध युग से पहले शाक्त सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाएं प्रत्येक राज्य और प्रान्त में फैल चुकी थीं । शाक्त सम्प्रदाय का प्रचार भारत में इतनी द्रुत गति से हुआ कि अल्प काल में ही अधिकांश लोगों की श्रद्धा इस सम्प्रदाय की विधियों में हो गई । शाक्त सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित विधि-विधानों में निष्णात विद्वानों को तान्त्रिक कहा गया और उनके द्वारा जिन ग्रन्थों की रचना की गई वे 'तन्त्रशास्त्र' कहलाए । उनमें से अनेक ग्रंथ लुप्त प्रायः हो चुके हैं, फिर भी अनेक ग्रन्थ अभी भी यत्र तत्र उपलब्ध हैं । इन ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय के रूप में कुण्डलिनी, सुषुम्ना नाड़ी, इडा पिंगला नाड़ी, अन्य वात नाड़ियां, सहस्रदलकमल, शिवस्थान, विभिन्न चक्र आदि योग शास्त्र से सम्बन्धित विषयों का व्यवस्थित विवेचन मिलता है ।

तन्त्र शास्त्र में उपलब्ध विवेचन के अनुसार सहस्रदल कमल महाचक्र है। यह अग्रिम मस्तिष्क (Cerebrum) के भीतर उर्ध्वभाग में स्थित है। वह पूर्ण चन्द्र के समान अति शुभ्र, देदीप्यमान, सहस्र (अनेक) दल युक्त और अधोमुख है। इस मस्तिष्क के भीतर अनेक गुहाएं हैं। इनमें से एक को ब्रह्मगुहा की संज्ञा दी गई है। उसके अन्दर शून्याकाश है। उस स्थान में प्राणतत्व सुषुम्ना मार्ग से उर्ध्वगमन करके विश्रान्ति लेता है। वही महानाद रूप शिवस्थान है और वहीं पर आत्मा का निवास होता है।

योग शास्त्र में षट् नाड़ी चक्रों को विशेष महत्व दिया गया है, अतः तन्त्रों एवं शास्त्रों में उनका विवेचन मिलता है। आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुरूप वह संक्षिप्त है। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाड़ीचक्रों के लिए आधुनिक शरीर शास्त्र में जो संज्ञा दी गई है वह भी दृष्टव्य है। उन नाड़ी चक्रों का संक्षिप्त वर्णन यहां प्रस्तुत है—

१ – मूलाधार चक्र

योग्य शास्त्र में इसे आधार चक्र के नाम से भी कहा गया है। वहाँ इसका वर्णन निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्ग संगतम्।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता॥
तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम्॥
तस्य स्याद् दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै।
परिस्फुरत्वादि सान्तं चतुर्वर्णं चतुर्दलम्॥

इस कमल का नाम 'कुल' है, यह सुवर्ण के समान कान्तिवाला तथा स्वयम्भू-लिङ्ग से युक्त है। उस पद्म में द्विरण्ड नाम का सिद्ध, डाकिनी अधिष्ठातृ और गणेश देवता है। उस पद्म के मध्य में योनि है, उस योनि में कुण्डलिनी की स्थिति है और उस कुण्डलिनी के ऊपर तेज स्वरूप काम बीज भ्रमण (घूमना-फिरना) करता है। जो बुद्धिमान पुरुष इस मूलाधार पद्म का सर्वदा ध्यान करते हैं उनको दादुरी वृत्ति (मेंढक की भांति उछलना) सिद्ध होता है और क्रमशः भूमि को त्याग कर ऊपर उठता है। यह पद्म परम प्रकाशमान व से स तक (व, श, ष, स) इन चार वर्णों से चार दलों युक्त शोभित होता है। इस मूलाधार का ध्यान करने से शरीर में कान्ति, जठराग्नि की वृद्धि, अरोगता, मन्त्र सिद्धि इत्यादि का लाभ होता है।

तन्त्र शास्त्र में इसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है—

नाम —आधारचक्र
स्थान —योनि
दल—चतुः

वर्ण—रक्त
लोक—भू
दलों के अक्षर—वं शं षं सं
नाम तत्व—पृथ्वी
तत्व बीज—लं
बीज का वाहन—ऐरावत हाथी
गुण—गंध
देव—ब्रह्मा
देश शक्ति—डाकिनी
यंत्र—चतुष्कोण
ज्ञानेन्द्रिय—नासिका
कर्मेन्द्रिय—गुदा
ध्यानफल—वक्ता, मनुष्यों में श्रेष्ठ, सर्वविद्या विनोदी, आरोग्य, आनन्द चित्त, काव्य प्रबन्ध में सामर्थ्य।

आधुनिक शारीर शास्त्र में इसकी बस्ति गुह्यान्तरीय चक्र (Pelvic Plexus) संज्ञा दी गई है। इसके दो विभाग माने गये हैं, दोनों को एक संज्ञा से व्यवहृत किया गया है।

२—स्वाधिष्ठान चक्र

द्वितीय तु सरोजं च लिङ्गमूले व्यवस्थितम्।
बादि लान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम्॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम्।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी॥

द्वितीय पद्म जो लिङ्ग मूल में स्थित है ब से ल पर्यन्त अर्थात् ब, भ, म, य, र, ल इन छह वर्णों से युक्त है और छह दलों से शोभित है। इस रक्त वर्ण वाले पद्म का नाम स्वाधिष्ठान है। इस स्थान में वाण नामक सिद्ध, राकिणी देवी अधिष्ठात्री और ब्रह्मा देवता होता है। इस चक्र की सिद्धि होने पर निम्न प्राप्त होता है—

विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेद् ध्रुवम्।
सर्वरोग विनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः॥

ऐसा अनेक प्रकार का शास्त्र जिसका कभी श्रवण भी नहीं किया है। (इस चक्र की सिद्धि होने पर) उसे निःशंक होकर बोलता है, सभी रोगों से मुक्त होता है और संसार में निर्भय होकर विचरण करता है।

तन्त्र शास्त्र में इसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार बतलाया गया है—

नाम—स्वाधिष्ठान
स्थान—पेडू

दल—षट्
वर्ण—सिन्दूर
लोक—भुवः
दलों के अक्षर—बं से लं तक (बं भं मं यं रं लं)
नाम तत्व—जल
तत्वबीज—वं
बीज वाहन—मकर
गुण—रस
देव—विष्णु
देवशक्ति—डाकिनी
यंत्र—चन्द्राकार
ज्ञानेन्द्रिय—रसना
ध्यान फल—अहंकारादि विकारों का नाश, योगियों में श्रेष्ठ, मोह रहित तथा गद्य-पद्य रचना में सामर्थ्य।

आधुनिक शरीरशास्त्र में इसे अधराम्बिक नाड़ी चक्र (Inferio Rmesenteric Plexus) की संज्ञा दी गई है।

३—मणिपूरक चक्र (Epigastic Plexus)

तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारं डादि फान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमंगलदायकः।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका॥

तीसरा कमल नाभि में स्थित रहता है जो मणिपूरक संज्ञा वाला है। वह दस दल से युक्त ड से फ पर्यन्त अर्थात् ड ढ ण त थ द ध न प फ इन दस वर्ण वाला सुवर्ण की भांति शोभित है। इस स्थान में रुद्र नाम का सिद्ध जो सर्व मंगल दायक है रहता है। यहीं परम धार्मिक लाकिनी नाम की देवी और विष्णु देवता अवस्थित हैं।

इस चक्र का ध्यान करने वाला योगी निम्न फल का भागी होता है—

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तर सुखावहा॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम्॥

जो योगी सदैव इस चक्र में ध्यान स्थिर करता है, उसे निरन्तर सुख प्रदान करने वाली पाताल सिद्धि प्राप्त होती है। उसको संसार में अभिलषित समस्त वस्तुएं प्राप्त होती हैं, उसके समस्त दुःख रूपी रोगों का विनाश होता है। उसे काल को जीतने की सामर्थ्य और दूसरों के शरीर में प्रवेश करने की शक्ति प्राप्त होती है।

तन्त्र शास्त्र के अनुसार इसका संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार है—

नाम —मणिपूरक चक्र
स्थान —नाभि
दल —दस
वर्ण —नील
लोक —स्वः
दलों के अक्षर— डं से फं तक (डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं)
नाम तत्व —अग्नि
तत्व बीज —रं
बीज वाहन—मेष
गुण —रूप
देव —वृद्ध रुद्र
देवशक्ति —लाकिनी
यंत्र —त्रिकोण
ज्ञानेन्द्रिय —चक्षु
कर्मेन्द्रिय —चरण
ध्यानफल— संहार-पालन में सामर्थ्य, वचन रचना चातुर्य, जिह्वा पर सरस्वती विराम।

आधुनिक शरीर शास्त्र में इसे सौर मण्डल चक्र-Solar Plexus की संज्ञा से भी व्यवहृत किया गया है। यह चक्र उदर प्रदेश में आमाशय की पिछली ओर तथा औदर्या महाधमनी के आगे विद्यमान रहता है। जिस प्रकार सूर्य में से निकलने वाली किरणें चारों ओर फैलती हैं, उसी प्रकार इस चक्र में से निकले हुए असंख्य नाड़ी सूत्र आशयों में फैलते हैं। यही कारण है कि इसे "नाभिचक्र" की संज्ञा भी दी गई है। यह उदर प्रदेश में स्थित सभी चक्रों की अपेक्षा बड़ा है। इस चक्र के सुषुम्ना काण्ड से सम्बन्ध वाले भाग को आधुनिक परिभाषा के अनुसार "निम्न औरसी केन्द्र"—Lower Thoracic Centers की संज्ञा दी गई है।

४—अनाहत चक्र (Cardiac plexus)

इस चक्र में उत्तान और गम्भीर दो चक्र होते हैं। इसके अतिरिक्त इनके सूत्र फुफ्फुसों के सूत्रों से मिलकर वहां पर भी परिफुफ्फुस चक्रों की रचना करते हैं इस प्रकार ये कुल चार चक्र होते हैं। इस चक्र का सुषुम्ना से सम्बन्ध वाला भाग सुषुम्नाकाण्ड के अनुपृष्ठिक भाग की पहली चार कंदिकाओं के भीतर अवस्थित है। आधुनिक शरीर शास्त्र में इसे "ऊर्ध्व औरसी केन्द्र"—Upper Thoracic Centers की संज्ञा दी गई है। इस चक्र का बाह्य भाग हृदय के मूल भाग में ऊपर की ओर प्रतीत होता है। उस स्थान में अन आहत (बिना प्रेरणा के) ध्वनि सुनाई पड़ती है।

इसलिए इसे अनाहत चक्र की संज्ञा दी गई है। इसके विषय में शास्त्र में कहा गया है—

शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं पद्मं तत् मुनिभिः परिकीर्तितम्॥

जिसमें शब्द और ब्रह्म से युक्त शब्द बिना आहत हुए प्रतीत होता है उसे मुनिजनों ने अनाहत नाम का कमल कहा है।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादि ठान्तार्ण संस्थानं द्वादशारसमन्वितम्॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्।
सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता॥
एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः॥

हृदय में अनाहत नाम का चतुर्थ कमल होता है। वह बारह दलों से युक्त क से ठ पर्यन्त अर्थात् क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ इन बारह वर्ण वाला है। वह अति उज्ज्वल रक्त वर्ण वाला प्राण वायु का आधार और प्रसाद स्थान कहा गया है। इस स्थान में पिनाकी नाम का सिद्ध और काकिनी नाम की अधिष्ठात्री निवास करती है। जो योगी हृदय में स्थित इस चक्र में ध्यान लगाता है उसके प्रति काम से पीड़ित देवाङ्गनाएँ आकर्षित होती हैं।

इस चक्र में ध्यान करने से निम्न फल की प्राप्ति होती है—

ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्।
दूरश्रुतिः दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥

उसे अप्रतिम ज्ञान की प्राप्ति होती है जो तीनों काल के समस्त पदार्थों को विषय करता है। इसके अतिरिक्त दूरस्थ ध्वनियों को वह सुनता है, दूरस्थ वस्तुओं को देखता है तथा स्वेच्छा पूर्वक आकाश में विचरण कर सकता है।

इसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

नाम —अनाहत चक्र
स्थान —हृदय
दल —द्वादश
वर्ण —अरुण
लोक —महः
दल के अक्षर—कं से ठं तक (कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं)
नाम तत्व —वायु
तत्व बीज —?
बीजवाहन —मृग
गुण —स्पर्श
देव —ईशान रुद्र

देवशक्ति—शाकिनी
यंत्र —षट्कोण
ज्ञानेन्द्रिय—त्वक्
कर्मेन्द्रिय—कर
ध्यानफल—वचन रचना में सामर्थ्य, ईशत्व सिद्धि, प्राप्त योगीश्वर, ज्ञानवान्, इन्द्रियजित्, काव्य शक्ति युक्त परकाया प्रवेश।

५ विशुद्धाख्य चक्र (Carolial plexus)

यह चक्र कण्ठ प्रदेश में अवस्थित रहता है। इसके बाह्य और अन्तः दो भाग माने जा सकते हैं। आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुसार इसके बाह्य भाग की संज्ञा "परिग्रसनिक" (Pharyngeal Plexus) है। इसका अन्तभाग जो सुषुम्ना से सम्बन्धित रहता है और सुषुम्नाशीर्ष में विद्यमान रहता है उसे आधुनिक शरीरशास्त्र में "ऊर्ध्व परिस्वतन्त्र भाग (Upper Parasympathetic Portion) की संज्ञा दी गई है। शास्त्रों में इसका उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है—

विशुद्धि तनुते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धं पद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महत्परम्॥
कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता।
ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः॥
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव॥

कण्ठस्थान में स्थित कमल 'विशुद्ध' नाम का पांचवां चक्र है। वह सुन्दर सुवर्ण की भांति आभा वाला, सुस्वर युक्त तथा अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॡ ऌ ए ऐ ओ औ अं अः आदि सोलह स्वरों से युक्त होता है। इस पद्म में छगलाण्ड नामक सिद्ध और शाकिनी नाम की अधिष्ठात्री होती है। इसका जीवात्मा देवता होता है। जो योगी नित्य इसमें ध्यान करता है वह योगीश्वर पण्डित होता है। किन्तु इस विशुद्धाख्य पद्म में ध्यान लगाने वाले योगियों को चारों वेद रहस्य पूर्ण निधि की भांति विभासित होते हैं।

तन्त्र शास्त्र में इसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार मिलता है—

नाम —विशुद्धाख्य चक्र
स्थान —कण्ठ
दल —षोडश
वर्ण —धूम्र
लोक —जन

दल के अक्षर—अ से अः तक (अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः)

नाम तत्व —आकाश

तत्व बीज—हँ

बीजवाहन—हस्ति

गुण —शब्द

देव —पंचवक्त्र

देवशक्ति —शाकिनी

यंत्र —शून्य चक्र

ज्ञानेन्द्रिय —कर्ण

कर्मेन्द्रिय —वाक्

ध्यानफल —काव्य रचना सामर्थ्य, ज्ञानवान्, उत्तमवक्ता, शांतचित्त त्रिलोकदर्शी, सर्वहितकारी, आरोग्यवान्, चिरञ्जीवी और तेजस्वी ।

६—आज्ञाचक्र (Medulla)

आधुनिक शरीर शास्त्र के अनुसार कंदाधरिक प्रदेश (Subtbolemicd-regions) में दो आज्ञाकन्द हैं। दोनों आज्ञाकन्दों के निम्नतल के जो नीचे के भाग हैं उनमें अनेक कन्दाणु (Neurons) विद्यमान हैं जो स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल के केन्द्र रूप से कार्य करते हैं। निद्रा केन्द्र भी उसी प्रदेश मे अवस्थित रहता है। आज्ञा-चक्र सामान्यतः भ्रूमध्य में अवस्थित रहता है और उसके नाड़ीसूत्र चक्र के बाहर सम्पूर्ण भ्रूभाग में फैले रहते हैं। वहाँ पर ध्यान केन्द्रित करने पर कन्दाणुकों पर असर होता है। प्राचीन आचार्यों ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है—

आज्ञानामाम्बुजं तद्धि मकरसदृशं ध्यानधामप्रकाशम् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र भ्रुवोरराज्ञेति कीर्तितम् ।।
आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालसिद्धो देव्यत्र डाकिनी ।।
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ।।
तत्र देवः परं तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नाऽत्रसंशयः ।।
आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ।।
तद्बिन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मव्यवस्थितम् ।।

आज्ञा नामक यह पद्म दोनों भौं के मध्य में स्थित रहता है जो हं और क्षं दो बीज से युक्त दो पत्र वाला है। यह शुक्ल वर्ण का होता है जिसमें महाकाल नाम का सिद्ध, हाकिनी अधिष्ठातृ और परमात्मा देवता होता है। यह शरत्कालीन चन्द्र के समान कान्ति वाला होता है तथा उसमें ठं बीज (अक्षर बीज) होता है। यह परम हंस रूप है जिसे जान कर मनुष्य कभी कष्ट नहीं पाता है। इसमें अत्यन्त उत्कृष्ट तेज होता है जो देवरूप है तथा समस्त तन्त्रों में मन्त्रणा करने वाले इसका चिन्तन करके उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त करते हैं इसमें कोई संशय नहीं है। यह आज्ञा पद्म (चक्र) है जिसमें देव महेश्वर है। योग का चिन्तन करने वालों के द्वारा उससे ऊपर तीन पीठ बतलाए गए हैं, भाल (मस्तक) पद्म में व्यवस्थित वह बिन्दुनाद शक्ति के नाम से कहा जाता है।

शास्त्र में इसका विवरण निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है—

नाम — आज्ञा चक्र
स्थान — भ्रू मध्य
दल — द्विदल
वर्ण — श्वेत
दल के अक्षर - ह, क्ष
नाम तत्व — महत्
तत्व बीज — अँ
बीज वाहन — नाद
देव — लिंग
देव शक्ति — हाकिनी
यंत्र — तपः
ध्यान फल — वाक् सिद्धि

इस प्रकार योग शास्त्र में मुख्यतः ये छः चक्र बतलाए गए हैं जो सम्पूर्ण मेरु दण्ड में मूल से शीर्ष तक अवस्थित हैं। योगीजन इन चक्रों में अपनी शक्ति को केन्द्रित कर कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं।

आसनों का प्रायोगिक स्वरूप

आयुर्वेद की दृष्टि से योगासनों की उपयोगिता पर पूर्व प्रकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। न केवल स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से अपितु विभिन्न रोगों के निवारणार्थ तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी योगासनों की उपयोगिता एवं महत्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास में योगासनों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा गया है। यही कारण है कि दिन प्रतिदिन योगाभ्यास एवं योगासनों के अभ्यास के प्रति लोगों की रुचि एवं लगाव बढ़ता जा रहा है।

यहां पर अति महत्व के कुछ विशिष्ट एवं सरल योगासनों की क्रियाविधि पर प्रकाश डाला जा रहा है, ताकि उनके प्रयोग एवं अभ्यास से स्वास्थ्य रक्षा तथा रोगों से से बचाव किया जा सके। योगासनों के अभ्यास से पूर्व कुछ सावधानियों और विशेष बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। इससे योगासनों का अभ्यास करने में सरलता होगी तथा उनका अपेक्षित अनुकूल प्रभाव शरीर, मन और मस्तिष्क पर पड़ेगा। तदर्थ निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—

१. जिस स्थान पर आसन किया जाना है वह स्थान स्वच्छ एवं साफ सुथरा हो।

२. आसन ऐसे स्थान पर किया जाय जहां शुद्ध वायु का संचार होता हो।

३. मकान के अन्दर यदि आसनाभ्यास किया जाता है तो कमरा खुला हुआ एवं हवादार होना चाहिये। आसन एकान्त स्थान में किया जाय।

४. आसन करने से पूर्व शरीर और वस्त्रादि की स्वच्छता आवश्यक है।

५. प्रातः, सध्या एवं स्नान करने से पूर्व आसन करना चाहिये।

६. रोग विशेष की स्थिति में आवश्यकतानुसार चिकित्सक की सलाह से आसन के लिए उपयुक्त समय निर्धारण किया जा सकता है।

७. आसन करते समय मन में किसी प्रकार का विकार भाव न हो और चित्त प्रसन्न हो।

८. भोजन करने के तत्काल बाद आसन नहीं किया जाय। भोजन करने के पश्चात् लगभग चार या साढ़े चार घंटे के अन्तराल से आसन किया जाय।

९. आसन करने के पश्चात् लगभग आधा घंटे तक विश्राम किया जाय। उसके बाद स्नानादि करके दूध-फल आदि का सेवन किया जाय। चाय-काफी आदि उत्तेजक नशीले पेयों से यथा सम्भव बचा जाय।

१०. आसनाभ्यास करने वालों को यथा सम्भव प्रातः पांच बजे तक शय्या-त्याग कर देना चाहिये।

११. शौच आदि दैनिक क्रिया से निवृत्ति के पश्चात् आसनाभ्यास करना

चाहिए। जो आसन कोष्ठबद्धता के निवारणार्थ किये जाते हैं उनका अभ्यास शौच से पूर्व एक गिलास जल पीकर किया जाय।

१२. स्वस्थ व्यक्ति को अपनी आवश्यकतानुसार आसन का चयन करना चाहिये।

१३. नियमित आसनाभ्यास की दृष्टि से सरल आसनों का ही चयन किया जाय। दुरूह, कष्टसाध्य एवं अलाभकर आसनों से बचा जाय।

१४. आसनाभ्यास का उद्देश्य स्वान्तः सुखाय होना चाहिये, न कि प्रदर्शन।

आसनों का वर्गीकरण

योगशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में आसनों का वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु शरीर एवं उसके अंगों की विभिन्न प्रकार की स्थितियों को ध्यान में रखते हुए यदि उनका वर्गीकरण किया जाय तो उपयुक्त होगा। कुछ विद्वानों ने आसनों को दो वर्गों में विभाजित किया है (१) विकासासन तथा (२) ध्यानासन। जिन आसनों से शरीर के विविध अंगों के द्वारा व्यायामात्मक क्रिया होती है तथा शरीर का विकास होता है उन्हें विकासासन के वर्ग में रखा गया है। जैसे पवनमुक्तासन, धनुरासन आदि। जो आसन बैठकर मुख्यतः ध्यान आदि के लिए किए जाते हैं उन्हें ध्यानासन में परिगणित किया गया है। जैसे सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन आदि। किन्तु आसनों को इन दो वर्गों की अपेक्षा शरीरावयवों की भिन्न-भिन्न स्थिति के अनुसार और अधिक वर्गों में विभाजित किया जाय तो अधिक उपयुक्त रहेगा। सामान्यतः आसनों को निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. बैठकर किए जाने वाले आसन—

सिद्धासन, पद्मासन, अर्धपद्मासन, बद्धपद्मासन, स्वस्तिकासन, सुखासन योग-मुद्रासन, पवनमुक्तासन, वज्रासन, गोमुखासन, कूर्मासन, शशकासन, मत्स्येन्द्रासन, जानुशिरासन, वृश्चिकासन।

२. खड़े होकर किए जाने वाले आसन—

ताड़ासन, त्रिकोणासन, उत्कटासन आदि।

३. चित लेट कर किए जाने वाले आसन—

शवासन, सर्वाङ्गासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्यासन, चक्रासन।

४. पेट के बल लेटकर किए जाने वाले आसन—

भुजङ्गासन, शलभासन, धनुरासन, मयूरासन, नाभि-आसन या दोलासन।

५. उलटे (सिर के बल) खड़े होकर किए जाने वाले आसन— शीर्षासन

इन आसनों में सूर्यनमस्कार का उल्लेख नहीं है, इसका कारण सम्भवतः यह है कि क्रिया विधि की सरलता के कारण तथा उसका स्वरूप विशुद्धतः व्यायाम परक

होने के कारण इसे योगासनों की श्रेणी में नहीं रखा गया। तथापि उसकी उपयोगिता और महत्व असंदिग्ध है।

१. सूर्य नमस्कार

इस क्रिया को यद्यपि पूर्णतः योगासन की संज्ञा नहीं दी जा सकती, किंतु उपयोगिता एव आवश्यकता की दृष्टि से यह ऐसी सरल प्रक्रिया है जिसमें अनेक आसन सम्मिलित हैं। यह वस्तुतः कुछ योगासनों एवं प्राणायाम के पूर्व का एक ऐसा मिला-जुला रूप है जो दोनों की पृष्ठभूमि तैयार करता है। अतः योगासन एवं प्राणायाम के लिए इसका अभ्यास आवश्यक है। सूर्य नमस्कार सामान्यतः सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय किया जाता है।

सम्पूर्ण सूर्य नमस्कार के लिए शरीर के अंगों से विभिन्न क्रियाएं करते हुए दस अवस्थाओं से गुजरना आवश्यक है। उन दस अवस्थाओं में शरीर के अगों की स्थिति एवं क्रिया का वर्णन निम्न प्रकार है—

१. **प्रथम अवस्था**—इस अवस्था में शरीर सीधा हो। दोनों हाथ वक्ष से सटे हुए, एक दूसरे से चिपके हुए (नमस्कार की मुद्रा में) हों। दोनों हाथ के अंगूठे वक्ष के मध्य भाग में स्थित गड्ढे में टिके हुए हों। शेष चारों अंगुलियां परस्पर चिपकी हुई अंगूठे से दूर रहें। दृष्टि नासाग्र पर स्थित हो, फुफ्फुस फूले हुए, वक्ष उन्नत और उदर दबा हुआ हो।

२. **द्वितीय अवस्था**— इस अवस्था में हाथों को सिर से ऊपर ले जाकर धड़ को पीछे की ओर मोड़ा जाय। इस स्थिति में मुंह बन्द करके नासिका से ध्वनियुक्त पूर्ण श्वास अन्दर ली जाय, फिर कुछ समय तक उसे भीतर रोककर रखा जाय। (याने पूरक कुम्भक किया जाय)

३. **तृतीय अवस्था** – इस अवस्था में दोनों टाँगें सीधी रखते हुए शरीर का मध्योत्तर भाग नीचे झुकाते हुए दोनों हाथों को भूमि पर टिकाया जाय तथा मस्तक को घुटनों से छुआ जाय। रोकी हुई वायु को बाहर निकाला जाय, याने कुम्भक किया जाय।

४. **चतुर्थ अवस्था**—इस अवस्था में दाहिने पैर को पीछे ले जाया जाय, बाएं पर को मोड़कर उसे आगे लाया जाय। स्थिति ऐसी हो कि बांई जाघ का दाहिने पैर की एड़ी से स्पर्श हो। दोनों हाथ भूमि पर टिके हुए, भुजाएँ सीधी हों, गर्दन तनी हुई, सिर का पिछला भाग पीछे झुका हुआ तथा दृष्टि आकाश की ओर उठी हुई हो। इस प्रकार ऊपर देखते हुए पुनः श्वास भरी जाय—पूरक किया जाय।

५. **पंचम अवस्था**— इस अवस्था में बायां पैर पीछे ले जाया जाय याने दोनों पैर समान रूप से लम्बाकार हों। स्थिति ऐसी हो कि सम्पूर्ण शरीर केवल हथेलियों और पंजों विशेषतः पैर की अंगुलियों पर टिका हो और सिर से पांव तक सीधा तना रहे, तब श्वास छोड़ी जाय।

६. षष्ठ अवस्था—इस अवस्था में पंजों और हथेलियों की स्थिति यथावत् रखते हुए दोनों घुटनों को मोड़कर भूमि पर स्पर्श करते हुए गर्दन को नीचे की ओर मोड़कर ठुड्डी को वक्षाग्र पर टिकाते हुए तथा मस्तक को भूमि पर स्पर्श कर शरीर के पीछे ले जाया जाय और श्वास खींचते हुए पूरक एवं कुम्भक किया जाय।

७. सप्तम अवस्था—साष्टांग की मुद्रा में शरीर के आठों अंग (मस्तक, नासाग्र, वक्ष, उदर, दोनों हस्ततल तथा दोनों घुटने) भूमि पर टिका दिए जावें। बाह्य कुम्भक की स्थितिकी जाय।

८. अष्टम अवस्था—इस अवस्था में हाथ और पैरों की स्थिति बदले बिना सिर और धड़ की कसेरुका (रीढ़) को उन्नत करते हुए गर्दन तनी हुई हो और ऊपर की ओर देखा जाय, भुजाएँ सीधी और तनी हुई हों तथा घुटने भूमि ा स्पर्श न करें, अपितु किंचित् ऊपर हों।

९. नवम अवस्था—इस अवस्था में श्वास छोड़ते हुए याने रेचक करते हुए नितम्बों को ऊपर उठाया जाय तथा सिर दोनों हाथों के बीच में नीचे की ओर इस प्रकार लाया जाय कि शरीर की स्थिति धनुषाकार बन जाय। तत्पश्चात् शरीर को पूर्ववत् क्रम संख्या ६ की स्थिति में लाया जाय।

१०. दसम अवस्था—इस अवस्था में श्वास अन्दर लेते हुए याने पूरक करते हुए दाहिने पैर को मोड़कर दोनों हाथों के मध्य में लाकर शरीर को क्रम संख्या ४ की स्थिति में लाया जाय।

११. एकादश अवस्था—इस अवस्था में श्वास छोड़ते हुए बायां पैर आगे लाकर दाहिने पैर के साथ रखा जाय। नितम्ब भाग ऊपर की ओर हो तथा मस्तक घुटनों से लगा हुआ हो। दोनों हथेलियां पैरों के साथ भूमि पर लगी हों। तत्पश्चात् शनैः शनैः शरीर को सीधा किया जाय और दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार की स्थिति में लाया जाय।

आरोग्य और स्वास्थ्य की दृष्टि से तो सूर्यनमस्कार का महत्व है ही, आध्यात्मिक दृष्टि से भी इसका महत्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से सूर्य नमस्कार का महत्व तब और अधिक हो जाता है जब निम्न मन्त्रोच्चार पूर्वक उस प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥

हे सूर्य! सुवर्ण पात्र से ढके हुए सत्य के मुख को सत्य धर्म के लिए और सत्य दृष्टि के लिए खोलो।

7
6
8
5
9
4
1व12
11
3
2
10

सिद्धासन

चौरासी लाख आसनों में सिद्धासन को मुख्य आसन माना गया है। इसके माध्यम से ध्यान, भजन, पूजा-पाठ, तथा प्राणायाम से लेकर समाधि तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। सिद्धासन शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार

सिद्धासन

के विकास के लिए परम उपयुक्त माना गया है। इसके द्वारा योग की समस्त सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं, इसी से योगियों ने इसका नाम सिद्धासन रखा है।

विधि—भूमि पर बैठकर बायें पैर की ऐड़ी को गुदा से ऊपर की ओर अंडकोश के नीचे सीवनी नाड़ी पर लगाया जाय और दायें पैर की ऐड़ी को उठाकर लिंग मूल पर रखा जाय। ध्यान रहे कि दोनों पांव के अंगूठे जंघाओं और पिण्डडियों के बीच में छिपे रहें, जैसा कि चित्र में बतलाया गया है। तत्पश्चात् हाथों को गोद में रखते हुए दायें हाथ को बायें हाथ पर रखें, ठोड़ी को हृदय पर लगावें, मेरुदन्ड और शरीर को सीधा रखते हुए, अचल दृष्टि होकर भ्रूमध्य का अवलोकन करें, इसे सिद्धासन कहते हैं।

श्वास स्थिति—इस आसन में मध्यम रूप से श्वास लेना चाहिए और यथा साध्य पूरक कर कुम्भक प्राणायाम करना चाहिए। फिर रेचन कर यही क्रिया दोहराना चाहिए। इस प्रकार सिद्धासन सिद्धि के लिए पांच मिनट से प्रारम्भ कर ३ घन्टे ४८ मिनट तक अभ्यास करना चाहिए।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से मन एकाग्र होता है, कामवासना शान्त होती है तथा ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है। साथ ही इसके द्वारा योग के चरम लक्ष्य समाधि एव मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

पद्मासन

इस आसन में शरीर की आकृति कमल के फूल जैसी हो जाती है, अतः इसे कमलासन भी कहते हैं।

विधि—भूमि पर दोनों पैर फैलाकर बैठना चाहिये, फिर बायें पैर की एड़ी को दाईं जंघा पर इस प्रकार रखा जाय कि एड़ी नाभि के पास आ जाय। इसके बाद दायें पैर को उठाकर इस प्रकार रखा जाय कि दोनों एड़ियाँ नाभि के पास आपस में मिल

पद्मासन

जायें। घुटने जमीन से मिले रहें। मेरुदण्ड सहित कमर से ऊपर का शरीर का संपूर्ण भाग सीधा रखा जाय। दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर हथेली के बल अथवा हथेली (पंजा) चित्त करके तर्जनी अंगुली और अंगूठे को मिलाकर छल्ले की तरह बनाया जाय अथवा हथेलियों को चित्त करके एक दूसरे के ऊपर गोद में रखा जाय।

दोनों हाथों को घुटनों पर रखने से गरिमा शक्ति की वृद्धि होती है, अर्थात् शरीर भारी होता है। दोनों हाथों को गोद में रखने से लघिमा शक्ति की वृद्धि होती है अर्थात् शरीर हल्का होता है। २-२ मिनट रुककर पैरों को बदलकर अभ्यास करना चाहिए।

श्वास स्थिति—इस आसन में नासिका के द्वारा धीरे-धीरे पूर्ण पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करना चाहिए, पश्चात् रेचक करना चाहिये। कम से कम ५ बार यह क्रिया करके पैर की स्थिति बदलना चाहिए, पुनः यही क्रिया दोहरायें।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से सब प्रकार की व्याधियाँ दूर होती हैं। क्योंकि यह आसन कफ, पित्त और वायु को समावस्था में लाता है, जिससे पाचन शक्ति बढ़ती है, जांघ और घुटने की मांसपेशियों पर तनाव पड़ने से इनमें शक्ति आती है, रीढ़ की हड्डी यदि टेढ़ी हो तो धीरे-धीरे सीधी हो जाती है। आंतरिक अवयव हृदय, फेफड़े, आमाशय, प्लीहा, यकृत्, आन्त्र आदि स्वस्थ रहते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियां जैसे थाईराइड एवं पैरा थाई राइड आदि ठीक से काम करती हैं। प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि के लिए यह आसन सर्वोत्तम है।

इसके अतिरिक्त इस आसन का निरन्तर अभ्यास करने से पैरों का सुन्न होना, पैरों का दुखना, पैरों में मोच आना, जंघा पृष्ट मूल की नाड़ी सायटिका की विकृति के कारण होने वाली तीव्र वेदना आदि में लाभ होता है।

अर्द्धपद्मासन

जो व्यक्ति पद्मासन करने में असमर्थ हैं, उन्हें अर्ध पद्मासन करना चाहिये। ऐसा देखा गया है कि स्थूल शरीर वाले लोग प्रथमतः पद्मासन को पूर्ण रूप में लगाने में समर्थ नहीं हो पाते। इसका कारण यह है कि उन्हें जांघों पर पैर रखना कठिन प्रतीत होता है, इसलिए इस पद्मासन को सरल बनाने के लिए अर्द्धपद्मासन को विकसित किया गया।

विधि—इसमें केवल एक पांव को दूसरे पांव की जांघ पर चढ़ाकर रखा जाता है एवं दूसरे पांव को पहले पांव की पिण्डली के नीचे ही छिपाकर रखते हैं। दो-दो मिनिट में पांव बदल-बदल कर इस आसन का अभ्यास १० मिनट तक करना चाहिये। ४० दिन के निरन्तर अभ्यास से पद्मासन की पूर्ण स्थिति प्राप्त होती है।

इस आसन में यह ध्यान देने योग्य है कि यह आसन लगाते समय रीढ़ सीधी होना चाहिये। यदि रीढ़ सीधी न रही और झुक कर बैठें तो उदर के स्नायु शिथिल होंगे। बहुत समय तक यह स्थिति रहने पर उदर के स्नायु दुर्बल हो जाते हैं। शरीर का झुकाव आगे की ओर होने से उदर के स्नायु दबते हैं। उदर के स्नायुओं के बहुत समय तक शिथिल रहने तथा उनके दबाए जाने के कारण पेट बढ़ता है। रीढ़ सीधी

रहने से यह दोष नहीं आ पाता है जिससे रीढ़ की शक्ति बढ़ती है, कूबड़ नहीं निकल पाती है और वृद्धावस्था में कमर अधिक नहीं झुक पाती है ।

नोट—हाथ एवं श्वास की स्थिति पद्मासन के समान ही है ।

बद्ध-पद्मासन

यह भी पद्मासन का ही एक प्रकार है । हठयोग प्रदीपिका में पद्मासन के अन्तर्गत ही बद्ध पद्मासन का समावेश किया गया है और इसे सर्व रोग नाशक बतलाया गया है । इस आसन में दोनों पैरों के अंगूठों को दोनों हाथों की अंगुलियों से पकड़ कर बांध दिया जाता है, अतः इसे बद्ध-पद्मासन कहते हैं ।

बद्धपद्मासन

यह आसन सरल नहीं है । स्थूलकाय व्यक्ति के लिए इस आसन का अभ्यास करना कठिन है । शरीर के स्नायुओं का लचीलापन बढ़ने पर इस आसन की स्थिति सहज साध्य है ।

विधि—पद्मासन की स्थिति में बैठने के पश्चात् दायें हाथ को पीठ के पीछे से लाकर उसके द्वारा दांये पैर के अंगूठे को तथा बाएं हाथ को पीठ के पीछे से लाकर उससे बायें पैर के अंगूठे को पकड़ना चाहिए । रीढ़, गर्दन एवं सिर सीधी रेखा में तना हो । तत्पश्चात् आंख बंद करके भ्रूमध्य ध्यान को एकाग्र करना चाहिये ।

लाभ—इसके अभ्यास से छाती चौड़ी होती है । थाईराइड ग्रन्थि ठीक काम करती है, शारीरिक दुर्बलता दूर होती है एवं हाथ, गर्दन, कंधे पीठ, जांघ तथा पिण्डलियों की मांस पेशियों को शक्ति प्राप्त होती है । श्वास प्रश्वास की गति नियमित होती है तथा आसनाभ्यासी को हृदय विकार होने की सम्भावना नहीं रहती ।

स्वस्तिकासन

इस आसन का आकार विश्व प्रसिद्ध शुभ चिन्ह स्वस्तिक के समान होता है, इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्वस्तिक का अर्थ है—सीधा। क्योंकि इस आसन में सीधा बैठा जाता है इसलिये इसे स्वस्तिकासन कहते हैं।

विधि—भूमि पर बैठकर दोनों पैर मोड़कर जंघा और पिण्डलियों के बीच दोनों पंजों को इस प्रकार रखा जाय कि दोनों पंजे दोनों घुटनों के बीच में आ जावें, तत्पश्चात् दोनों हाथों को जंघाओं के अन्त में घुटनों के पास रखकर मेरुदण्ड सहित सम्पूर्ण शरीर को सीधा रखें। ध्यान रहे घुटने भूमि से उठने न पायें।

स्वस्तिकासन

श्वास स्थिति—सामान्य श्वास होना चाहिए।

लाभ—यह अत्यन्त सरल आसन है। इसमें काफी देर तक आराम से बैठा जा सकता है। इसलिए ध्यान आदि के लिए यह अत्यन्त उपयुक्त आसन है। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों के पैर बहुत ठंडे या गर्म रहते हों, पसीना अधिक आता हो उन्हें इस आसान का नित्य अभ्यास करने से बहुत लाभ मिलता है।

सुखासन

रीढ़ मर्दन, और सिर को सीधे रखते हुये बैठने के सुखद आसन को सुखासन कहते हैं। पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि ध्यान के जो आसन हैं उन्हें भी यदि उनमें आराम से बैठा जा सके तो सुखासन की श्रेणी में रखा जा सकता है।

विधि—भूमि पर पालथी लगाकर बैठ कर दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखा जाय अर्थात् पहले यदि दांये पैर का तलवा बांये पैर की जांघ के निम्न भाग को स्पर्श करता है तो यह क्रम बदलकर बाँयें पैर के तलवे को दायें पैर की जांघ को स्पर्श कराते हुए रखा जाय। यह आसन पर्याप्त समय तक किया जा सकता है।

सुखासन

श्वास और समय—इस आसन में श्वास साधारण रूप से लेते रहना चाहिये।

एक मिनिट तक बैठने के बाद पैरों के क्रम को बदल देना चाहिये और एक मिनिट तक इसी अवस्था में रहना चाहिये। इसके बाद दोनों पैरों को सामने फैलाकर एक मिनिट आराम करना चाहिये। यह आसन आवश्यकतानुसार बार-बार किया जा सकता है।

लाभ—ध्यान केन्द्रित करने के लिए यह आसन अति उत्तम है।

योग-मुद्रासन

चौरासी लाख आसनों में यह एक ऐसा आसन है जिसमें प्राणायाम की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुसरण करना आवश्यक होता है। सर्वप्रथम आसन की मुद्रा में कुम्भक प्राणायाम किया जाता है और कुम्भक के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है जिससे योगी का योग चरम सीमा पर पहुंच जाता है, इसीलिए इस आसन का नाम योग-मुद्रासन रखा गया है।
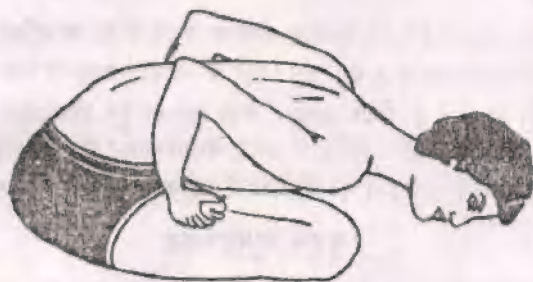
योगमुद्रासन

विधि—प्रथम भूमि पर बैठकर बायें पैर को उठाकर दाहिनी जंघा पर इस प्रकार रखा जाय कि बायें पैर की ऐड़ी नाभि के नीचे आ जाये। फिर दायें पैर को उठाकर बाईं जंघा पर इस प्रकार रखा जाय कि दोनों एड़ियां नाभि के नीचे आपस में मिल जायें अर्थात् पद्मासन की स्थिति में बैठकर हथेलियों को समेटकर हथेली के पिछले भाग को दोनों पैरों की एड़ियों पर रखा जाय। पश्चात् हाथ कमर पर रख कर अंगुलियाँ आपस मे फंसा ली जाय। रीढ़ और गर्दन सीधी व दृढ़ रखें। दोनों कधे ऊपर उठाए जावें तथा हाथ तान कर रखे जावें। पूरक करते हुए प्राण वायु का ग्रहण किया जाय। अब सामने झुक कर माथे को भूमि पर टिकाया जाय। ऐसा करते समय पीठ न झुकाई जाय तथा उसे अधिक से अधिक सीधा रखने का प्रयत्न किया जाय। ध्यान रखें कि जांघ और नितम्ब भूमि से सटे रहें। बाहु शरीर से सटी रहे तथा कोहनी कोण बनाती रहें।

२. दूसरी विधि—दोनों हाथों को पीछे जहां रीढ़ और कमर मिलती है वहाँ ले जायें उसके बाद बायें हाथ की कलाई को दाहिने हाथ की हथेली से मजबूती से पकड़ लिया जाय और तब मस्तक को जमीन से लगाने के लिए धीरे-धीरे झुकाया जाय। जो व्यक्ति पद्मासन में कठिनाई का अनुभव करें वे सुखासन में बैठकर भी यह आसन कर सकते हैं। इस क्रिया में उदर पर अत्यधिक दबाव पड़ता है।

समय व श्वास स्थिति—यह क्रिया करते समय कुम्भक किया जाय। माथा जमीन से टेकने पर रेचक किया जाय तथा बाईं कुम्भक की स्थिति में ५-६ सेकण्ड तक रहा जाय। सामने झुकने के पहले श्वास को बाहर निकाला जाय और रेचक की स्थिति में मस्तक को जमीन से लगाया जाय। दस सैकेन्ड तक इस आसन में रहने के बाद धीरे-धीरे श्वास को अन्दर ग्रहण करते हुए पूर्व अवस्था में आया जाय और इतने ही समय तक पद्मासन में विश्राम किया जाय। यह आसन कम से कम पांच बार किया जाय। स्वाभाविक रूप से श्वास लेते हुए ५ से १० मिनिट तक इस आसन में रहा जा सकता है।

लाभ—इस आसन का नियमित अभ्यास करने से पाचन शक्ति की वृद्धि होती है। पेट, छोटी और बड़ी आंत के सभी प्रकार के विकार नष्ट हो जाते हैं, मलावरोध (कब्ज) दूर हो जाता है। निद्रा, तन्द्रा, तथा आलस्य दूर होकर मन में स्फूर्ति तथा उत्साह का संचार होता है। शरीर में नवीन चेतना जाग्रत होती है। हृदय एवं फेफड़े क्रियाशील हो जाते हैं। फेफड़ों की बीमारी में यह आसान अवश्य करना चाहिये।

पवन मुक्तासन

इस आसन का अभ्यास करने से वायु सम्बन्धी विकार शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, अतः इसे पवनमुक्तासन कहते हैं। अन्न नलिका, जठर, आन्त्र तथा मलाशय में उत्पन्न हुई विकृत वायु का अनुलोमन होकर अधो (गुदा) मार्ग से बहि निःसरण होता है।

पवन मुक्तासन

विधि—भूमि पर सीधे बैठ कर सिर एवं रीढ़ को सीधा रखा जाय। घुटनों

को मोड़ कर और दोनों हाथों से इस प्रकार जकड़ा जाय, जैसा कि चित्र में बतलाया गया है। जांघों को पेट से और घुटनों को सीने से लगाया जाय। पंजे सटे रहें और एड़ियां नितम्ब को स्पर्श करती हुई हों। अब श्वास को बाहर निकलना आरम्भ किया जाय और इतनी निकाली जाय कि पेट अन्दर की ओर चिपक जाय, तब घुटनों से सीने को और जांघों से पेट को हाथों से जकड़ते हुए यथाशक्ति दबाया जाय।

इसके अतिरिक्त पीठ के बल लेट कर भी यह आसन किया जाता है। तदनुसार पीठ के बल लेट कर पैर सटे हुए तथा अंगूठे परस्पर मिले हुए हों। भुजाएं कान के निकट से पीछे की ओर ले जाकर हाथ ताने जावें और पैर सामने ताने जावें। इसके बाद प्रथम दाहिना पैर ऊपर उठा कर ४-५ सेकेण्ड तक स्थिर रखा जाय। बाद में ३०°, ४५° तथा ९०° पर ले जाकर हर बार ४-५ सेकण्ड तक स्थिर रखा जाय। पश्चात् पैर को घुटने में मोड़ कर उदर प्रदेश तथा सीने पर जांघों को रख कर हथेलियों से पकड़ कर घुटना नीचे दबाया जाय। इससे उदर तथा सीने के दाहिने भाग पर अच्छा दाब पड़ता है। बांया पैर बिल्कुल तना रहना चाहिये।

श्वास की स्थिति— इस आसन में रेचक करना चाहिये। रेचन क्रिया करते समय मन में १ से १२ तक गिनती गिनना चाहिए, जिससे धीरे-धीरे पूर्ण रेचन हो सके। तदुपरान्त यथा शक्ति इसी अवस्था में रहते हुए तीस सेकेन्ड से १ मिनिट तक कुम्भक याने श्वास रोकने का अभ्यास करना चाहिए।

लाभ —इस आसन से पेट की दूषित अपान वायु बाहर निकलती है, कब्ज दूर होता है, यकृत, प्लीहा आदि अवयव स्वस्थ होते हैं। उनकी क्रिया नियमित होती है। आंत उतरने का रोग (हार्निया) इस आसन का अभ्यास के करने वालों को नहीं होता। कमर, घुटने एवं जांघों में रक्त संचार तीव्र होने से वे स्वस्थ और सबल होते हैं।

गोमुखासन

इस आसन में दोनों मुड़े हुए घुटने जो एक दूसरे पर चढ़े हुए होते हैं, गाय के मुख के समान और दोनों पैर गाय के कानों के समान दिखते हैं इसलिए इस आसन को गोमुखासन कहते हैं।

विधि—भूमि पर पालथी लगाकर बैठा जाय, फिर बायें पैर की एड़ी को दाहिनी जांघ के नितम्ब भाग के मूल में गुदा के पास लगाया जाय, अब दाहिनी जांघ को बांयें पैर की पिंडली के ऊपर भार देते हुए घुटनों को मोड़कर बांई जांघ के मूल से दाहिनी एड़ी को सटाकर लगाया जाय। ध्यान रहे कि दोनों पैर के पंजे सीधे होकर जमीन से लगे रहें। इस अवस्था में दोनों पैर गाय के कानों के समान दिखाई देंगे और एक घुटना, दूसरे के ठीक ऊपर होगा जो गाय के मुख के समान दिखाई देगा। अब दाहिने हाथ को

सीधे ऊपर उठाया जाय और कोहनी मोड़कर पीठ पर हाथ को रखा जाय। बायें हाथ को नीचे से मोड़कर दाहिने हाथ के पास लाया जाय और दोनों हाथों की उंगलियों का

गोमुखासन
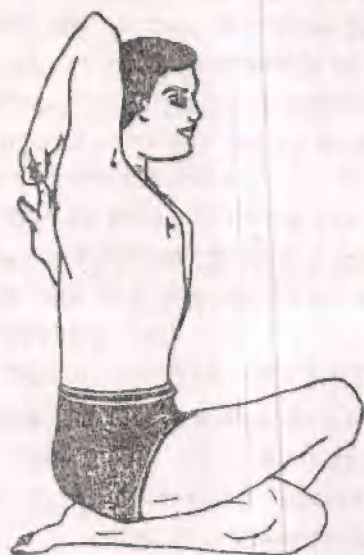
"हुक" बनाते हुए जकड़ लिया जाय। जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। रीढ़ एवं गर्दन को सीधा रखा जाय, दृष्टि को सामने रखा जाय। दो मिनट बाद पैर व हाथ दोनों की स्थिति बदली जाय।

श्वास स्थिति—स्वाभाविक व सामान्य रूप से श्वास लेते रहें।

लाभ—इस आसन से हाथ एवं पैरों की मांसपेशियां दृढ़ होती हैं। मूत्राशय सम्बन्धी विभिन्न-विकार मधुमेह, प्रमेह, प्रदर, धातु दौर्बल्य, स्वप्नदोष आदि रोग दूर होते हैं। पैरों तथा जांघों की रक्त वाहिनियां व मज्जा तन्तु स्वस्थ एवं कार्यक्षम होते हैं जिससे आमवात, गठियावात, पीठ का दर्द तथा अन्य वात रोग दूर होते हैं। जिन्हें नींद नहीं आने की बीमारी हो उन्हें सोने से पूर्व यह आसन करना चाहिए।

नोट—पुरुष को ध्यान रखना चाहिये कि उसकी जनेन्द्रिय जांघों के बीच न दबे।

वज्रासन

इस आसन का अभ्यास करने से शरीर वज्र के समान सुदृढ़ हो जाता है। अतः इसे वज्र आसन कहा गया है।

विधि—इस आसन की स्थिति बहुत कुछ मुसलमान लोग जिस स्थिति में नमाज पढ़ने बैठते हैं, उस स्थिति से मिलती-जुलती है। भूमि के ऊपर दोनों पिण्डलियों को पीछे की ओर मोड़कर इस प्रकार बैठा जाय कि नितम्ब दोनों एड़ियों के बीच में रहे, पैरों के तलवे खुले रहें तथा घुटने आपस में जुड़े रहें। शरीर तना हुआ, गर्दन सीधी तथा नजर सामने स्थिर रहे। दोनों हाथ घुटनों पर तान कर रखे जावें। पिंडलियों का जितना भाग जमीन को छूता रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा। शरीर का सारा बोझ घुटनों व पिण्डलियों पर रखा जाय।
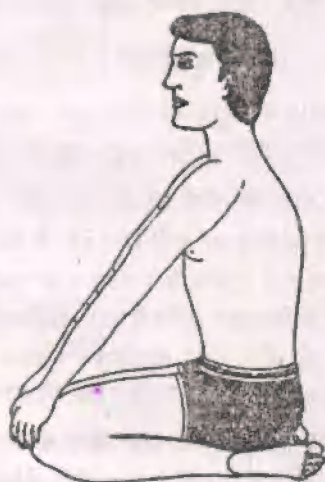
वज्रासन

सप्तवज्रासन

विधि—स्वाभाविक रूप से मध्यम श्वास लिया जाय।

लाभ—इस आसन का अभ्यास करने से शरीर सुदृढ़ होता है, भोजन के बाद १५-२० मिनिट तक वज्रासन करने से अन्न पाचन होने में सहायता मिलती है, पाचन शक्ति बढ़ती है, उदर में वायु विकार व मल बद्धता दूर होती है। रीढ़, कमर, जांघ, घुटने और पिंडलियों में ताकत आती है। कमर व पैरों का वात रोग, गृध्रसीवात रोग दूर होता है एवं सम्पूर्ण शरीर वज्र के समान कठोर व शक्तिशाली हो जाता है।

सुप्तवज्रासन—वज्रासन का एक अवान्तर प्रकार सुप्तवज्रासन है जो वज्रासन की अपेक्षा कुछ कठिन है। इसमें कुछ सावधानी भी अपेक्षित है। इसकी विधि यह है प्रथम वज्रासन की स्थिति में बैठा जाय। घुटनों पर रखे हाथ उठा कर कूल्हों के दोनों ओर रखे जावें। कमर से ऊपर का भाग धीरे-धीरे पीछे झुकाया जाय। दोनों कोहनियां

भूमि पर टिकाएं, हाथ भी जमीन पर रखे जावें। पश्चात् हाथ आगे सरकाएं और सिर जमीन से टिकाया जाय। गर्दन के पीछे दाहिने पंजे से बांया और बाएं पंजे से दाहिना कंधा पकड़ कर हाथों की बनी हुई कैंची पर सिर टिकाया जाय। घुटने पूर्ववत् परस्पर मिले रहें। सुप्तवज्रासन की यह पूर्ण स्थिति है। कुछ क्षण तक इस स्थिति में रहने के बाद सिर के नीचे से हाथों का सहारा हटा कर दोनों हाथ शरीर के बगल में समानान्तर रखें तथा हाथों के पंजे भूमि पर हों। पश्चात् सिर ऊपर उठाएं, कोहनियों से सहारा लेकर पीठ एवं कमर ऊपर उठाई जाय। कोहनियां उठा कर तथा हाथ पीछे खींच कर सीधे बैठ जावें। हाथ पूर्ववत् घुटनों पर रखें।

कूर्मासन

इस आसन की स्थिति में मनुष्य की पीठ, कूर्म अर्थात् कछुए की पीठ के समान दिखाई देती है, इसलिए इसे कूर्मासन कहा गया है।

विधि—भूमि पर दोनों पैर पीछे की ओर मोड़कर इस प्रकार बैठा जाय कि दोनों एड़ियां दोनों नितम्बों के नीचे आ जायें और पैरों के पंजे आपस में सटे हुए छूते रहें, याने वज्रासन की स्थिति में बैठा जाय। फिर दोनों हाथों की मुट्ठी बांधकर दोनों कोहनियों को आपस में मिलाकर नाभि के पास रखी जायें। ध्यान रहे कि हथेली का हिस्सा ऊपर की ओर रहे और शरीर को जितना झुकाया जा सके उतना आगे की ओर झुकते हुए झुकाया जाय। सिर सीधा एवं दृष्टि को सामने रखें।

श्वास स्थिति—इस स्थिति में जब तक श्वास को रोका जा सके, रोका जाय, तदुपरान्त धीरे-धीरे सिर को ऊपर ले जाकर सीधे बैठा जाय एवं सामान्य श्वास लिया जाय।

लाभ—इसके अभ्यास से कन्धे, भुजायें, कोहनी, जांघ, घुटने तथा पिण्डलियों का उत्तम व्यायाम हो जाता है। पेट के विभिन्न रोग दूर होते हैं, यकृत स्वस्थ होता है। जिनके मल के साथ आंव आती हो उनके लिये यह आसन बड़ा लाभप्रद है। स्त्रियों बच्चों एवं वयस्कों सभी के लिये यह आसन लाभप्रद है। १०-१५ मिनिट तक इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की ऊष्मा में वृद्धि हो जाती है। इस आसन के द्वारा बर्फीले स्थान में भी योगी शीत से प्रभावित नहीं होते।

शशकासन

शशक अर्थात् खरगोश शिकारी के भय से किसी झाड़ी या बिल में अपना सिर छिपा कर बैठ जाता है और सोचता है कि शिकारी मुझे नहीं देख पा रहा है। छिपने के समय खरगोश की जो स्थिति होती उसी से मिलता-जुलता यह आसन है। इसी लिए इसे शशकासन कहा जाता है।

विधि—प्रथम वज्रासन की स्थिति में बैठ जाय, पश्चात् दोनों हाथों के पंजों से दोनों एड़ियों को इस प्रकार पकड़ा जाय कि चारों अंगुलियां पैर की एड़ियों पर

शशकासन

और अंगूठा पैर के ऊपरी भाग पर पड़े। इसके बाद दोनों घुटनों, पिण्डलियों तथा पावों को वज्रासन की स्थिति में रखते हुए नितम्ब को ऊपर उठाते हुए सामने की ओर झुका जाय, कि जैसा चित्र में दिखलाया गया है। माथे को घुटने के पास की जमीन से तथा ठोड़ी को कंठ से सटाया जाय, ऐसा करने से पीठ धनुषाकार हो जायगी। ध्यान रहे कि एड़ियों को पकड़ी हुई बाहुएं सीधी और तनी हुई हों।

समय और श्वास—प्रथम श्वास को बाहर निकाल कर आगे झुकना प्रारम्भ किया जाय। इस आसन में १० से १५ सैकेण्ड तक रहने के बाद पुनः पूर्व अवस्था में आते समय श्वास अन्दर ली जाय। यह प्रक्रिया ५ से १० बार की जाय। अभ्यास के द्वारा आसन की अवधि एक मिनट तक बढ़ाई जाय।

लाभ—इसके अभ्यास से रीढ़ की हड्डी लचीली एवं मजबूत होती है। यकृत, प्लीहा एवं आंत्र स्वस्थ होते हैं, पाचन शक्ति बढ़ती है।

मत्स्येन्द्रासन एवं अर्ध मत्स्येन्द्रासन

इस आसन को महान् योगी मत्स्येन्द्र नाथ करते थे। उन्होंने इसका आविष्कार एवं प्रवर्तन किया। अतः उन्हीं के नाम पर इसका नामकरण हुआ और यह आसन मत्स्येन्द्रासन कहलाया। पश्चिमोत्तानासन एवं हलासन में मेरुदण्ड आगे मुड़ता है जबकि धनुरासन, भुजंगासन और शलभासन में मेरुदण्ड पीछे मुड़ता है। उपर्युक्त आसनों के द्वारा मेरुदण्ड को केवल आगे या पीछे की ओर मोड़ना ही पर्याप्त एवं लाभप्रद नहीं है, उसे दोनों बगलों की ओर मोड़ना भी आवश्यक है, ताकि मेरुदण्ड लचीला हो सके। मत्स्येन्द्रासन से इस कमी की पूर्ति हो जाती है।

विधि—प्रथम भूमि पर पैर फैलाकर बैठा जाय। फिर बायें पैर को दाहिने जाँघ पर इस प्रकार रखा जाय, कि एडी नाभि के पास आ जाय तब दाहिने पैर को बायें घुटने पर इस प्रकार रखा जाय कि पैर खड़ा रहे और उसका पंजा घुटने के सहारे बाहर की ओर भूमि पर जमा रहे। बायें हाथ को दाहिने पैर के घुटने के बाहर से ले जाकर

मत्स्येन्द्रासन

उसका अंगूठा मजबूती से पकड़ा जाय। अब दाहिने हाथ को पीठ की तरफ से घुमाकर लाया जाय और बांई एडी को पकड़ा जाय जिससे मुख और शरीर दाहिनी बगल वाली पीठ की ओर घूम जाय और रीढ़ मरोड़ जाय। दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थित किया जाय। ध्यान रहे छाती व गर्दन आगे की ओर न झुकने पावे। यही स्थिति विपरीत पैर करके दूसरी ओर से की जाय।

श्वास स्थिति—सामान्य गति से मध्यम श्वास धीरे-धीरे लेते रहें।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा अर्धमत्स्येन्द्रासन अधिक सरल एवं सुविधाजनक है। अतः जो व्यक्ति मत्स्येन्द्रासन करने में सक्षम न हों उन्हें अर्धमत्स्येन्द्रासन का अभ्यास करना चाहिये।

विधि—आसन पर बैठ कर दोनों पैर सीधे फैलाए जावें। एड़ियाँ और अंगूठे परस्पर मिले हुए हों, पृष्ट भाग की रीढ़ एक सीध में हो। जाँघ के पास हाथ के पंजे भूमि पर रखे जावें, हाथ तने हुए हों। दाहिना पैर घुटने में मोड़कर उसकी एडी को गुदा और वृषण के बीच की सिरा पर दृढ़ता से रखा जाय। पश्चात् बायां पैर घुटने में

झुका कर बाएं हाथ से बायीं जांघ तथा दाहिने हाथ से बाएं पैर का तलुआ पकड़ कर उसे दाहिनी जांघ पर से लेकर दाहिने घुटने के समीप सीधा खड़ा रखा जाय। पश्चात् बाएं हाथ से बायीं जांघ दाहिनी ओर दृढ़ता से दबाई जाय। इससे मेरुदण्ड विरुद्ध दिशा में कुछ झुकेगा तथा ऐंठेगा। पश्चात् दाहिने हाथ से बाएं घुटने को घुमाकर दाहिनी कांख में बायां घुटना दबाया जाय। दाहिना हाथ बाएं पैर की ओर झुका कर अंगुलियों से बाएं पैर का अंगूठा दृढ़ता से पकड़ा जाय। इसमें कमर की कशेरुकाएं तथा पीठ के नीचे की कशेरुकाएं बाईं ओर झुकते हुए एंठती हैं।

इस आसन से मेरुदण्ड का उत्तम व्यायाम होता है, वह पूरी तरह दाहिने एवं बाईं ओर मुड़ जाता है, जिससे मेरुदण्ड अधिक लचीला व कार्यशील होता है। इसके प्रभाव से मस्तिष्क चैतन्यशील होता है, पीठ, हाथ, पैर आदि अवयवों की मांस-पेशियों में पर्याप्त खिंचाव होता है, साथ ही सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त का संचार होता है। जठराग्नि प्रदीप्त होती है, जिससे आमवात, कटिशूल, कृमिरोग आदि विकार नष्ट होते हैं।

अर्धमत्स्येन्द्रासन से लाभ

१. रीढ़ की कशेरुकाएं जो कमर से गर्दन तक फैली रहती हैं दोनों ओर उत्तम रीति से ऐंठी जाने से वे उत्तम लचीली तथा स्वस्थ होती हैं। २. रीढ़ के स्वस्थ रहने के कारण शरीर की इन्द्रियाँ उत्तम कार्यक्षम होती हैं तथा शरीर में उत्साह एवं चैतन्य निर्माण होता है जिससे वृद्धावस्था दूर रहती है। ३. पीठ की रीढ़ के दाहिने या बायीं ओर के किसी भाग में झुकाव पैदा हुआ हो या कोई कशेरुका या अंतरेन्द्रिय स्थान भ्रष्ट हो गई हो तो इस आसन के अभ्यास से वह दूर होता है। ४. फेफड़ों पर हेर फेर से दोनों ओर से दाब एवं तनाव पड़ने के कारण वे लचीले तथा जीवट होकर उनकी आकुञ्चन एवं प्रसरण क्षमता बढ़ती है। इससे दमा-खांसी तथा श्वासवह संस्थान की व्याधियां दूर होती हैं, साथ ही प्राथमिक अवस्था के क्षयरोग की रोकथाम होती है। ५. उदर पर पड़ने वाले दबाव एवं ऐंठन तथा दीर्घ प्रश्वास के कारण अशुद्ध रक्त प्रवाह को तीव्र गति मिलती है जिससे हृदय व फेफड़ों में रुधिर की शुद्धि तेजी से होकर शरीर के समस्त अवयवों को विशुद्ध रक्त की आपूर्ति शीघ्र होती है जिससे उन अवयवों की क्रिया में अपेक्षित सुधार होता है। ६. इस आसन में प्रतान शक्ति की परस्पर विरोधी क्रियाएँ होती हैं जिससे रीढ़ के समीप के महत्वपूर्ण स्नायुओं, पृष्ठ भाग के स्नायुओं तथा अंतःस्थ स्नायुओं का उत्तम व्यायाम होता है, उनकी उत्तम मालिश भी होती है। ७. बद्धकोष्ठता एवं अग्निमांद्य, यकृत्-प्लीहा वृद्धि तथा मूत्रपिण्डों के विकार इत्यादि दूर होते है। ८. कमर, पीठ तथा जांघ की संधियों का वात विकार दूर होता है। ९. रीढ़ उत्तम लचीली होती है, उसे उत्तम बल प्राप्त होता है तथा इसके कारण विविध रोग [illegible] होते ही है, साथ ही आध्यात्मिक शक्ति भी विकसित होती है।

जानुशिरासन

जानु कहते हैं घुटनों को। इस आसन में सिर को घुटनों पर रखा जाता है, अतः इसे जानुशिरासन कहते हैं।

जानुशिरासन

विधि—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठा जाय। प्रथम बायें पैर को इस प्रकार मोड़ा जाय कि उसका पंजा व एड़ी दाहिनी जाँघ के ऊपर आ जाय। दायाँ पैर सीधा ही रहे। अब दोनों हाथों से दायें पैर के पंजे या उसकी अंगुलियों को पकड़ कर शरीर को आगे की ओर मोड़ते हुए सिर का मस्तक भाग दाहिने पैर के घुटने पर लगाने का प्रयत्न किया जाय। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि घुटना बिल्कुल भी मुड़ने न पावे। दो मिनिट तक इसी स्थिति में रहने के बाद सिर उठाकर तथा बायाँ पैर सीधा कर सामान्य स्थिति में आकर विश्राम किया जाय। इसी प्रकार की क्रिया बायें पैर से की जाय।

श्वास स्थिति—स्वाभाविक रूप से मध्यम श्वास ली जाय।

लाभ इस आसन का नियमित अभ्यास करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। मूत्राशय, यकृत और प्लीहा के रोग ठीक होते हैं। अन्त स्रावि ग्रन्थि जैसे अग्न्याशय (pancriyas) स्वाभाविक रूप से अपना कार्य सम्पन्न करती है और इन्सूलिन नामक स्राव उत्पन्न करती है जिससे मधुमेह व्याधि नियन्त्रित होती है। अतः मधुमेह के रोगियों को इस आसन से बहुत लाभ होता है। स्थूलकाय व्यक्तियों के बढ़े हुए पेट को कम करने के लिये तथा स्थूलकाय स्त्रियों के लिए भी यह आसन अत्यधिक लाभकारी है।

टिप्पणी—गर्भवती स्त्रियों को यह आसन नहीं करना चाहिये।

वृश्चिकासन

इस आसन की स्थिति में शरीर का आकार वृश्चिक (बिच्छु) की भाँति हो जाता है, अतः इसे वृश्चिकासन कहते हैं।

विधि —प्रथम भूमि पर कम्बल बिछाकर दोनों पैरों के पंजों एवं घुटनों के बल बैठा जाय। हाथ के दोनों पंजों को भूमि पर फैलाते हुए दोनों कोहनियों एवं पंजों को

वृश्चिकासन

थोड़े फासले पर जमा दिया जाय और कोहनी से ऊपर दोनों बाहुएं सीधी रखी जावें। सम्पूर्ण शरीर कोहनी एवं घुटनों पर आधारित रहे तथा सिर भूमि से ऊपर ही उन्नत स्थिति में रहे। अब एक झटके के साथ शरीर को पीछे की ओर मोड़ते हुए दोनों पैर ऊपर उठाते हुए उन्हें इस प्रकार से उल्टा जाय कि दोनों पैर एक साथ उलट कर सिर के ऊपर आ जायें तथा छाती और कमर एक कमान के जैसा आकार ग्रहण कर ले। जहाँ तक सम्भव हो सके सिर और गर्दन को इस प्रकार मोड़ा जाय कि दोनों पैर सिर का स्पर्श करने लगें। यह एक कठिन आसन है जो सरलता से नहीं किया जा सकता है। अतः इस आसन के अभ्यास के समय सावधानी विशेष रूप से अपेक्षित है।

श्वास स्थिति--प्रथम पूरक कर कुम्भक की स्थिति में आसन किया जाय, फिर रेचन करते हुए पूर्व की स्थिति में आ जायें।

टिप्पणी यह एक क्लिष्ट आसन है, अतः योग्य गुरु के निर्देशन में ही इसका अभ्यास किया जाय।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से मेरूदण्ड लचीला होता है। गर्दन की माँस-पेशियाँ सुदृढ़ एवं मजबूत होती हैं सीना चौड़ा होता है तथा शरीर हल्का होकर मेदो रोग (मोटापा), पाण्डु रोग, कृमि रोग, आमवात तथा अजीर्ण रोग नष्ट होता है।

ताड़ासन

इस आसन में शरीर की स्थिति ताड़ या खजूर के वृक्ष के समान लम्बे रूप में होती है, अतः इसे ताड़ासन कहते हैं।

विधि—दोनों पैरों के पंजों को ३० डिग्री पर खोलते हुए दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाते हुए सावधान की स्थिति में खड़े हो जायें। दोनों हाथों को एक साथ बगल से धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए सिर के ऊपर ले जाकर दोनों हथेलियों को परस्पर एक दूसरे के सम्मुख रखा जाय। साथ ही दोनों पंजों के बल शरीर को ऊपर उठाया जाय तथा हाथों से शरीर को ऊपर खींचने का प्रयास किया जाय। ध्यान रहे कि सम्पूर्ण शरीर का भार पंजों पर ही रहे।

श्वास स्थिति—हाथों को धीरे-धीरे ऊपर ले जाते समय पूर्ण पूरक करते हुए कुम्भक की स्थिति में यह आसन किया जाय। यथा साध्य १ से २ मिनिट तक ताड़ासन की स्थिति में रहने के बाद धीरे-धीरे रेचन करते हुए सावधान की स्थिति में आ जायें।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से शरीर की लम्बाई, शक्ति तथा आयु में वृद्धि होती है। छाती चौड़ी होती है। फेफड़े, पुष्ट व सक्रिय होते हैं। पिण्डली, जंघाओं, एवं भुजाओं की मांसपेशियों के खिचाव से शरीर सुडौल एवं सुन्दर बनता है। पाचन शक्ति तीव्र होती है स्त्रियों में शरीर सौष्ठव के लिए यह आसन अत्यन्त लाभकर है।

ताड़ासन

त्रिकोणासन

यह आसन खड़े होकर किया जाता है। इसमें आसन कर्त्ता का शरीर त्रिकोण के समान हो जाता है, अत: इसे त्रिकोणासन कहते हैं।

विधि—सीधे खड़े होकर दोनो पैरों को एक-दूसरे से लगभग दो फुट की दूरी पर रखा जाय। दोनों हाथ दोनों बगल में सीधे लटके हुए हों। रीढ़ की हड्डी को दाहिने या बाईं ओर इस प्रकार मोड़ा जाय कि कमर से ऊपर का सम्पूर्ण भाग दाहिने या बाईं ओर झुक जाय। यदि बाईं ओर झुका जाय तो उसके साथ ही दाहिनी बाहु

को सिर से सटाते हुए ऊपर की जाय तथा उसे भी शरीर के वाम पार्श्व की ओर झुकाते हुए फैलाया जाय। अब बाईं बाहु को घुटने से नीचे टखने की ओर अधिकाधिक ले जाने और इसका स्पर्श करने का प्रयत्न किया जाय, यहाँ तक कि बाएं पैर का अंगूठा पकड़ लेवें। यही क्रिया दाहिनी तरफ दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ते एवं बाएँ हाथ को दाहिनी ओर झुकाते हुए दोहराई जाय।
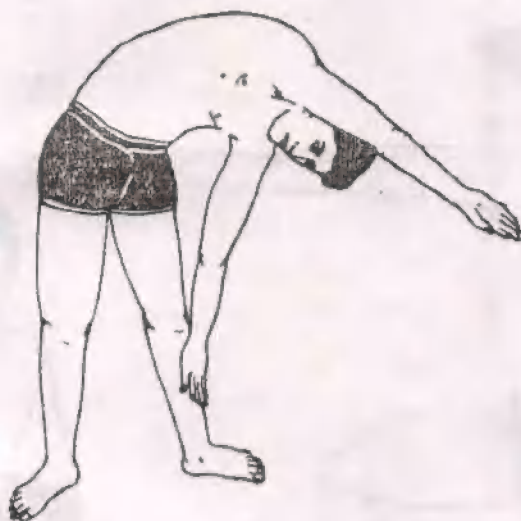
त्रिकोणासन

श्वास स्थिति — पूरक कर कुम्भक की अवस्था में यह आसन किया जाय तथा रेचक करते हुए सीधे खड़े हो जायें।

लाभ—मेरूदण्ड की समस्त कशेरुकाओं एवं माँसपेशियों में खिचाव पड़ने के कारण वे लचीली होती हैं। पीठ व कमर में वेदना विशेषतः गृध्रसी वात में इस आसन के अभ्यास से बहुत लाभ होता है। क्योंकि इसमें पूरे पैर एवं नितम्बों की पेशियों का पूरा तनाव (खिचाव) होने से पृष्टवंश, कटिप्रदेश, नितम्ब एवं उरू आदि अंगों पर अपेक्षित एवं पूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह आसन अधिक कठिन नहीं है, इसे सुविधा पूर्वक किया जा सकता है, अतः स्त्रियाँ भी इसे आसानी से कर सकती हैं। इससे शरीर में स्थित अनावश्यक मेद का क्षय होता है जिससे मुटापे में कमी होती है तथा शरीर सुडौल बनता है। कमर, पीठ एवं गर्दन के सौन्दर्य में वृद्धि होती है।

उत्कटासन

इस आसन में उकड़ होकर बैठा जाता है, अत: यह उत्कटासन कहलाता है। कट शब्द में उत् उपसर्ग जोड़ने से उत्कट शब्द बनता है। उत् शब्द का अर्थ है ऊर्ध्व। घेरण्ड संहिता में उत्कटासन का वर्णन मिलता है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

एडियाँ ऊँची उठाकर पंजों के बल पर खड़े रहें तथा धीरे-धीरे एडियों पर बैठें। उत्कट आसन के विविध प्रकार हैं तथा प्रत्येक का शरीर पर भिन्न-भिन्न परिणाम होता है।
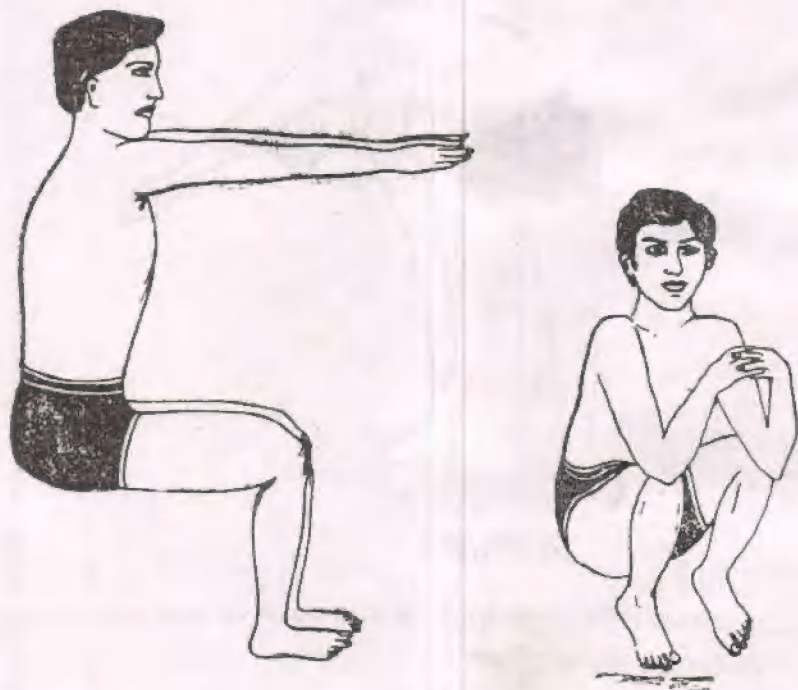
आसन करने की प्रथम विधि—पहले सीधे खड़े रहें, पांव आपस में सटे रहें, हाथ कमर पर रखें और हाथ की उंगलियां नाभि के दोनों तरफ हों तथा अंगूठे पीछे हों। अब धीरे-धीरे एडियां ऊपर उठाई जावें और पंजों के बल पर खड़े रहने का प्रयत्न किया जाय। इस समय सम्पूर्ण शरीर का भार पैरों की उंगलियों पर होगा। एकाग्र चित्त से इस स्थिति का अभ्यास किया जाय। इससे शरीर का भार संभालना सुगम होगा। यदि भार संभालते न बने तो किसी का आधार ले लिया जाय। अब घुटनों में दोनों उरुओं को धीरे-धीरे तब तक झुकाया जाय जब तक पैरों की उंगलियाँ तथा मुड़े हुए घुटने सीधी रेखा में नहीं आते हैं। अधिक झुकने से घुटने पैरों के आगे

हो जाएंगे जो उचित नहीं है। कमर से सिर तक शरीर को सीधा रखा जाय। आसन की यह पूर्वस्थिति है। इस अवस्था में १५ सेकण्ड तक रहना चाहिए। इसके बाद पुनः पूर्व स्थिति में खड़े होना चाहिये। इस आसन के ३ से ५ आवर्तन किए जायें।

द्वितीय विधि सीधे खड़े होकर हाथ कमर पर रखें। एड़ियां मिली हों तथा अंगूठों के बीच एक फुट का अन्तर हो। एड़ियाँ ऊपर उठाई जायं तथा पूरक किया जाय। धीरे-धीरे नीचे झुकते हुए रेचक किया जाय। नीचे आने पर श्वास प्रश्वास की गति स्वाभाविक एवं साधारण होनी चाहिये। पश्चात् घुटनों को बगल में फैलाया जाय और घुटने सीधी रेखा में हों। प्रारम्भ में घुटनों को अधिक फैलाना सम्भव नहीं होता है। क्योंकि स्नायुओं में लचीलापन कम रहता है, अतः सुगमता से वे जितने फैल सके उतने फैलाये जायं। इस स्थिति में पन्द्रह सेकेण्ड तक रहा जाय। बाद में इसकी अवधि धीरे एक मिनिट तक बढ़ाई जाय। पूर्व स्थिति में आने के समय पुनः पूरक किया जाय तथा नीचे जाते समय रेचक किया जाय। आसन के सारे आवर्तन होने तक यह काम चालू रखा जाय। प्रारम्भ में तीन आवर्तन करें। अभ्यास होने पर ५-६ आवर्तन किए जा सकते हैं। अन्तिम आवर्तन के अन्त में रेचक कर पूर्व स्थिति में आएं।

तृतीय विधि—सीधे खड़े होना चाहिये तथा हाथ कमर पर रखे हुए हों। घुटने, अंगूठे तथा एड़ियाँ मिली हुई हों। पश्चात् एड़ियाँ ऊंची उठाई जायं तथा धीरे-धीरे नीचे इतना झुके कि नितम्ब और एड़ियों में ५-६ इंच का अन्तर हो। इस स्थिति में घुटने बहुत सामने आएगे तथा जमीन से समानान्तर रहेंगे। अब उदर कुछ अन्दर दबाया जाय। कमर से ऊपर का भाग सीधा हो, दृष्टि सामने हो। पंजों पर शरीर का सारा भार होने से उन पर दबाव पड़ता है, अतः इस अवस्था में रहना सरल नहीं है। प्रथम इस स्थिति में चार पांच सेकण्ड तक रहने का अभ्यास किया जाय। पश्चात् अवधि पन्द्रह सेकण्ड तक बढ़ाई जाय। इस विधि से आसन के तीन आवर्तन किए जावें।

चतुर्थ विधि—बैठ कर पांव सीधे फैलायें और हाथ बगल में रखें। पैर घुटनों में मोड़कर जांघों के समीप लायें। एड़ियाँ तथा नितम्ब को जमीन से ऊंचा उठायें। एड़ियां परस्पर सटा कर रखें। घुटनों को बगल में अधिक फैलायें। हाथ कमर पर रखें। दोनों घुटने सीधी रेखा में हों। यह आसन की सर्वोत्तम स्थिति है। नितम्ब एड़ियों पर ही रखें। इस स्थिति में पैरों के अंगूठों में ६ इंच का अन्तर हो। हथेलियाँ घुटने पर रख कर उनसे घुटने दबायें। पेट भीतर दबाया जाय। ठुड्डी नीचे हृदय की ओर हो तथा श्वास प्रश्वास की गति सामान्य हो। प्रारम्भ में पन्द्रह सेकेण्ड तक इस आसन का अभ्यास किया जाय तथा पर्याप्त अभ्यास के पश्चात् ५ मिनिट तक किया जाय।

ऊपर बतलाये गए उत्कटासन के चारों प्रकारों की अपनी अलग-अलग विशेषता है। परन्तु सामान्य रूप से निम्न लाभ इस आसन से होते हैं—

१— पैरों के अंगूठे सहित उंगलियों पर सम्पूर्ण शरीर का भार पड़ने से उनकी दृढ़ता एवं शक्ति बढ़ती है।

२— वज्रासन में तलवे अन्तर्वक्र होते हैं, जबकि इस आसन में वे बहिर्वक्र होते हैं। वज्रासन के पश्चात् उत्कटासन करने से पैरों के अंगूठों तथा उंगलियों के स्नायुओं तथा अस्थि बंधनों पर उत्पन्न हुआ तनाव दूर होकर वे सामान्य स्थिति में आते हैं।

३— कमर के स्नायुओं पर उत्तम परिणाम होता है जिससे कटिशूल तथा कमर का संधिवात रोग दूर होता है।

४— आसन के दूसरे प्रकार में जांघ तथा पैरों के स्नायु उत्तम तनते हैं। जांघ, पिण्डलियां तथा कमर शक्तिशाली होती है। बैठक व्यायाम से जो लाभ होता है वही लाभ इस आसन के १४-१५ आवर्तन करने से भी होता है। पूरक एवं रेचक पूर्वक आसन करने के कारण फेफड़े तथा हृदय बलवान होता है तथा छाती चौड़ी होती है।

५— इस आसन के दूसरे तथा चौथे प्रकार में घुटनों के बगल में अधिक फैलने के कारण श्रोणि प्रदेश पर अपेक्षित अनुकूल प्रभाव पड़ता है जिससे मूत्र-पिण्डादि उत्सर्जक इन्द्रियां अधिक कार्यक्षम होती हैं।

६— इस आसन का लैङ्गिक इन्द्रिय पर भी अनुकल परिणाम होता है। इस आसन के कारण उसकी नसनाड़ियों को विपुल रक्त की पूर्ति होती है जिससे वे बलवान होती है। उत्कटासन के अभ्यास से हाथी पांव रोग पर अपेक्षित एवं उत्तम परिणाम होता है। इस सम्बन्ध में योगीजनों का अनुभव है कि जिसका रोग बड़ा नहीं है वह यदि अन्य विविध आसनों के साथ उत्कटासन तथा गरूडासन का अभ्यास कम से कम ८ से १० मिनिट तक एक वर्ष भर करता है तो उसे आशातीत लाभ होता है।

सर्वाङ्गासन

सर्वाङ्ग अर्थात् सम्पूर्ण शरीर के समस्त अंगों का व्यायाम जिस आसन से होता है वह सर्वाङ्गासन कहलाता है। योगीजन इसे आसनों का सम्राट मानते हैं। इसका कारण यह है कि इस आसन का नित्य एवं नियम पूर्वक अभ्यास करने से अनेक रोग होने का भय समाप्त हो जाता है। जिससे जीवन आरोग्य सम्पन्न होकर सुख पूर्वक व्यतीत होता है। अकालजनित बुढ़ापा नहीं आ पाता है और यौवनावस्था की स्थिति सुदीर्घकाल तक बनी रहती है। इस आसन के अभ्यास से-महिलाओं की कुछ विशेष व्याधियाँ दूर होती हैं। अतः इनके लिए भी यह आसन उपयोगी है।

आसन करने की विधि

सर्व प्रथम भूमि पर एक मोटा कम्बल बिछाकर उस पर चित होकर पीठ के बल सीधे लेटना चाहिये। पैर एक रेखा में सीधे रखे हों, दोनों हाथ भूमि पर शरीर के समानान्तर नितम्ब से सटे हुए हों तथा हथेलियाँ भूमि पर हों। सम्पूर्ण शरीर शिथिल छोड़कर दीर्घ श्वसन किया जाय और धीरे-धीरे श्वास बाहर छोड़ी जाय। घुटने सीधे

रखकर पैर धीरे धीरे ऊपर उठायें तथा जमीन से ४५ अंश का कोण बनाया जाय। इस स्थिति में कुछ सेंकड स्थिर रहने के पश्चात् पैर और ऊपर उठाकर ९० अंश के कोण पर स्थिर रखा जाय। इस स्थिति में पुनः कुछ सेकेण्ड स्थिर रहें। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जायगा वैसे-वैसे उपर्युक्त स्थिति में स्थिर रहने का समय बढ़ाते जाएँ। प्रारम्भ में घुटनों के पिछले स्नायुबंधों पर विशेष तनाव का अनुभव होगा। किन्तु धीरे-धीरे वह कम होकर पश्चात् बिलकुल भी प्रतीत नहीं होगा। अब धीरे-धीरे कमर तथा पीठ जमीन से ऊपर उठाकर तथा कमर को हाथों का आधार देकर कोहिनी,

सर्वाङ्गासन

गर्दन का पिछला भाग तथा कंधों के आधार पर सम्पूर्ण शरीर स्थिर रखा जाय। सम्पूर्ण सिर गर्दन से समकोण करता हुआ स्थिर रहना चाहिए। ठुड्डी गले के गढ्ढे के पास रहनी चाहिए। इसे जालंधर बंध कहते हैं। सर्वाङ्गासन प्रारंभ में ३० सेकेण्ड तक करना चाहिये। पश्चात् धीरे-धीरे समय बढ़ाया जाय। अन्य आसनों के साथ सर्वाङ्गासन करना हो तो वह ६ मिनिट तक किया जाय, परन्तु केवल सर्वाङ्गासन करना हो तो अधिक से अधिक २४ मिनिट तक किया जा सकता है। सर्वाङ्गासन से पूर्वस्थिति में आते समय प्रथम पैर पीछे की ओर सिर की दिशा में ले जाना चाहिए, पश्चात् पैर शरीर की सीध में जमीन पर धीरे-धीरे टिकाना चाहिए। पश्चात् पुनः शरीर शिथिल

करना चाहिए। सर्वाङ्गासन के कारण जो अस्थायी प्रतिक्रिया शरीर में पैदा होती है उसे मिटाने के लिये तीन चार बार दीर्घ श्वसन करना चाहिये।

लाभ

इस आसन का अभ्यास करने से उदर के समस्त विकार दूर होते हैं, अग्निमांद्य दूर होता है जिससे भूख खुल कर लगती है। कमर एवं शरीर के अधो भाग में स्थित वात विकार दूर होते हैं।

सर्वाङ्गासन से रक्त शुद्ध होता है तथा जीवन शक्ति का विकास होता है। शीर्षासन के समान ही इस आसन में भी सिर नीचे और पैर ऊपर होने के कारण अशुद्ध रक्त गुरुत्वाकर्षण की सहायता से हृदय के दाहिने हिस्से में द्रुतगति से पहुंच कर फेफड़ों के द्वारा उसकी तुरन्त शुद्धि होती है तथा हृदय के दाएं हिस्से में शुद्ध रक्त पहुंचने लगता है। वहां से शुद्ध रक्त महारोहिणी तथा उसकी शाखा-उपशाखाओं के द्वारा समस्त इन्द्रियों तक विपुल मात्रा में पहुंचाया जाता है। इस प्रकार द्रुतगति से रक्त शुद्धि की क्रिया होने के कारण यकृत तथा आँतों के अधिकांश रोग दूर होते हैं। इसके साथ ही अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा गलग्रंथियों का अशुद्ध रक्त संचय दूर होकर वे अधिक कार्यक्षम होती हैं।

इस रक्त शुद्धि करण का महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि हृदय की क्रिया प्राकृत होती है, वह स्वस्थ एवं क्रियाशील बनता है। फेफड़े विकार रहित होकर स्वस्थ होते हैं।

हलासन

इस आसन में शरीर की आकृति हल की तरह हो जाती है, अतः इसे हलासन कहते हैं।

विधि— भूमि पर मोटा कम्बल बिछाकर, पीठ के बल लेट जाइये। दोनों हाथ सीधे शरीर से सटे हुए व भूमि से चिपका कर रखें। पैरों को सीधा तथा घुटनों को
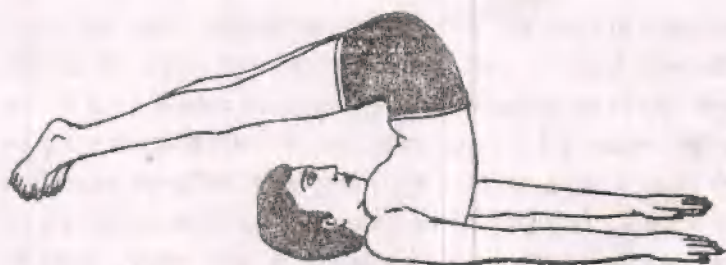
हलासन

साथ मिलाकर हथेलियों से भूमि को दबाते हुए दोनों पैरों को धीरे-धीरे ४५ अंश ऊपर उठाया जाय। इस अवस्था में ४-५ सेकण्ड तक रहने के बाद पैरों को सिर के ऊपर ९० अंश का कोण बनाते हुए पीछे की ओर जाकर इतना झुकाया जाय कि पैर की अंगुलियाँ व अंगूठे भूमि से लग जायें। यह पूर्ण हलासन की स्थिति है जिसमें १८० अंश का कोण बनता है, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। ध्यान रहे घुटने मुड़ने न पायें। दोनों पैर सीधे व कड़े रहें ठोड़ी छाती से लगी रहे, हाथ भूमि से सटे रहें। जब पैर ९० अंश ऊपर उठे होते हैं तब वह अर्ध हलासन की स्थिति होती है।

श्वास स्थिति - पैरों को सिर की ओर उठाने के लिये उठाने से पहले रेचक किया जाय और तब तक श्वास अन्दर नहीं ली जाय जब तक दोनों पैरों की अंगुलियाँ व अंगूठे जमीन से न लग जायें। इसके बाद साधारण रूप से श्वास लिया जाय। इस स्थिति में आधा मिनिट रुका जाय। प्रत्येक आसन (हलासन) करने के बाद इतनी ही देर शवासन की स्थिति में आराम किया जाय।

लाभ---सम्पूर्ण मेरुदण्ड, पीठ की मांसपेशियां, हाथ पैर तथा गर्दन का उत्तम व्यायाम होता है। मेरुदण्ड लचीला एवं शक्तिशाली होता है। वात प्रकोप के कारण मेरुदण्ड में होने वाले विभिन्न वात रोग एवं शूल आदि नष्ट होते हैं। मस्तिष्क में ताजगी आती है। पाचन शक्ति बढ़ती है तथा विबन्ध दूर होता है।

पश्चिमोत्तानासन

इस आसन में शरीर का पृष्ट भाग उत्तान स्थिति में होता है अर्थात् रीढ़ और उससे संलग्न हड्डियां ऊपर उठकर सामने की ओर झुकाई जाती हैं जिससे पृष्ट भाग के समस्त स्नायुओं पर तनाव पड़ता है, अतः इसे पश्चिमोत्तानासन कहते हैं।

आसन करने की विधि

प्रथम भूमि पर पैर आगे की ओर फैलाकर बैठा जाय। पश्चात् पैर की एडियां तथा अंगूठे परस्पर सटे हुए हों, पीठ की रीढ़ व गर्दन सीधी रेखा में हो, दृष्टि सामने हो दोनों हथेलियाँ जांघों के समीप भूमि पर हों।

पश्चिमोत्तानासन

द्वितीय स्थिति—दोनों हाथ कंधे से ऊपर की ओर ताने जावें, भुजायें कान से लगी हुई हों, पश्चात् धड़ को आगे की ओर झुकाते हुए दोनों हाथ की अंगुलियों से पैर के अंगूठों को पकड़ा जाय। पेट को पीठ की ओर अन्दर दबाते हुए ललाट को झुकाकर दोनों घुटनों से स्पर्श कराने का प्रयत्न किया जाय। ध्यान रहे कि दोनों घुटनों से ललाट का स्पर्श कराने हेतु घुटने ऊपर नहीं उठने चाहिये अपितु तने हुए हों। इसमें स्नायुओं का तनाव महत्वपूर्ण है। इस आसन में यह स्थिति महत्वपूर्ण है।

तृतीय स्थिति—इसके पश्चात् कटि, त्रिकास्थि प्रदेश, कमर एवं उससे ऊर्ध्व भाग सम्पूर्ण पृष्टवंश को पैरों की ओर इतना झुकाया जाय कि सिर के ललाट भाग से दोनों घुटनों का स्पर्श हो। इससे धड़ का हिस्सा सामने होकर जांघों के ऊपर आ जायगा। दीर्घश्वास छोड़कर पेट अन्दर दबा कर ललाट को घुटनों पर लगाया जाय। घुटने तने हुए हों, धड़ सामने झुकाने से कंधे तथा पैर के अंगूठे का अन्तर कम होगा जिससे कोहिनियां मुड़ेंगी और नीचे भूमि का स्पर्श करेंगी। अतः कोहिनियों को भूमि पर पिण्डलियों के समीप लगाया जाय। यह आसन की पूर्ण स्थिति है। इस स्थिति में कुछ सेकण्ड तक रहा जाय।

पुनः पूर्व स्थिति में आने के लिए सिर ऊपर उठाया जाय, हाथ की अंगुलियों को खोलते हुए धड़ ऊपर उठाया जाय। दोनों हाथ ऊपर उठाकर कान के पास लाए जावें। पीठ की रीढ़ एवं गर्दन सीधी रख कर हथेलियों को जांघों के समीप भूमि पर रखा जाय। इस प्रकार यह पश्चिमोत्तानासन का एक आवर्तन होता है। आसन की पूर्ण स्थिति तथा बाद में उल्टे क्रम से पूर्व स्थिति दोनों मिलाकर आसन का एक आवर्तन पूर्ण होता है। इस प्रकार पश्चिमोत्तानासन के तीन से छह आवर्तन किए जा सकते हैं। इस आसन के लिए अधिक से अधिक तीन मिनिट देना पर्याप्त होगा।

इस आसन का उत्तम अभ्यास होने पर पूरक, कुंभक तथा रेचक के साथ आसन किया जाय, इससे विशेष लाभ होगा। जमीन से ऊपर कान के समीप हाथ लाते समय पूरक, हाथ की उंगलियों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़ने तक कुंभक तथा पश्चात् श्वास छोड़ना आवश्यक मालूम हुआ तो रेचक किया जाय तथा पेट भीतर खींचकर मस्तक घुटनों से लगाया जाय और हाथ की कोहनियां जमीन से लगाई जांय। उलट क्रम से प्रथम मस्तक ऊपर उठाकर हाथों की उंगलियाँ खुली करें। फिर हाथ ऊपर ले जाते समय पूरक, कान के समीप हाथ लाते समय कुंभक तथा जांघों के दोनों ओर हाथ लाकर हथेलिया जमीन पर रखते समय रेचक करना चाहिये।

योगासनों का मुख्य उद्देश्य शारिरिक मांसपेशियों व स्नायुओं मे खिचाव द्वारा लचीलापन लाना है जो इस आसन से पूर्ण होता है। इस आसन से मेरुदण्ड के समस्त विकार जैसे पीठ दर्द, उदर रोग, यकृत्‌रोग व श्वासरोग दूर होकर मोटापा कम होता है। स्त्रियों की सभी बीमारियां विशेषतः गर्भाशय की विकृति से होने वाले विभिन्न रोग एवं प्रदर रोग नष्ट होता। मधुमेह, आमवात व गठिया में भी इस आसन का अभ्यास लाभकारी है।

मत्स्यासन

मत्स्य का शब्दार्थ है मछली। इस आसन की स्थिति में मनुष्य मछली की तरह बिना हिले-डुले जल में बहुत समय तक तैरता रह सकता है। अतः इसे मत्स्यासन कहते हैं। जल पर तैरते रहने के लिये इस आसन के साथ प्लाविनी प्राणायाम करना आवश्यक है।

मत्स्यासन

विधि – भूमि पर कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जायें। लेटे-लेटे पद्मासन लगाया जाय।

सर्वप्रथम पद्मासन की स्थिति में बैठा जाय अर्थात् बायें पैर को दाहिनी जंघा पर तथा दाहिने पैर को बाईं जंघा पर रखा जाय। दोनों घुटने भूमि का स्पर्श करते रहें। हथेलियों को थोड़ा पीछे रखकर कोहनी को मोड़कर उस पर शरीर का भार देते हुए धीरे-धीरे पीठ के बल लेट जायें। सिर को नीचे की ओर झुकाते हुए भूमि से लगाया जाय तथा गर्दन एवं मेरुदण्ड को पकड़ा जाय, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। इस स्थिति में घुटने नितम्ब एवं सिर भूमि का स्पर्श करते रहेंगे। शेष गर्दन एवं पीठ भूमि से ऊपर रहेगी।

श्वास स्थिति—सामान्यतः स्वाभाविक रूप से श्वास लेना चाहिये। किन्तु यदि जल में यह आसन लगाना हो तो पूर्ण पूरक कर यथासाध्य कुम्भक की स्थिति में यह आसन लगाया जाय।

लाभ – इस आसन का अभ्यास करने से मुख मण्डल एवं मेरूदण्ड पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मुख पर तेज आता है। मेरूदण्ड लचीला व शक्तिशाली होता है। मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है। अजीर्ण, पाण्डु एवं विबन्ध दूर होता है। इस आसन में चूंकि गहरा श्वास प्रश्वास करना होता है, अतः दमा, राजयक्ष्मा, पुरानी खांसी आदि रोग इस आसन से अच्छे होते हैं, क्योंकि यह आसन करने से प्राण वायु का संचार फेफड़ों की जड़ तक होता है। सर्वाङ्गासन करने के बाद इस आसन का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि सर्वाङ्गासन में गर्दन आगे और मत्स्यासन में पीछे झुकाई जाती है।

एक प्रकार से यह आसन सर्वाङ्गासन का पूरक है। शरीर के जिन अङ्गोपाङ्गों का समुचित व्यायाम सर्वाङ्गासन में नहीं हो पाता है, इस आसन में उनका समुचित

व्यायाम हो जाता है। सर्वाङ्गासन में मुख्यतः गर्दन की कशेरुकाओं एवं स्नायुओं का तनाव होता है, क्योंकि ठोड़ी को गले के नीचे वक्ष के गड्ढे में लगाना पड़ता है। मत्स्यासन में इसके विपरीत गर्दन की कशेरुकाओं एवं स्नायुओं पर तनाव नहीं पड़ता है, वे शिथिल रहते हैं। इसमें वक्ष उन्नत होता है।

चक्रासन

इस आसन में शरीर का आकार चक्र की भांति हो जाता है अतः इसे चक्रासन कहते हैं।
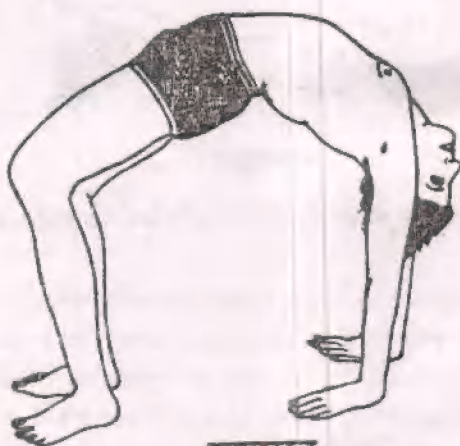
चक्रासन

प्रथम विधि—सीधे खड़े होकर दोनों पैरों के बीच एक फुट का अन्तर रखा जाय। दोनों हाथ कानों से सटाकर ऊपर उठाये जावें पश्चात् दोनों हाथ व शरीर का उर्ध्व भाग (धड़) धीरे-धीरे पीछे की ओर नीचे झुकाया जाय। जब तक कि हाथ की हथेलियाँ भूमि का स्पर्श न कर लें प्रयत्न यह किया जाय कि हाथ धीरे-धीरे खिसका कर पैर की एड़ियो के समीप लाया जाय और अंगुलियों से एड़ियों को छूने का प्रयत्न किया जाय। इस स्थिति में शरीर की स्थिति चक्राकार हो जाती है। जैसा कि चित्र में दर्शित है।

द्वितीय विधि—भूमि पर पीठ के बल लेट जाये, पैर मोड़कर उसके तलवे भूमि से लगायें तथा हाथ को कोहनियों से मोड़कर सिर के अगल बगल भूमि से लगाया जाय। अब हाथ के पंजे व पैरों के तलवों पर जोर देते हुए सिर, गर्दन और कमर को ऊपर उठाया जाय तथा पैर की एड़ी व हाथ की अंगुलियों को धीरे-धीरे पास लाकर शरीर को घुमाव देकर चक्रासन की स्थिति में लाया जाय।

श्वास स्थिति—पूरक कर कुम्भक की स्थिति में यह आसन करना उपयोगी एवं लाभप्रद होता है। यथासाध्य कुम्भक करते हुए ५ से १० सेकेण्ड तक इस स्थिति में रहने के बाद धीरे धीरे रेचक करते हुए पूर्वावस्था में आये।

लाभ– पेट व कमर के समस्त अंगों को इससे लाभ होता है। छाती चौड़ी और कमर पतली व लचकदार होती है। बाहुओं की मांसपेशियाँ मजबूत होती हैं। जाँघ, पिण्डलियां व घुटने पुष्ट होते हैं। पेट की चर्बी घटती है। यह आसन शारीरिक लम्बाई को बढ़ाने में भी सहायक है।

भुजंगासन

इस आसन में सिर व वक्ष प्रदेश उन्नत होने से आसन कर्त्ता की आकृति फन उठाए हुए सर्प की भाँति हो जाती है, अतः इसे सर्पासन या भुजंगासन कहते हैं।
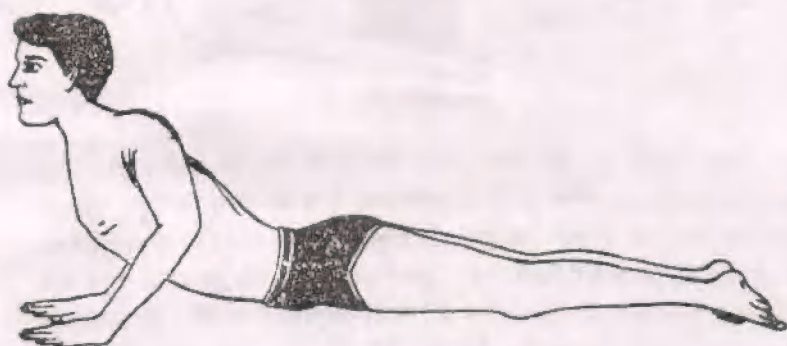
भुजंगासन

विधि – प्रथम भूमि पर पेट के बल लेट जायें, दोनों हाथों की हथेली को पृथ्वी पर इस प्रकार जमायें कि वो कंधों के किनारे ठीक नीचे रहें व अंगुलियाँ आपस में मिली रहें। दोनों कुहनियां मुड़ी हुई व शरीर के मध्य भाग को स्पर्श करती रहना चाहिए। हथेली व कोहनियों को दबाव देते हुए क्रम से सिर, गर्दन, छाती व पेट को धीरे-धीरे भूमि से उठाना चाहिए। दृष्टि सामने रखी जाय। इस प्रकार शरीर साँप के फन के समान तना हुआ एवं खड़ा रहता है। रीढ़ पीछे की तरफ कुछ मुड़ी रहती है जिससे शरीर की स्थिति किंचित् धनुषाकार के समान बनती है। शरीर का नाभि से नीचे तक का भाग भूमि को किंचित् स्पर्श करता हुआ रहता है।

श्वास स्थिति भूमि पर लेट कर पूरक किया जाय। पूर्ण आसन की स्थिति में यथासाध्य कुम्भक किया जाय फिर रेचक करते हुए धीरे-धीरे पेट के बल लेटा जाय।

लाभ यह आसन स्त्री और पुरुषों दोनों के लिए लाभकारी है। इससे गर्दन, कंधे, छाती, कमर आदि अत्यधिक क्रियाशील होते हैं जिससे पीठ एवं कमर का दर्द दूर होता है। मन्दाग्नि एवं कोष्ठबद्धता दूर होती है। स्त्रियों में जननेंद्रियां एवं गर्भाशय को पुष्ट करने के लिये यह आसन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे कष्टार्तव, प्रदर आदि रोग दूर होते हैं। इससे सन्तान उत्पत्ति सहज, स्वाभाविक व नियमित रूप से होती है और प्रसव पीड़ा भी अधिक नहीं होती है। गर्भावस्था में इस आसन का अभ्यास निषिद्ध है।

शलभासन

शलभासन में शरीर की स्थिति शलभ के समान हो जाती है, अतः यह शलभासन कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है--(१) अर्ध शलभासन और (२) शलभासन। इनमें प्रथम अर्ध शलभासन अपेक्षाकृत सरल है।
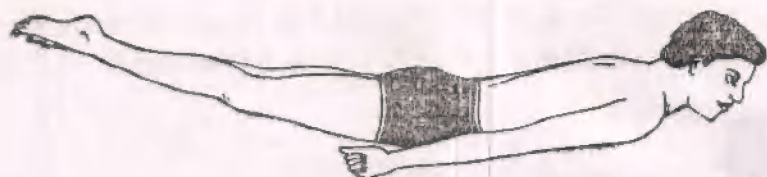
शलभासन

विधि—प्रथम भूमि पर कपड़ा बिछा कर पेट के बल लेट जाय। दोनों हाथ शरीर के समानान्तर हों। दोनों हाथों की हथेली को भूमि की तरफ रखते हुए शरीर से सटाकर रखा जाय, पैर के अंगूठे सटे हुए और तलुवे ऊपर की ओर हों। ठोडी भूमि पर टिकी हुई और सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो। हाथों का सहारा लेते हुए बिना घुटने मोड़े पैर को धीरे-धीरे इतना ऊपर उठाया जाय जितना उसे उठाया जा सके। कुछ समय तक इस स्थिति में रहने के बाद एक पैर धीरे-धीरे नीचे लाया जाय फिर दूसरे पैर से भी यही क्रिया की जाय। इस प्रकार बारी बारी से यह क्रिया चार-पांच बार की जाय। श्वास प्रश्वास सामान्य रहे। आसन का उत्तम अभ्यास होने पर आसन की पूर्ण स्थिति में कुम्भक करने (श्वास रोकने) का प्रयास किया जाय।

अर्धशलभासन की भांति ठोडी जमीन पर टिकी हो, हाथ शरीर के समानान्तर हों, पैर सीधे एवं फैले हुए हों। अब दोनों पैरों को धीरे-धीरे इतना ऊपर उठाया जाय जितना उठाया जा सके। फिर सिर, गर्दन, छाती एवं पेट को भी तानते हुए ऊपर उठाया जाय। नाभि प्रदेश एवं हाथ भूमि पर टिके रहें। इस प्रकार शरीर का पूर्व भाग (वक्ष, गर्दन एवं सिर) तथा पश्चात् भाग (दोनों पैर) ऊपर उठने से शरीर पूर्णतः नाभि प्रदेश पर सध जायगा। यह शलभासन की पूर्ण स्थिति है। इसके पश्चात् शरीर के दोनों (पूर्व एवं पश्चात्) भाग धीरे-धीरे भूमि पर लाए जायें एवं शरीर को शिथिल छोड़ दिया जाय। श्वास प्रश्वास की गति सामान्य होने पर पुनः अभ्यास किया जाय। इस प्रकार सुविधानुसार तीन बार यह अभ्यास करना चाहिए।

श्वास स्थिति —आसन से पूर्व धीरे-धीरे पूरक और रेचक करना चाहिये। आसन की पूर्ण स्थिति में कुम्भक करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करना चाहिये।

लाभ – इस आसन से गर्दन, छाती, पेट, जांघ एवं पैर के स्नायु व मांस पेशियों में खिचाव होता है, जिससे इन अंगों के समस्त विकार दूर होते हैं। पेट पर दबाव पड़ने से मलावरोध दूर हो जाता है, पाचन शक्ति तीव्र होती है जिससे मधुमेह में भी लाभ होता है।

धनुरासन

इस आसन में शरीर का आकार धनुष के समान हो जाता है इसलिए इसे धनुरासन कहते हैं। धनुरासन में भुजंगासन तथा शलभासन दोनों का संयोग रहता है। अतः भुजंगासन और शलभासन दोनों के लाभ धनुरासन करने से मिलते हैं, किन्तु दोनों आसन अलग-अलग करने से जो लाभ होता है वह केवल एक धनुरासन करने से नहीं होता।

धनुरासन

विधि—पेट के बल पर लेट जायं और हाथ शरीर के समानान्तर रखें। हथेलियां ऊर्ध्वमुखी रखें, ठोडी जमीन से लगी हो, दोनों घुटने तथा पैरों के अंगूठे परस्पर सटे हुए हों, सारा शरीर ढीला छोड़कर दो तीन बार दीर्घश्वसन करना चाहिये। पश्चात् घुटनों में टांग मोड़कर एडियां नितम्ब पर रखना चाहिये। दोनों हाथों से दोनों पैरों की उंगलियां पकड़ी जायं तथा छाती एवं सिर तथा घुटने एवं टांगें एक साथ ऊपर उठाई जायं। इससे नाभि एवं उदर प्रदेश पर उत्तम दबाव पड़कर धनुषाकार स्थिति निर्मित होगी। उदर एवं वक्ष (सीना) धनुष का बाह्य भाग होगा तथा पृष्ठवंश अन्तर्भाग होगा। इस स्थिति में प्रथम पांच सात सेकण्ड तक रहा जाय और अभ्यास बढ़ने पर १५ से २० सेकण्ड तक रहा जाय। पश्चात् पूर्व स्थिति में आकर अल्प विश्राम किया जाय। यह आसन तीन से छह बार करें। श्वास सामान्य गति से चालू रखें। आसन का उत्तम अभ्यास हो जाने पर आसन प्रारम्भ करने के पूर्व प्रथम रेचक, पश्चात् पूरक कर कुम्भक में १५-२० सेकण्ड तक आसन करें। पूर्व स्थिति में आकर रेचक करें तथा अल्पकाल तक विश्राम कर दुबारा आसन करें।

उपर्युक्त विधि के अनुसार चार से छह बार आसन किया जाय। इस आसन में घुटने तथा कंधे एक सीधी रेखा में होते हैं और दबाव सम मात्रा में पड़ता है। अतः किसी एक सन्धि पर तनाव नहीं पड़ता। नाभि प्रदेश पर सारा भार डालकर आगे पीछे तथा दाएं-बाएं झूलने का अभ्यास किया जाय तो पेट की चरबी कम होती है और उदर का स्थौल्य घटता है।

द्वितीय विधि —जो नवसिखिए हैं उन्हें निम्नलिखित विधि से आसन करना चाहिए। आसन करने के पूर्व पेट के बल लेट कर दोनों पैरों के घुटने एक दूसरे से कुछ दूर रखे जावें तथा घुटनों में पैरों को मोड़कर एड़ियों को नितम्ब पर रखा जाय। पश्चात् दोनों हथेलियों से पैरों की उंगलियाँ पकड़कर वक्ष, गर्दन, घुटने और पैर ऊपर उठाकर झुकाए जावें। घुटनों और पैरों में पर्याप्त अन्तर रहने से अधिक सुगमता से कमान बनती है। इसलिए नवसिखियों को पहले दूसरी विधि से आसन करना चाहिए। इस विधि से आसन का अभ्यास हो जाने पर प्रथम विधि के अनुसार पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ आसन करने का अभ्यास करना चाहिये। यह विधि कठिन प्रतीत हो तो निम्न लिखित विधि का अनुसरण किया जाय।

तीसरी विधि--प्रथम पेट के बल लेट जाएं। फिर दाहिना पैर घुटने में मोड़कर बाईं हथेली से उस पैर की उंगलियाँ पकड़कर ऊपर उठाए तथा दाहिना हाथ एवं बायाँ पैर तना हुआ हो। सिर, वक्ष, दाहिना घुटना और पैर ऊपर उठाकर झुकाएं। पूर्व स्थिति में आकर बाएं पैर से भी यही क्रिया की जाय। इस प्रकार दाहिने और बाएं पैर से क्रमशः तीन से छः बार यह क्रिया की जाय। अर्धशलाभासन के समान यह अर्ध-धनुरासन होगा। इसका उत्तम अभ्यास हो जाने पर दूसरी विधि तथा उसके बाद पहिली विधि का अभ्यास किया जाय। यदि निरन्तर, दृढ़तापूर्वक लगन से यह आसन किया जाय तो कोई भी उसे सुगमता से सीख सकता है।

श्वास स्थिति—आसन करने से पूर्व पूर्ण पूरक किया जाय, पश्चात् कुम्भक की अवस्था में यथासाध्य १५ से २० सैकेण्ड तक कुम्भक करते हुए धनुरासन किया जाय। फिर धीरे-धीरे रेचक करते हुए भूमि पर पेट के बल लेट जावें।

लाभ—इस आसन से मेरुदण्ड एवं समस्त सन्धियां पुष्ट होती हैं। पाचन क्रिया नियमित एवं तीव्र होती है। कुम्भक प्राणायाम के द्वारा वक्षस्थल चौड़ा होता है। पेट एवं नितम्ब में संचित स्थौल्य (चर्बी) घटता है। शरीर सदृढ़ एवं सुडौल होता है। स्त्रियों के लिए यह आसन अत्यन्त लाभदायक है।

इस आसन की विशेषता

भुजंगासन में गर्दन की कशेरुकाओं से त्रिकास्थि तक जो आकुञ्चन एवं प्रसारण की क्रिया प्रत्येक आसन के साथ होती है वह शलभासन में नहीं होती। उस क्रिया के कारण पीठ की रीढ को जितना लाभ भुजंगासन में मिलता है उतना शलभासन में नहीं मिलता। भुजंगासन या शलभासन में उदर के ऋजुः स्नायु (रेक्टाय) तथा अन्य स्नायु जितने तनते हैं उनकी अपेक्षा धनुरासन में अधिक उत्तम रीति से तनते हैं तथा इन तीनों स्थितियों का उपर्युक्त स्नायुओं पर उत्तम परिणाम होता है। उदर के ऋजुः स्नायुओं (रेक्टाय) तथा स्नायुओं के तीव्र तनाव के कारण सन्धि स्थलों का भी उत्तम तनाव होता है।

मयूरासन

इस आसन में मनुष्य की स्थिति मयूर (मोर) के समान हो जाती है। इस लिए इसे मयूर आसन कहा जाता है। इस आसन में शरीर का भार दोनों हथेलियों एवं कोहनियों पर रहता है और शरीर लम्बाकार मे भूमि के ऊपर समानान्तर होता है। स्थूल काय व्यक्तियों के लिए इस आसन का अभ्यास करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु लगातार अभ्यास से इन किया जा सकता है। कृशकाय व्यक्ति इसे सुगमता से कर सकते हैं, किन्तु उनके स्नायु सबल हों और उनमें भार वहन करने की क्षमता हो। दुर्बल व्यक्ति जो शरीर का भार भी सहन नहीं कर सकते उनके लिए यह दुःसाध्य है।

मयूरासन

विधि—प्रथम एड़ियों के बल भूमि पर बैठ जायें फिर दोनों घुटने आगे झुकाकर भूमि पर टिकायें तथा दोनों हाथ भूमि पर इस तरह से रखें कि दोनों पंजे मिले हुए पीछे की ओर रहें। घुटनों की ओर अंगुलियाँ करके घुटनों से हथेलियाँ एक हाथ अन्तर पर भूमि पर रखें। दोनों कोहनियों को मिलाकर नाभि के पास लगाया जाय तथा आगे की ओर झुकते हुए दोनों पैरों को मिलाते हुए पीछे की ओर ताना जाय एवं छाती तथा सिर पर जोर डालते हुए पैरों को शनैः शनैः भूमि से ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाय। इससे उदर पर दबाव पड़ेगा और सम्पूर्ण शरीर का भार कोहनियों पर आ पडेगा। जब पैर कोहनियों के बराबर आ जाएं तब सिर और छाती को सीधा किया जाय अर्थात् सम्पूर्ण शरीर हाथों की कोहनियों पर साध कर स्थिर रखा जाय। शरीर भूमि के समानान्तर हो, दृष्टि सामने रहे। कई बार शरीर का भार न सम्भलने के कारण मुंह को चोट लग सकती हैं, अतः सावधानी अपेक्षित है। इसके लिए ठोड़ी के नीचे नरम तकिया रखा जा सकता है।

श्वास स्थिति—पूरक कर कुम्भक की स्थिति में यह आसन किया जाय।

लाभ इस आसन के थोड़े से अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होकर पाचन शक्ति बढ़ती है। यकृत, प्लीहा एवं वायु विकार नष्ट होते हैं, गुल्म एवं विभिन्न उदर रोगों में लाभ होता है। अग्न्याशय एवं आमाशय पर दबाव पड़ने से मधुमेह रोग ठीक होता है। बाहुएं बलवान एवं सुगठित होती हैं। पूरे शरीर में शक्ति का संचार होता है तथा कुंडलिनी शक्ति जागृत होती है।

नाभि आसन या दोलासन

पेट के आसनों में इस आसन का प्रमुख स्थान है। उदर विशेषत: नाभि प्रदेश ही इस आसान का आधार है, इसलिए इसे नाभि-आसन कहते हैं। इसमें शरीर की आकृति नौकाकार हो जाती है।
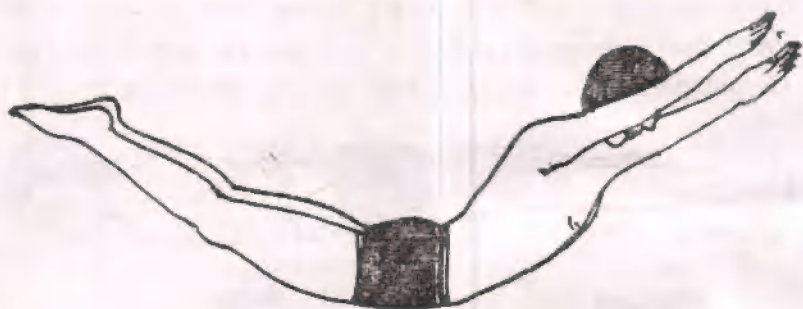
नाभि-आसन या दोलासन

विधि—प्रथम भूमि पर पेट के बल लेट जायें, हाथों को सिर के आगे सीधा फैला कर दोनों पैर तथा दोनों हाथ आपस में एक सीध में समानान्तर रखे जायें। दोनों पैरों व भुजाओं को एक साथ तानकर भूमि से धीरे-धीरे जितना ऊपर उठाया जा सके उतना उठाया जाय। ऐसा करने से उदर, नाभि के आस पास के भागों को छोड़कर शरीर का पूर्ण भाग दोनों ओर ऊपर उठ जाएगा और शरीर का सम्पूर्ण भार उदर प्रदेश पर रहगा। इस आसन में शरीर की स्थिति बिना रज्जु वाले धनुष या नाव के समान हो जाती है। अपनी शक्ति के अनुसार जितनी देर इस मुद्रा में रह सकें रहा जाय।

श्वास स्थिति—उदर के बल लेटकर पूरक क्रिया एवं कुम्भक करते हुए दोलासन किया जाय, फिर धीरे-धीरे रेचक करते हुए पूर्ण अवस्था में आ जायें।

लाभ—उदर गुहा के आन्तरिक अवयव यथा—यकृत, प्लीहा, आन्त्र आदि के समस्त रोगों में इस आसन से अत्यधिक लाभ होता है। मेरुदण्ड लचकदार एवं शक्तिशाली बनता है। पीठ, कमर एवं गर्दन की वेदना ठीक होती है। फेफड़े व हृदय पुष्ट होते हैं। उदर का स्थौल्य कम होता है।

शवासन

शव का अर्थ है मुर्दा। इस आसन में शरीर मुर्दे के समान रहता है, अतः इसे शव आसन या मृतासन कहते हैं। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उत्तम आसन है। सामान्यतः प्रत्येक आसन के बाद शरीर के थके हुए अंगों को विश्राम देने के लिए यह आसन किया जाता है।

शवासन

विधि—भूमि पर कम्बल बिछाकर पीठ के बल लेट जायें। हाथ व पैरों को शरीर की सीध में लम्बाकार रूप से पूरा फैलाकर पैर के पंजों से लेकर, ढीला छोडते हुए सिर से पैर तक शरीर के समस्त अंगों को शिथिल छोड़ दिया जाय। ऐसा समझना चाहिए कि आपका शरीर मृत की भांति एवं चेतना शून्य हो गया है। इस स्थिति में २ मिनिट से लेकर १० मिनिट तक रहा जाय। ध्यान रहे कि निद्रा नहीं आनी चाहिए। यह पूर्ण विश्राम की स्थिति है जिसमें शरीर को पूर्ण विश्राम मिलता है।

श्वास स्थिति—इस आसन में धीमे श्वास लेना चाहिए। यहां तक कि वक्ष एवं पेट में भी श्वास की गति का अनुभव न हो।

लाभ—इस आसन के अभ्यास से शरीर, मन एवं आत्मा में नवीन चेतना एवं स्फूर्ति का संचार होता है, शरीर एवं मन पर जो थकान एवं तनाव विभिन्न कारणों से होता है वह इस आसन के अभ्यास से तुरन्त दूर होता है। शरीर को सुख एवं मन को शान्ति मिलती है। शारीरिक एवं मानसिक थकान का अनुभव दूर करने के लिए यह एक सर्वोत्तम आसन है। मानसिक रोगियों एव निद्रा नाश में इस आसन का नियमित अभ्यास अत्यन्त लाभदायक है।

शीर्षासन

यह आसन शीर्ष (सिर) पर आधारित होने से यह शीर्षासन कहलाता है। अभिप्राय यह है कि इस आसन में सिर नीचे और पैर ऊपर होते हैं जिससे सम्पूर्ण शरीर का भार सिर पर होता है। प्रारम्भ में इस आसन को करने में असुविधा होती है, किन्तु अभ्यास हो जाने पर यह आसन सुगम हो जाता है।

विधि—इस आसन के लिए सर्वप्रथम चार तह किया हुआ एक कम्बल अथवा उतना ही मोटे आकार का कोई साफ वस्त्र या गलीचा आदि बिछाया जाना चाहिए।

बीचोंबीच कपड़े की एक ईडरी इतने आकार की बनाई जावे कि उस पर सिर आसानी से टिकाया जा सके। तत्पश्चात् घुटने टेक कर भूमि पर बैठा जाय। दोनों हाथों की अंगुलियां एक दूसरे में फंसा कर अपने अग्रबाहुओं को एक सुविधाजनक कोण पर इस प्रकार फैलाया जाय कि भूमि पर एक समबाहु त्रिभुज बन जाय। इसे गोलार्ध भी कहा जा सकता है अथवा इसकी स्थिति या आकार अंग्रेजी के यू (U) के अक्षर
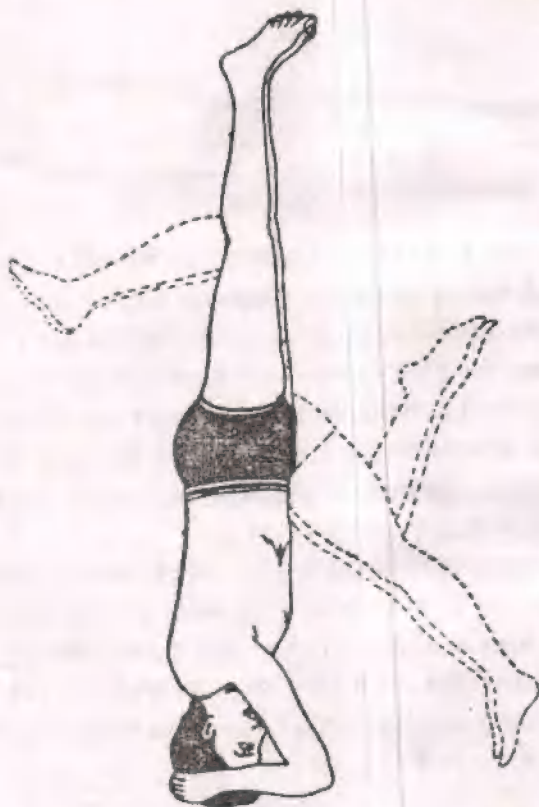
शीर्षासन

जैसा भी माना जा सकता है। कपड़े के गोलार्ध भाग में परस्पर फंसी हुई अंगुली वाले अग्रबाहु का अर्धवृत्त बनाते हुए ईडरी के बीच में सिर को रखते हुए दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए सीधा तान दिया जाय। इस प्रकार ऊपर की ओर दोनों पैर सीधे करके सम्पूर्ण शरीर का भार सिर पर हो जायगा और शरीर की स्थिति सामान्य से बिल्कुल उल्टी याने सिर नीचे और पैर ऊपर हो जायगी। इस

स्थिति में स्वयं को तनाव मुक्त रखते हुए आधा से एक मिनट तक रखना चाहिये। यदि अधिक देर तक रखा जा सकता है तो सामर्थ्यानुसार रखना चाहिये। जो व्यक्ति नए सिरे से इसका अभ्यास करते हैं उन्हें प्रारम्भ में १० सेकेण्ड तक ही इस आसन का अभ्यास करना चाहिये। तत्पश्चात् शनैः शनैः ५-५ सेकेण्ड बढ़ाते हुए अधिक समय तक अभ्यास की अवधि बढ़ाई जाय।

लाभ—यह आसन बहुत ही प्रभावशाली तथा उपयोगी है। इस आसन का नियमित अभ्यास करने से मस्तिष्कगत समस्त अवयवों एवं इन्द्रियाधिष्ठानों में रक्त संचार की अभिवृद्धि होने से उन्हें पोषण प्राप्त होता है, जिससे विभिन्न विकारों का शमन या नाश होता है। नेत्रों के लिए यह आसन परम उपयोगी बतलाया गया है। नियमित शीर्षासन करने वालों की नेत्र ज्योति बढ़ती है तथा नेत्रगत विकारों से छुटकारा मिलता है। इसके अतिरिक्त बालों का पकना और झड़ना भी शीर्षासन का अभ्यास करने से दूर हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका में शीर्षासन का अभ्यास करने से होने वाले निम्न लाभ बतलाए गए हैं—

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निर्विवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च॥

(शीर्षासन का) नित्य अभ्यास करने वाले व्यक्ति की जठराग्नि बढ़ती है। वह आहार बहुल हो जाता है। अतः साधक को भरपूर आहार लेना चाहिये।

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥

कुछ माह तक निरन्तर इसका अभ्यास करने से बालों का पकना और झड़ना दिखलाई नहीं पड़ता है। जो व्यक्ति नित्य याम पर्यन्त इसका अभ्यास करता है वह कालजित (दीर्घायु) होता है।

सभी आसनों में इसे सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना गया है। इस आसन में चूंकि सम्पूर्ण शरीर का सारा भार सिर पर होता है, अतः इसे शीर्षासन कहते हैं।

चौखम्भा ओरियन्टालिया
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
Post Box No. 2206
Bungalow Road, 9-U.B. Jawahar Nagar,
Near Kamla Nagar, Delhi-110 007 (INDIA)

Publishers :

Chaukhambha Publishers

Gokul Bhawan, K-37/109, Gopal Mandir Lane
Varanasi – 221 001 (India)

Branch :

Chaukhambha Orientalia

Post Box No. 2206

Bungalow Road, 9–U.B., Jawahar Nagar
(Near Kamla Nagar)
Delhi – 110 007 (India)

Phone : 23851617, 23858790

आयुर्वेद के चिन्तक एवं विचारक। शासकीय प्रशासनिक सेवा में रहते हुए भी आयुर्वेद के चिन्तन में परिपक्वता की प्रतीक हैं आपके द्वारा संरचित वे कृतियां जो आयुर्वेद के विद्वानों, अध्यापकों, छात्रों, शोधार्थियों एवं सामान्य जन में समान रूप से रूचि पूर्वक पढ़ी जाती हैं। आपके द्वारा रचित कृतियों में जहाँ मौलिकता की स्पष्ट छाप दिखाई देती है वहीं भाषा सम्बन्धी दुरूहता कहीं भी देखने में नहीं मिलती है। यही कारण है कि आपके द्वारा लिखित पुस्तकें अध्यापकों एवं छात्रों में विशेष रूप से लोकप्रिय हैं।

आपके वैदूष्य एवं ज्ञान गरिमा की स्पष्ट अनुभूति आपकी पुस्तकों को पढ़ने से मिलती है। वर्तमान में पुस्तक रूप में आपकी तीन कृतियाँ है–आयुर्वेद दर्शन, योग ओर आयुर्वेद तथा आयुर्वेद परिचय। प्रस्तुत चौथा संस्करण आपके हाथ में है।

पुस्तक रचना के अतिरिक्त लेखन की अन्य विधाओं का सतत प्रवाह चलता रहता हैं। इसके परिणामस्वरूप आपको समय समय पर विभिन्न पुरस्कारों से पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया हैं। भाषा विभाग, हरियाणा सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय निबन्ध प्रतियोगिता में आपको प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। गुजरात विश्वविद्यालय, जामनगर द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार के रूप में आपको स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया । हिन्दी संस्थान उत्तर प्रदेश तथा आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी, उत्तर प्रदेश द्वारा आपकी पुस्तक 'आयुर्वेद दर्शन' पुरस्कृत की गई है। देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा सम्बद्धता एवं मान्यता प्राप्त कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ इन्दौर द्वारा 1995 में आपके द्वारा लिखित 'श्रुत परम्परा में आयुर्वेद' शीर्षक आलेख को अर्हत् वचन प्रथम पुरस्कार (रू. 5000.00) से पुरस्कृत एवं सम्मानित किया गया।

आयुर्वेद के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

KAS 91

योग और आयुर्वेद

आचार्य राजकुमार जैन